नीति-शास्त्र

लेखक-
लालजीराम शुक्ल,
मनोविज्ञान अध्यापक टीचर्स
ट्रेनिङ्ग कालेज,
काशी विश्वविद्यालय

वक्तव्य

नीति शास्त्र दर्शन का एक प्रमुख अंग है। हरएक सभ्य देश में इसका अध्ययन होता रहा है। मनुष्य चाहे जैसी अवस्था में रहे, चाहे जिस देश में रहे, उसे कर्तव्याकर्तव्य का विचार आता ही है। यह विचार मनुष्य की चिन्तन की योग्यता का स्वाभाविक परिणाम है। मनुष्य के विचार का विकास भी कर्तव्याकर्तव्य के ऊपर विचार करने से सबसे अधिक होता है। अतएव नीतिशास्त्र का अध्ययन हमारे विचार के विकास का साधन भी है।

इस पुस्तक का उद्देश्य पाश्चात्य नीति शास्त्र की विचार शैली पर प्रकाश डालना है। भारतवर्ष में नीतिशास्त्र के विषयों पर पर्याप्त विचार किया गया है। इसे पुराने समय में आचार-दर्शन कहते थे। पर हमारा नीति-शास्त्र-संबंधी विचार हमारी संस्कृति का अभिन्न अंग है, अतएव यहाँ का यह विचार अपने ढंग का है। इसी प्रकार पाश्चात्य नीति-शास्त्र की विचार-परिपाटी में कुछ निरालापन है। इसे जानने के लिये हमें पाश्चात्य विद्वानों के मतों को उन्हीं के ढंग से जानना होगा। लेखक ने इन पाश्चात्य विद्वानों के मतों को भारतीय जनता के समक्ष इस प्रकार रखने की चेष्टा की है कि वे सरलता से बुद्धिगम्य हो जावें। अतएव सिद्धान्तों को समझाने के लिये उपयुक्त उदाहरण दिये गये हैं और कहीं कहीं पर पाश्चात्य सिद्धान्तों की तुलना भारतीय विचारों से कर दी गई है।

इस पुस्तक का उद्देश्य पश्चात्य विद्वानों के विचारों का संग्रह करना मात्र नहीं है। लेखक का पुस्तक लिखने का उद्देश्य अपनेआप स्वतंत्र चिन्तन करके कुछ कर्तव्यसम्बन्धी मौलिक निष्कर्षों पर आना है। हम अपने आप यदि किसी विषय को भली प्रकार ठीक से समझना चाहते हैं तो इसका सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम उसे किसी कक्षा को

कर्तव्य-सम्बन्धी विचारों को सुलझाने और स्पष्ट बनाने के लिये उन दोनों प्रकार के साधनों का उपयोग किया है। उनसे काशी विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को दस वर्ष के लगभग नीति शास्त्र का विषय पढ़ाया। पर नीतिशास्त्र के जटिल प्रश्न जैसे ही उनके मन में आते रहे वैसे ही वे उनके विद्यार्थी काम में लाते थे। इन प्रश्नों के हल करने की चेष्टा लेखक ने अब इस पुस्तक के रूप में की है।

लेखक मानव कर्तव्य के विषय में जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है वह इस पुस्तक में कई स्थलों पर प्रकट हो जाता है। मनुष्य को अपने कर्तव्य के निश्चय करने में दो प्रकार के अतिक्रमों को छोड़कर बीच का मार्ग ग्रहण करना चाहिये—ये अतिक्रम विषयोन्मुखता के और घोर तप के हैं। इन दोनों प्रकार के अतिक्रमों से दुःखों की वृद्धि होती और मनुष्य को स्थायी शान्ति नहीं मिलती। दोनों प्रकार के अतिक्रम मनुष्य की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के परिणाम हैं। जब मनुष्य अन्तर्मुखी होता है तो वह आध्यात्मिक शान्ति जिस प्रकार से सुलभ हो वही काम करता है। नैतिक जीवन का अन्तिम ध्येय मनुष्य को आध्यात्मिक शान्ति प्रदान करना है और यह तभी प्राप्त हो सकती है जब मनुष्य अपनी बहिर्मुखता को बिलकुल त्याग कर अपने जीवन का ध्येय आन्तरिक शान्ति प्राप्त करना बना लेता है।

उक्त विचार को लेकर यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसी दृष्टिकोण से नीति-शास्त्र-सम्बन्धी अन्य मत मतान्तरों की आलोचना की गई है। लेखक ने सुखवाद की आलोचना उसी प्रकार की है जिस प्रकार आदर्शवादी नीतिशास्त्र के विद्वान करते हैं, पर यदि आदर्शवाद हमें तप के अतिक्रम की ओर ले जाय तो वह भी आध्यात्मिक शान्ति प्रदान नहीं करता। अतएव लेखक आदर्शवाद का-वहीं तक समर्थन करता है जहाँतक आदर्शवाद हमें सुखवाद के दलदल से निकालता है। यदि

आदर्शवाद व्यवहारिक बनता है तो वह स्वभावतः समत्ववाद का का रूप ले लेता है।

अभीतक हिन्दी भाषा में नीतिशास्त्र पर हमारे विश्वविद्यालयों की बी० ए० की परीक्षा के विद्यार्थियों के अध्ययन योग्य ग्रन्थ का अभाव था। इस अभाव के पूर्ति के लिये यह ग्रन्थ लिखा गया है। अतएव इस ग्रन्थ में उन सभी मत-मतान्तरों का उल्लेख किया गया है जिन्हे डिगरी परीक्षा के विद्यार्थियों को जानना आवश्यक है।

इस पुस्तक को लिखते समय मैकेन्जी की "मेनुअल आफ एथिक्स", म्योर्हेड की "दी एलीमेन्ट्स आफ एथिक्स", ग्रीन की "प्रोलेगेमोना टू एथिक्स", व्हीलराइट की "ए क्रिटकल इन्ट्रोडक्शन टू एथिक्स" से विशेष प्रकार से सहायता ली गई है। हम इन महानुभावों के आभारी हैं। इस पुस्तक को अंग्रेजी में लिखने का विचार मेरे गुरु डा० शिशिरकुमार मित्रा, भूतपूर्व अध्यक्ष दर्शन विभाग, काशी विश्वविद्यालय से मिला। मैंने अग्रेजी में कुछ सामग्री भी जोड़ी थी पर इस कार्य में मुझे विशेष उत्साह नहीं आया। श्री बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन से मुझे हिन्दी में ही दार्शनिक ग्रन्थ लिखने का प्रोत्साहन मिला, अतएव मैंने मातृभाषा में अपने विचारों को अपने देश के समक्ष रखने की चेष्टा की है। मैं इन सभी महानुभावों का अपने अपने सुझाव के लिये आभारी हूँ।

मुझे आशा है कि जिस प्रकार मेरे मनोविज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों को देश के दर्शन प्रेमी विद्वानों ने अपनाया है, उसी प्रकार वे इस ग्रन्थ को भी अपनावेंगे।

टीचर्सट्रेनिंग कालेज
काशी विश्वविद्यालय
माघ शुक्ल बसंत पंचमी सं० २००५
३ फरवरी १९४६

लालजीराम शुक्ल

विषय सूची

पहला प्रकरण

दूसरा प्रकरण

तीसरा प्रकरण

चौथा प्रकरण

पांचवां प्रकरण

छठां प्रकरण

सातवां प्रकरण

आठवां प्रकरण

नवाँ प्रकरण

तेरहवां प्रकरण

चौदहवां प्रकरण

पन्द्रहवां प्रकरण

सोलहवां प्रकरण

पृष्ठ

दसवाँ प्रकरण

ग्यारहवाँ प्रकरण

बारहवाँ प्रकरण

नीति-शास्त्र

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

नीति-शास्त्र[1] का विषय

नीति शास्त्र क्या है ?—नीति शास्त्र वह शास्त्र है जिसमे मनुष्य के कर्तव्य और अकर्तव्य का विचार किया जाता है। नीति-शास्त्र नैतिकता[2] के माप-दण्ड का निर्धारण करता है। हम अपना कर्तव्य, आचरण के कुछ विशेष नियमों को मानकर निश्चित करते हैं। यह शास्त्र इन नियमों की मौलिकता की परख करता है। समाज में अनेक प्रकार के आचार-व्यवहार के नियम प्रचलित हैं। ये नियम समाज की परम्परागत रूढ़ियों[3] के द्वारा एक पीढ़ी से अन्य पीढ़ी तक जाते हैं। जब मनुष्य किसी समाज में जन्म लेता है तो वह इन आचरण के नियमों को अनायास मानने लगता है। मनुष्य समाज के नैतिक नियमों पर विचार करने के पूर्व ही अपने आचरण[4] में नैतिकता ले आता है। नैतिक आचरण करने की शक्ति मनुष्य-समाज में पहले आती है। पीछे उसमें नैतिक नियमों पर दार्शनिक विचार करने की शक्ति आती है। नीति शास्त्र यह निर्णय करता है कि समाज मे प्रचलित नैतिक नियम कहाँ तक मनुष्य के जीवन के सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त करने में सहायक हो सकते हैं। पर [illegible] का औचित्य अथवा अनौचित्य तब तक [illegible] सकता जब तक मनुष्य को उस कसौटी[5] [illegible] नियम की मौलिकता की परख की [illegible] की खोज

1. [illegible]

4. Conduct

है। समाज के साधारण लोगों को नैतिकता के अन्तिम माप दण्ड के विषय में विचार करने की फुरसत ही नहीं रहती। वे मान लेते हैं कि समाज में प्रचलित जो नैतिक नियम हैं वे ठीक हैं और उनके अनुसार आचरण करना ही उनका धर्म है। समाज के विशेष व्यक्ति ही यह सोचते हैं कि वास्तविक धर्माधर्म क्या है।

कर्तव्याकर्तव्य के विचार मनुष्य के मन में आने के लिए दो प्रकार की बातों की आवश्यकता है। पहली, मनुष्य में विचार करने की शक्ति की वृद्धि और दूसरी, विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों का संघर्ष[2]। ये दोनों प्रकार की बातें एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। जब मनुष्य में विचार करने की शक्ति होती है तभी वह विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों के गुण दोषों को समझता है। जबतक विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों का एक दूसरे से मेल और संघर्ष नहीं होता तबतक नैतिकता के माप-दण्ड की खोज की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रत्येक संस्कृति में कुछ बातें भली होती हैं और कुछ बुरी। प्रत्येक संस्कृति का मानने वाला साधारण व्यक्ति अपनी संस्कृति की सभी बातों को उत्तम मानता है और दूसरी संस्कृतियों की सभी बातों को निकृष्ट मानता है। जब एक देश दूसरे पर विजय प्राप्त कर लेता है तो स्थिति ठीक उलट जाती है। फिर, साधारणतः राजनीतिक दासता के साथ-साथ विजित देश में सांस्कृतिक दासता भी आ जाती है। विजयी लोग अपनी संस्कृति का प्रचार विजित जाति में तो करते ही हैं, स्वयं विजित जाति भी अपने-आप विजयी लोगों की संस्कृति को श्रेष्ठ मानने लगती है। ऐसी स्थिति में समाज के विचारवान् व्यक्ति समझ-बूझ से काम लेते हैं। जिन लोगों को जीवन के सर्वोच्चादर्श का ज्ञान है वे न तो अपने देश की ही रूढ़िवादिता में पड़ते हैं और न दूसरे देश का अन्धानुकरण करते हैं। वे अपनी संस्कृति की उन्हीं बातों का त्याग करते हैं, जो वास्तव में त्याज्य हैं, अर्थात् जो नैतिकता के विचारों के प्रतिकूल हैं,

1. Power of reflection 2. Conflict of cultures

के नियम निश्चित करता है। सभी भौतिक विज्ञानों की विधि एक सी ही होती है। इन भौतिक विज्ञानों की विधि के निम्नांकित पाँच अंग हैं—प्रदत्तों का इकट्ठा करना[1], उनका वर्गीकरण[2] करना, कल्पना की सृष्टि[3], प्रयोगों द्वारा कल्पना की सत्यता स्थापित करना[4], और नियम का स्थिर[5] करना। विज्ञान में साधारणतः उचितानुचित का ध्यान नहीं रहता और न उपयोगिता और अनुपयोगिता का ही ध्यान रहता है। यदि हम इस दृष्टि से देखें तो नीति-शास्त्र को विज्ञान नहीं मानेंगे। यह शास्त्र उचितानुचित के विषय में विचार करता है। वह किस प्रकार का आचरण मनुष्य करता है उसके विषय में उतना अध्ययन नहीं करता, वरन् उसे किस तरह का आचरण करना चाहिये, इस बात का अध्ययन करता है। इस भाँति नीति शास्त्र एक विशेष प्रकार का विज्ञान है। इसे नियामक (विधि-निषेधात्मक) विज्ञान[6] कह सकते हैं।

विज्ञान शब्द का वृहदर्थ किसी विशेष प्रकार के अनुभव को सम्पूर्ण रूप से अध्ययन करना है, अर्थात् इसमें सिद्धान्त[7] और दृष्टान्त[8] दोनों का समुचित सम्बन्ध दर्शाया जाता है। विज्ञान के अन्तर्गत उन्हीं विद्याओं का समावेश नहीं होता जिनका आधार निरीक्षण और प्रयोग है वरन् उन विद्याओं का भी समावेश होता है जिनका ध्येय किसी अन्तिम विचार पर पहुँचना होता है, और जिनका आधार अनुभव न होकर विश्लेषणात्मक विचार[9] होता है। यदि इस अर्थ में हम विज्ञान शब्द को लें तो नीति-शास्त्र एक विज्ञान है। नीति-शास्त्र भौतिक विज्ञान[10] के समान विज्ञान नहीं है, किन्तु यह न्याय-शास्त्र[11] और सौन्दर्य-शास्त्र[12] के समान विज्ञान है।

कितने ही लोगों का कथन है कि नीति-शास्त्र को विज्ञान इसलिये

1. Collection of data. 2. Classification. 3. Framing a hypothesis 4. Discovery of a law. 5. Verification. 6. Normative Science. 7. Principle. 8. Example. 9. Analytic thought. 10. Natural science. 11. Logic. 12. Æsthetics.

नहीं मानना चाहिये कि नीति-शास्त्र का विस्तार जीवन के विशेष पहलू का अध्ययन नहीं है, परन् सम्पूर्ण अनुभव का अध्ययन है। विज्ञान अनुभव के किसी विशेष पहलू का अध्ययन करता है। सम्पूर्ण जीवन की समस्याओं का अध्ययन करने वाला शास्त्र दर्शन-शास्त्र[1] कहलाता है। अतएव नीतिशास्त्र को विज्ञान न कह कर दर्शन ही कहना चाहिए। यह युक्ति नीति-शास्त्र के बहुत से पंडितों को मान्य है।

भारतवर्ष में "शास्त्र" शब्द विज्ञान के लिये भी आता है और दर्शन के लिए भी। शास्त्र का सामान्य अर्थ नियामक विद्या[2] है। नीति-शास्त्र इस दृष्टि से नैतिकता का नियामक है। इसमें साधारणतः हम नैतिकता के कुछ नियमों की चर्चा की आशा करते हैं। पुराने समय के नीति-शास्त्र में इस प्रकार की चर्चा रहती भी थी। पर वर्तमान समय में नीति-शास्त्र में नैतिकता के नियमों की चर्चा उतनी नहीं रहती जितनी कि नियमों के औचित्य पर विचार होता है। नीति-शास्त्र में जीवन के अन्तिम आदर्श पर विचार किया जाता है और इस आदर्श को ध्यान में रखकर आचरण के नियम बनाये जाते हैं। नीति-शास्त्र का ध्येय विभिन्न प्रकार के जीवन के आदर्शों पर विचार करना है। जीवन के अन्तिम आदर्शों को निश्चित करना यह काम दर्शन का है। दर्शन मनुष्य को सत्य का दर्शन मात्र कराता है। वह विधि-निषेधात्मक प्रश्नों में नहीं जाता। वर्तमान नीति-शास्त्र भी यही काम करता है।

नीति-शास्त्र की उपयोगिता—नीति-शास्त्र की उपयोगिता के विषय में अनेक प्रश्न उठते हैं। कितने ही लोगों का कथन है कि नीति शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के आचरण का सुधार नहीं होता अतएव इसका अध्ययन करना व्यर्थ है। नीति-शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के आचरण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नीति की बातें जानकर भी मनुष्य अनैतिक आचरण करते हैं और जिन्हें नीति शास्त्र का ज्ञान नहीं वे भी नैतिक आचरण करते हैं। आचरण करने के लिए नैतिकता पर

1. Philosophy. 2 Normative Science.

विचार करना उतना आवश्यक नहीं है जितना नैतिक आचरण के अभ्यास की आवश्यकता है। मनुष्य जो काम करता है उसमें उसी काम की शक्ति आती है। विचार करने के अभ्यास से मनुष्य में विचार करने की शक्ति बढ़ती है और आचरण करने के अभ्यास से आचरण करने की शक्ति बढ़ती है। अतएव विचार करने में कुशल व्यक्ति नैतिक आचरण में कुशल होगा, यह आवश्यक नहीं। बहुत से दर्शन के विद्वानों का आचरण साधारण मनुष्यों के आचरण से निम्नकोटि का होता है। उनमें स्वार्थी भाव और काम तथा क्रोध के आवेश कभी कभी साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक होते हैं।

इस आपत्ति के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि शास्त्र का काम मार्ग बताना है, मार्ग पर चलना शास्त्र नहीं सिखाता। उचित और अनुचित का ज्ञान होने से ही मनुष्य उचित अथवा अनुचित कार्य नहीं करने लगता। उचित आचरण करने के लिए विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों की आवश्यकता होती है। मनुष्य स्वभावतः अपनी प्राकृतिक इच्छाओं की तृप्ति में लगा रहता है; उन पर नियंत्रण प्राप्त करना अभ्यास के द्वारा आता है। मनुष्य की जन्मजात प्रवृत्तियाँ[1] उसे पाशविक जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित करती हैं। वह अपने अभ्यास के द्वारा ही अपने-आप में परिवर्तन करता है, अर्थात् नई प्रवृत्तियों को बनाता है। समाज उसे इन प्रवृत्तियों को बनाने में सहायता देता है। बालकों की शिक्षा का ध्येय यही है कि उनकी जन्मजात प्रवृत्तियों में परिवर्तन करके नई प्रवृत्तियों का निर्माण करे।

जिस प्रकार दूसरे लोग हमारी शिक्षा करते रहते हैं इसी प्रकार हम स्वयं भी अपनी शिक्षा करते रहते हैं। कान्ट महाशय ने मनुष्य को स्वनिर्मित प्राणी* कहा है। वास्तव में मनुष्य मनुष्यत्व को तब प्राप्त करता है जब वह अपने प्राकृतिक स्वभाव पर विजय प्राप्त करके अपना नव निर्माण करता है। इस नव निर्माण के लिये मनुष्य को न केवल

1. Inborn Tendencies. * Self-created animal.

दूसरे हमें भले बुरे नीति के अनुसार आचरण [illegible] बहुत है। शब्द "भला" और "बुरा" किसको कहा जाय, इसे भी जानना बहुत है। सुकरात महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि "ज्ञान ही सद्गुण"† है। यदि किसी मनुष्य को भलाई का ठीक ठीक ज्ञान है तो भलाई की ओर उसका प्रवृत्त होना स्वाभाविक है। ज्ञान में क्रियाशीलता रहती है। जो मनुष्य सदा अपने ही विचारों के विवेक में अपना समय व्यतीत करता है और जीवन के आदर्शों के बारे में चिन्तन करता रहता है उसका साधारण आचारी मनुष्यों की अपेक्षा सदाचारी बनना अधिक स्वाभाविक है।

उपर्युक्त कथन में मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। मनुष्य उसी बात के विषय में अपनी जानकारी बढ़ाने की चेष्टा करता है जिसके विषय में उसकी रुचि[1] होती है। जब मनुष्य की किसी बात में रुचि नहीं होती तो वह उसके विषय में जानकारी बढ़ाने की परवाह भी नहीं करता। किन्तु जानकारी बढ़ने से रुचि भी उत्पन्न होती है। जिस ओर मनुष्य की रुचि होती है उसी ओर उसका आचरण भी होता है। इस प्रकार किसी तरह का ज्ञान न केवल रुचि का द्योतक है वरन् रुचि को पैदा करने वाला भी है और वह विशेष प्रकार के आचरण का प्रेरक होता है। अमेरिका के प्रसिद्ध नीति शास्त्र के विद्वान् डीवी साहब महाशय के निम्नलिखित कथन में मौलिक सत्य है कि उचित और अनुचित के विषय में विचार करना केवल मनोरञ्जन के लिए खेल[3] मात्र नहीं है। यदि हम किसी प्रकार के आचरण को भला अथवा बुरा (उचित अथवा अनुचित) कहते हैं और यदि हम समझ बूझ कर इन शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारे आचरण पर इसका प्रभाव अवश्य पड़ेगा। नीति-शास्त्र केवल बुद्धि का खेल मात्र नहीं है। नैतिक सिद्धान्त नैतिक आचरण की आवश्यकता रखता है और नीति-शास्त्र के अर्थ को हम तभी समझते हैं जब हम उसका सार ग्रहण करके

---

† Knowledge is virtue. 2. Interest. 3 Pastime for understanding

आचरण के कुछ ऐसे सिद्धान्तों का निर्माण करते हैं जो हमें जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक हों।*

नीति-शास्त्र की उपयोगिता की तुलना हम शिक्षा-मनोविज्ञान[1] की उपयोगिता से कर सकते हैं। शिक्षा-मनोविज्ञान का ज्ञान मात्र किसी शिक्षक को कुशल शिक्षक नहीं बना देता, शिक्षण में कुशलता अभ्यास से आती है। पर शिक्षा-मनोविज्ञान के ज्ञान से शिक्षा के कार्य में सुधार अवश्य होता है। कई एक शिक्षक शिक्षा मनोविज्ञान की पोथियाँ नहीं पढ़े रहते हैं पर वे शिक्षा का कार्य कुशलता से करते हैं। उनके कार्यों को देख कर कभी-कभी यह सोच लिया जाता है कि शिक्षा मनोविज्ञान के अध्ययन की शिक्षा में आवश्यकता नहीं है। पर, हम यहाँ भूल जाते हैं कि कुशल शिक्षकों को शिक्षा के कुछ व्यावहारिक नियम जो शिक्षा-मनोविज्ञान के ऊपर आश्रित हैं ज्ञात हैं और वह इन नियमों को अपने कार्य में प्रयोग करता है। पर कभी-कभी पूर्ण शिक्षा-प्रणाली के परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे अवसर पर बाल-मनोविज्ञान के पर्याप्त ज्ञान की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार साधारण नैतिक आचरण के लिये नीति शास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता नहीं होती। पर जब किसी मनुष्य को दो विरोधी धर्मों के बीच निर्णय करना पड़ता है अथवा जब उसके मन में अपने आचरण को नैतिकता के विषय में सन्देह उत्पन्न हो जाता है

* "Right and wrong, then, are not hollow sounds, nor is discussion about them an idle game. If we mean what we say in designating an action right or wrong, if we are doing more than mouth[illegible] convenient formula, our judgment will in some subsequent conduct. *Ethics is not a past time for* Ethical theory calls for moral practice, and the becomes intelligible only as we translate principles that can be made effective *forces* ideal ends"—Wheelwright; *A Critical*

1. Educational

तो नीति-शास्त्र की आवश्यकता पड़ जाती है। ऐसे अवसरों की चर्चा पहले की जा चुकी है।

कुछ लोग नीति-शास्त्र का ज्ञान रख कर भी नैतिक आचरण नहीं करते। इसका कारण नीति-शास्त्र का दोष नहीं, वरन् उनके मन में वास्तव में नीति-शास्त्र के प्रति श्रद्धा की कमी मात्र है। जिस प्रकार डाक्टरी का ज्ञान रख के भी मनुष्य अकुशल डाक्टर हो सकता है, और कानून का ज्ञान रख के भी वकील बुद्धू हो सकता है, इसी प्रकार नैतिक बातों का ज्ञान रखकर भी मनुष्य अपने आचरण में नैतिकता का अभाव दर्शा सकता है। पोथी-पंडित किसी प्रकार के ज्ञान में वास्तविक रुचि नहीं रखता। वह केवल दिखावा मात्र चाहता है। दूसरों के विचारों का ज्ञान कर-लेने से मनुष्य में उन विचारों के अनुसार आचरण करने की क्षमता नहीं आ जाती है। जब तक दूसरों के विचार को हम स्वयं अपना विचार नहीं बना लेते वे हमारे आचरण को प्रभावित नहीं करते। ऐसे विचार निकम्मे विचार बने रहते हैं। अधिक पुस्तकों के पढ़ने से मनुष्य को उनमें दिये हुए विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों पर चिन्तन करने का पर्याप्त समय नहीं मिलता। ऐसी अवस्था में मनुष्य अपनी बुद्धि को लद्दू टट्टू के समान भार ढोने भर का साधन मात्र बनाता है। पुस्तकों के विचारों पर मनन करने से मनुष्य एक निश्चित मत पर आता है। जब कोई व्यक्ति किसी निश्चित मत पर आ जाता है तो यह स्वाभाविक है कि उस मत का प्रकाशन अपने आचरण में करे।

यदि नीति-शास्त्र की व्यावहारिक उपयोगिता न होती तो संसार के प्रमुख सभ्य देशों में इसकी चर्चा भी न होती। जब कभी देश के अग्रगण्य नेताओं में कर्तव्याकर्तव्य के विषय में सन्देह उत्पन्न हुआ है तब नये नैतिक विचारों का निर्माण हुआ है। गीता का निर्माण ऐसी ही परिस्थिति में [illegible] जिसने पुराने रूढ़िवादी विचार का खण्डन करके नये विचार [illegible]र्तन किया।

क्या नीति-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है ?—नीति शास्त्र की मानव-जीवन में उपयोगिता को जानकर स्वभावतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह व्यावहारिक विज्ञान है। पर इस शास्त्र के प्रमुख विद्वान् इसे व्यावहारिक विज्ञान नहीं मानते। नीति-शास्त्र प्रधानतः सैद्धान्तिक विज्ञान[2] है। इसके अध्ययन का पहला लक्ष्य सिद्धान्तों का पता चलाना है न कि उसपर व्यवहार करना सिखाना। आचरण के सिद्धांतों को व्यवहार में रखना शिक्षा शास्त्र[3] सिखाता है। नीति-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र[4] अथवा इन्जीनियरिंग के समान व्यावहारिक विज्ञान नहीं है। चिकित्सा शास्त्र का मुख्य ध्येय किसी सिद्धान्त का निरूपण नहीं, वरन् मनुष्य को चिकित्सा के कार्य में योग्य बनाना है; इसी प्रकार इन्जीनियरिंग सीखने का हेतु मकान, पुल आदि बनाने की योग्यता प्राप्त करना है। पर नीति-शास्त्र के अध्ययन का हेतु नीति के सिद्धान्तों का निरूपण करना मात्र है। उनको व्यवहार में लाने के लिये एक दूसरे ही विज्ञान की आवश्यकता होती है, इसे शिक्षा-विज्ञान अथवा शिक्षा शास्त्र कहा जाता है।

नीति शास्त्र की तुलना हम तर्क-शास्त्र[5] अथवा सौन्दर्य शास्त्र[6] से कर सकते हैं। तर्क-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को तर्क और विचार में प्रवीणता प्रदान करना नहीं, वरन् तर्क के सिद्धान्तों का निरूपण करना है। जब मनुष्य तर्क करता है तो न केवल तर्क के सिद्धान्तों का उसे ज्ञान होने की आवश्यकता होती है, वरन् वह जिस विषय में तर्क करता है उसके ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। एक वकील कानूनी तर्क में कुशलता दिखाता है और एक व्यापारी व्यापार के क्षेत्र में। अपने क्षेत्र में ही सभी लोग ठीक से तर्क कर लेते हैं। यह तर्क करना उन्हें अभ्यास से आता है। तर्क-शास्त्र का ज्ञाता उतनी कुशलता से कानूनी तर्क की भूलों को नहीं पकड़ सकता जितनी कुशलता से वकील पकड़

1. Practical Science. 2. Speculative Science. 3. Science of Education. 4. Medicine. 5. Logic. 6. Esthetics

सकता है। इसी प्रकार कोई कवि अथवा कलाकार, अपने कार्य में प्रवीणता के लिये सौन्दर्य-शास्त्र का अध्ययन नहीं करता वह अपने सामान्य अनुभव से ही सुन्दर और असुन्दर का विचार कर लेता है और बिना सौन्दर्य-शास्त्र के ज्ञान के अपने कार्मों में सुन्दरता दिखाता है। पर तर्क-शास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र का अध्ययन फिर भी उपयोगी माना जाता है। तर्क-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र का ज्ञान मनुष्य को निश्चयात्मक बुद्धि प्रदान करता है! जब कभी किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाता है तब हमें शास्त्र की आवश्यकता पड़ती है। शास्त्र किसी भी बात के ठीक अथवा गलत होने के लिये युक्तियाँ उपस्थित करता है। वह बताता है कि अमुक विचार युक्तिसंगत है और अमुक नहीं है।

जिस प्रकार तर्क-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र व्यावहारिक विज्ञान नहीं हैं, इसी प्रकार नीति-शास्त्र भी व्यावहारिक विज्ञान नहीं है। इन तीनों विज्ञानों का हेतु अपने-अपने क्षेत्र में सिद्धान्तों का निरूपण है। पर सिद्धान्तों का निरूपण परोक्ष रूप से मनुष्य के विचारों को तथा व्यवहार को प्रभावित करता है। अतएव नीति-शास्त्र का अध्ययन भी मनुष्य के व्यवहार को परोक्ष रूप से प्रभावित करता है। वास्तव में कोई भी सैद्धान्तिक विद्या अध्ययन करने वाले के मन पर बिना विशेष प्रकार का प्रभाव डाले नहीं रहती और इसका प्रभाव मनुष्य के आचरण में अवश्य होता है।

नीति-शास्त्र नियामक विज्ञान[1] है—आधुनिक दार्शनिक दो प्रकार के विज्ञान मानते हैं—यथार्थ-विज्ञान[2] और नियामक विज्ञान। यथार्थ विज्ञान वस्तुस्थिति का अध्ययन करता है। यथार्थ विज्ञान किसी पदार्थ के भले और बुरे पर विचार नहीं करता। भले-बुरे पर विचार करने वाले विज्ञान नियामक विज्ञान कहलाते हैं। ये विज्ञान किसी भी वस्तु का विचार लक्ष्य को ध्यान में रखकर करते हैं। नीति-शास्त्र मनुष्य के आचरण के लक्ष्य के विषय मे विचार करता है और

1. Normative Science. 2. Positive Science.

यह निश्चित करने की चेष्टा करता है कि मनुष्य के जीवन का वास्तविक लक्ष्य क्या है।

नीति शास्त्र की विशेषता मनोविज्ञान से तुलना करने से स्पष्ट हो जाती है। मनोविज्ञान मनुष्य के विचारों, भावों और आचरणों का अध्ययन करता है, वे चाहे बुरे हों अथवा भले। पागल अथवा दुराचारी मनुष्य के विचार और आचरण एक मनोवैज्ञानिक के लिये उतने ही महत्व के हैं जितने महत्व के विचार और आचरण सामान्य और सदाचारी मनुष्य के हैं। पर नीति शास्त्र में हमें सदाचार की कसौटी अथवा माप-दण्ड निश्चित करना है, अतएव हमारा मुख्य प्रयोजन भले मनुष्यों के आचरण से ही रहता है।

क्या नीति-शास्त्र कला[1] है?—नीति शास्त्र के पंडितों में प्रायः यह विवाद होता रहता है कि नीति-शास्त्र विज्ञान है अथवा कला। वर्तमान काल के प्रमुख पंडित इसे कला नहीं मानते। वे इसे या तो विज्ञान मानते हैं या दर्शन। कला और विज्ञान में एक मौलिक भेद है। कला मनुष्य को काम करना सिखाती है और विज्ञान मनुष्य को चिन्तन करने की योग्यता प्रदान करता है। विज्ञान और दर्शन दोनों ही सत्य की खोज करते हैं। विज्ञान अधिकतर बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखता है और दर्शन अन्तर्जगत् से। ज्ञात सत्य को व्यवहार में लाना यह कला का काम है। कला सिद्धान्तों का निरूपण नहीं करती, वह या तो सिद्धान्तों को काम में लाती है अथवा नये सिद्धान्तों के लिए मदत्त[2] उपस्थित करती है। कला क्रिया प्रधान है और विज्ञान विचार-प्रधान। कला में सफलता बाहरी फल से मापी जाती है, विज्ञान में सफलता सोचने की प्रक्रिया से मापी जाती है। मनुष्य कला का जो कुछ चिन्तन करता है उसे वह अपनी क्रिया में प्रकाशित करता है और क्रिया में प्रकाशन करने के हेतु ही वह चिन्तन करता है। दर्शन और विज्ञान के विषय में यह बात सत्य नहीं है। इनमें जो चिन्तन होता है उसका ध्येय किसी सत्य का अन्वेषण

1. Art. 2. Data.

होता है। दार्शनिक चिन्तन ही अपने विचारों को सुनिश्चित बनाता ही और रहता है।

नीति शास्त्र का ध्येय कर्त्तव्याकर्त्तव्य के तारतम्य की खोज करना है। वह यह जानने की चेष्टा नहीं करता कि इस शास्त्र को प्रमाण मानकर संसार के लोग अपना आचरण बनाते हैं अथवा नहीं। उचित आचरण क्या है, इसी बात को निश्चित करना नीति शास्त्र का ध्येय है। मनुष्य के उचित आचरण कैसे बनाया जाय और उसके चरित्र के सुधार के लिए उपाय निकालना तथा बालकों का चरित्र निर्माण करना—यह काम नीति शास्त्र का नहीं है वरन् शिक्षा का है। शिक्षा को हम किसी अंश तक कला कह सकते हैं। नीति शास्त्र को कला नहीं कह सकते।

नीति शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य के आचरण में सुधार होना सम्भव है। परन्तु यह सुधार तब तक नहीं होता जब तक इस शास्त्र के बताये हुये पथ पर मनुष्य अग्रसर नहीं होता और आत्म सुधार के लिए प्रयत्न नहीं करता। आचरण में सुधार अभ्यास का फल है। शिक्षा इस अभ्यास को कराती है। यदि नीति शास्त्र का मुख्य ध्येय मनुष्य का आचरण सुधारना होता तो उसे कला समझना उचित होता। किन्तु उसका ध्येय अपने आचरण के सर्वोपादर्श को स्थिर करना है। अतएव उसे विज्ञान अथवा दर्शन की कोटि ही में माना जा सकता है। नीति शास्त्र के ध्येय की तुलना तर्क शास्त्र और सौन्दर्य शास्त्र के ध्येय से की जा सकती है। न तर्कशास्त्र और न सौन्दर्य शास्त्र को ही कला माना गया है। इसी प्रकार नीति शास्त्र को भी कला नहीं माना जा सकता।

नीति-शास्त्र की विधि

वैज्ञानिक और दार्शनिक विधि—भिन्न भिन्न प्रकार के शास्त्रों के अध्ययन की विधियाँ भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं। नीति शास्त्र एक विज्ञान है। अतएव हम साधारणतः आशा करते हैं कि इसके अध्ययन की विधि साधारण पदार्थ-विज्ञान के अध्ययन की विधि होगी। पदार्थ-

विज्ञान के अध्ययन की विधि के पाँच अंग हैं—प्रदत्तों का इकट्ठा करना, उनका वर्गीकरण करना, कल्पना की सृष्टि, कल्पना की सत्यता को नये प्रदत्तों के द्वारा परख करना और एक निश्चित नियम का स्थापन। संक्षेप में यह विधि प्रदत्तों के आधार पर नियमों को स्थिर करने की विधि है। इस विधि को अन्वेषण विधि[1] कहते हैं। इस विधि के अनुसार जिन सिद्धान्तों का निरूपण किया जाता है उनका आधार हमारे सामान्य अनुभव में आनेवाले प्रदत्त होते हैं। यदि कोई प्रदत्त ऐसा आ जाय जिससे कि प्राचीन नियम का विरोध होता है तो हमें उस नियम को ही बदल देना पड़ता है। इस प्रकार नये-नये नियमों का आविष्कार होता रहता है। मनोविज्ञान के अध्ययन का आधार यही विधि है। इस विधि से भिन्न दार्शनिक विधि है। इस विधि को विवेचनात्मक विधि[2] कहा जाता है। इस विधि में पुराने प्रदत्तों को इकट्ठा करने और नये प्रदत्तों को जानने की इतनी चेष्टा नहीं की जाती, जितनी कि अपने सामने दिये हुए प्रदत्तों का अर्थ समझने की चेष्टा की जाती है। दार्शनिक सिद्धान्त का अधिक लाभ नये प्रदत्तों के प्राप्त करने से नहीं होता, वरन् दिये हुए प्रदत्तों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से होता है। सामान्य विज्ञान का आधार उदाहरण है, परन्तु नीति शास्त्र का, जो कि दर्शन की ही शाखा है, आधार गम्भीर विचार है। दो चार उदाहरण भी नैतिकता के सिद्धान्त के ऊपर विचार करने के लिए पर्याप्त होते हैं। ये सिद्धान्त मनुष्य के लौकिक अनुभव की वृद्धि के ऊपर निर्भर नहीं करते, किन्तु उसकी अपने आपके भीतर डूबने की शक्ति के ऊपर निर्भर करते हैं। विज्ञान के सिद्धान्त बाह्य संसार से सम्बन्ध रखते हैं। अतएव जो व्यक्ति बाह्य संसार को जितना ही अधिक जानता है उसके किसी विज्ञान के सिद्धान्त उतने ही प्रौढ़ होंगे। किन्तु दर्शन के विषय में यह नियम लागू नहीं होता। दर्शन में जो व्यक्ति जितना ही अधिक विवेचनात्मक चिन्तन करने की क्षमता रखता है वह उतना ही मौलिक सत्य को प्राप्त करेगा।

1. Inductive Method. 2. Critical Method.

पदार्थ-विज्ञान का सत्य बाहरी विषयों से सम्बन्ध रखता है और दार्शनिक सत्य अपने-आप से ही सम्बन्ध रखते हैं। अतएव सांसारिक घटनाओं का अधिक ज्ञान न रखनेवाला व्यक्ति भी इस सत्य को प्राप्त कर लेता है। नीति-शास्त्र के अधिक विद्वानों ने दार्शनिक विधि का प्रयोग किया है। जिन लोगों ने इसका सफल प्रयोग किया है उनमें प्रमुख नाम प्लेटो, कान्ट और ग्रीन महाशय के हैं। इन तीनों विद्वानों ने संसार को बड़ा ही मूल्यवान् नैतिक विचार दिया है। ये सभी आदर्शवादी[1] दार्शनिक थे। इन लोगों की विचार परम्परा को जिन नीति-शास्त्र के विद्वानों ने अपनाया है उन्होंने लौकिक अनुभव पर विशेष जोर नहीं दिया है। वे मनुष्य के स्वभाव का विश्लेषण करके उसके आदर्श को निश्चित करने की चेष्टा किये हैं। इनकी विधि को *कभी-कभी मनोवैज्ञानिक विधि*[2] *भी कहा जाता है। परन्तु वास्तव में* इनकी विधि मनोवैज्ञानिक नहीं है। मनुष्य के स्वभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दार्शनिक विश्लेषण से बहुत ही भिन्न वस्तु है। मनुष्य के स्वभाव के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर नीति-शास्त्र के सिद्धांत को स्थिर करने वाले कुछ विद्वान् अवश्य हुये हैं। इन्हें हम सुख*वादी*[3] *अथवा अन्तः अनुभूतिवादी नीतिशास्त्रज्ञ कहते हैं।* सुखवाद,[4] अन्तः अनुभूतिवाद[5] और आदर्शवाद[6] इन सभी की नैतिकता के अध्ययन की विधि एकसी ही है। इस विधि को दार्शनिक विधि अथवा मनोवैज्ञानिक विधि भी कहा जाता है। परन्तु हमें यहाँ मनोवैज्ञानिक विधि का एक विशेष अर्थ मानना पड़ेगा। मनोवैज्ञानिक विधि का सामान्य अर्थ दार्शनिक विधि नहीं वरन् वैज्ञानिक विधि है, अर्थात् मनोविज्ञान प्रदत्तों के आधार पर ही सिद्धान्तों का निरूपण करता है। *इस दार्शनिक विधि को विश्लेषणात्मक*[7] *अथवा आलोचनात्मक*[8] *विधि* कह सकते हैं।

---

1. Idealist. 2. Psychological Method. 3. Hedonist. 4. Hedo-

नीति शास्त्र के अध्ययन में शुद्ध वैज्ञानिक विधि का प्रयोग प्रकृतिवादी[1] नीति शास्त्र के विद्वानों ने और विशेषकर हरबर्ट स्पेंसर महाशय ने किया है। उन्होंने अपनी 'डेटा आफ एथिक्स' (नीति शास्त्र के प्रदत्त) नामक पुस्तक में इस विधि को भली प्रकार से प्रदर्शित किया है। उन्होंने भिन्न-भिन्न काल में प्रचलित समाज के नैतिक नियमों की खोज करने की चेष्टा की है और इन प्रदत्तों के आधार पर नैतिकता के माप-दण्ड को स्थिर करने का प्रयत्न किया है। उनका कथन है कि समाज की प्रारम्भिक अवस्था में नैतिक नियमों का अभाव पाया जाता है। समाज में नैतिकता का विकास धीरे-धीरे, मनुष्य का प्रकृति के साथ संघर्ष करने के साथ-साथ हुआ है। जैसे-जैसे मनुष्य को इस संघर्ष में सफलता मिलती गई वैसे वैसे उसके जीवन के नैतिक नियमों में परिवर्तन होता गया। हम नैतिकता का आदर्श तब तक स्थिर नहीं कर सकते जब तक हम मनुष्य का प्रकृति के साथ संघर्ष और उसकी विजय के कारणों को नहीं जानते। इसके लिए मानव-समाज के इतिहास को जानना आवश्यक है। किसी नैतिक सिद्धान्त की उपयोगिता की कसौटी मनुष्य को अपने जीवन में सफलता देना है। किस नैतिक नियम के अनुसार चलने से मनुष्य को उसके जीवन में कहाँ तक सफलता मिली, इसे जानने के लिए समाज के विकास का अध्ययन करना आवश्यक है। नीति-शास्त्र की इस अध्ययन-विधि को हम आरम्भवादी विधि कह सकते हैं।

उक्त आरम्भवादी[2] अथवा शुद्ध वैज्ञानिक विधि की त्रुटि को आधुनिक काल के कई प्रमुख नीतिशास्त्रज्ञों ने बताया है, इस विधि के अनुसरण से हम ऐसे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते, जिसके आधार पर नियामक[3] विज्ञान खड़ा किया जा सके। नीति-शास्त्र एक नियामक विज्ञान है। मनुष्य के कर्तव्य का निर्णय ऐतिहासिक परम्परा के आधार पर करना एक बड़ी भूल है। इसके लिए उसके स्वभाव का मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक विश्लेषण करना ही आवश्यक है।

1. Naturalistic. 2. Genetic. 3. Normative.

मनुष्य क्या है और उसके जीवन में सर्वोत्तम तत्त्व क्या है इसको अ
ही उसके आचरण के मान का निरूपण किया जा सकता है।
महाशय ने मनुष्य को "विवेकशील प्राणी" कहा है। मनुष्य की इस
भाषा के आधार पर ही उन्होंने उसके जीवन के लक्ष्य तथा कर्तं
निरूपण किया है। मनुष्य की दूसरे प्राणियों से विशेषता उसके
अपना विचार में है। अतएव मनुष्य का स्वभाव ही यह दर्शाता
उसका कर्तव्य ऐसे कामों के करने में है जिनसे उसके विचार की
का अधिकाधिक विकास हो और वह सदा ज्ञान विज्ञान में निमग्न
सके। भारतवर्ष के धर्म शास्त्र अर्थात् नीति शास्त्र के पण्डितों ने
मनुष्य के कर्तव्याकर्तव्य का मापदण्ड स्थिर करने के लिए म
स्वभाव के दार्शनिक विश्लेषण की रीति को अपनाया है। उनके नि
उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के निष्कर्ष प्राचीन यूनानियों के थे।

कितने ही नीति-शास्त्रज्ञों ने नीति-शास्त्र की विधियों का वर्गीक
उन विधियोंकी विशेषताओं को ध्यान में न रखकर विभिन्न प्रका
नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर ही किया है। परन्तु यह एक भ्रमा
कार्य है। विधि और सिद्धान्त में मौलिक भेद है। सिद्धान्त किसी वि
के अनुसार विचार करने का परिणाम होता है। सिजविग महा
ने अपनी पुस्तक 'मेथड्स आफ एथिक्स' (नीति शास्त्र की विधियां
में यह भूल की है। उन्होंने विभिन्न प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों
वर्गीकरण किया है, परन्तु उसे नैतिक सिद्धान्त की विभिन्न रीतियों
नाम दे दिया है। मार्टिनो ने अपनी 'टाइप्स आफ एथिकल थ्यो
नामक पुस्तक में बताया है कि भिन्न-भिन्न सिद्धान्त को स्थिर करने क
भिन्न-भिन्न दार्शनिक अपनी-अपनी विधि को काम में लाये हैं।
तरह जितने नैतिक सिद्धान्त हैं उतनी ही उनकी विधियाँ हैं। किन्तु
विधियों का इस प्रकार से वर्गीकरण करना उचित नहीं समझते हैं। हम
जो वर्गीकरण किया है वह बहुत कुछ अमेरिका के वर्तमान काल
प्रसिद्ध विद्वान डीलाइट पारकर के अनुसार है।

दूसरा प्रकरण

नीति-शास्त्र और अन्य विद्यायें

दूसरी विद्याओं से सम्बन्ध जानने की आवश्यकता—नीति-शास्त्र के अध्ययन के लिए अनेक दूसरी विद्याओं का ज्ञान होना आवश्यक है। कुछ विद्याएँ नीति शास्त्र का आधार हैं और कुछ नीति-शास्त्र के सिद्धान्तों पर आधारित हैं, अथवा उन सिद्धान्तों को व्यवहृत करती हैं। जिन विद्याओं का सम्बन्ध नीति से बड़ा ही घनिष्ठ है वे निम्नलिखित हैं—तत्त्व विज्ञान[1], मनोविज्ञान[2], तर्कशास्त्र[3], सौन्दर्य-शास्त्र[4] और प्राणि-शास्त्र[5]। इनके अतिरिक्त नीति-शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध राजनीति शास्त्र,[6] समाजशास्त्र और अर्थ शास्त्र[8] से भी है। नीति शास्त्र और धर्म[9] का भी बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु वर्तमान काल में धर्म के स्वरूप को निश्चित करना बड़ा कठिन हो गया है। अतः वैज्ञानिक ढंग से धर्म और नीति शास्त्र की चर्चा करना भी बड़ा कठिन है। तत्त्व-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि नीति-शास्त्र के आधार स्तम्भों को स्थिर करने में सहायक होते हैं, और राजनीति शास्त्र और समाज-शास्त्र आदि उसकी उपयोगिता दर्शाते हैं।

नीति-शास्त्र और मनोविज्ञान—नीति-शास्त्र का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध मनोविज्ञान से है। कर्तव्याकर्तव्य का विचार एक विशेष प्रकार की मानसिक परिस्थिति में उत्पन्न होता है। कर्तव्य का विचार उत्पन्न होने के लिए मानसिक विकास की आवश्यकता होती है। पशुओं में और छोटे बच्चों में कर्तव्य का ज्ञान होना सम्भव नहीं। जब तक मनुष्य में

---

1 Metaphysics, 2 Psychology, 3 Logic, 4 Æsthetics
5 Biology, 6 Politics, 7 Sociology, 8 Economics, 9 Religion.

आगे-पीछे सोचने की शक्ति नहीं रहती तब तक उसे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं रहता। मनोविज्ञान यह दर्शाता है कि मनुष्य के मानसिक विकास की किस अवस्था में उसे नैतिकता[1] का ज्ञान होना सम्भव है। फिर, भिन्न भिन्न प्रकार के मापदण्ड भिन्न भिन्न मानसिक विकास की अवस्था के परिचायक हैं। नैतिकता के किस मापदण्ड को ऊँचा माना जाय और किसको नीचा, इसके लिए मनुष्य के मानसिक विकास को जानना भी आवश्यक होगा।

अपने कर्तव्य के निर्णय करने के पूर्व मनुष्य के मन में मानसिक उथल पुथल होती है। इस उथल-पुथल का क्या स्वरूप है, इसे मनोविज्ञान से जाना जाता है। कर्तव्य शास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य के बाह्य आचरण से उतना नहीं है जितना कि उसकी मानसिक परिस्थिति से है। किसी प्रकार के आचरण की मौलिकता मनुष्य के मन में होने वाले संकल्प विकल्पों के ऊपर निर्भर करती है। उसकी प्रकाशित क्रियाओं का महत्त्व उसके संकल्प विकल्प पर ही निर्भर करता है। नीति शास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मनुष्य के कार्य की नैतिकता को जानने के लिए, उसके तत्सम्बन्धी क्रियाओं के वास्तविक हेतु[2] अथवा मन्तव्य[3] को हमें जानना चाहिए। अब मनुष्य की क्रियाओं के वास्तविक प्रेरक क्या हैं, स्वयं मनुष्य इन प्रेरकों का ज्ञान कहाँ तक प्राप्त कर सकता है, यह बताना मनोविज्ञान का काम है। कभी-कभी स्वयं किसी काम करने वाले को अपने ही कामों के वास्तविक हेतुओं का ज्ञान नहीं रहता। वह जिस हेतु को हेतु समझता है वह झूठा ठहरता है। इस प्रकार जब मनुष्य अपने कार्य के हेतुओं को बहुत ऊँचा समझता रहता है, तभी उसका वास्तविक हेतु स्वार्थमय अथवा निकृष्ट भी बना रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान हमें यह दर्शा रहा है कि मनुष्य कहाँ तक अपने कार्य की नैतिकता के विषय में अपने आप को धोखा देता है। वह झूठे हेतु को अपने कार्य का वास्तविक हेतु समझ बैठता है। अस्तु, किसी कार्य की नैतिकता जानने

1 Morality 2 Motive 3 Intention

के लिए न केवल उस कार्य के प्रकाशित हेतु को हमें जानना चाहिए, वरन् उसके गुप्त प्रेरकों का अध्ययन भी हमें करना चाहिए। इन गुप्त प्रेरकों का निश्चय मनोविज्ञान की सहायता से होता है।

नीति शास्त्र में मनुष्य की भूख[1], चाह[2], इच्छा[3], स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति[4] उद्वेग[5] और चरित्र[6] आदि विषयों की चर्चा की जाती है। ये सभी तत्व मनुष्य की क्रियाओं के प्रेरक होते हैं। नैतिक आचरण[7] वह आचरण है जिसमें मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति अधिक से अधिक कार्य करती है और दूसरे तत्वों से कम से कम प्रभावित होती है। पर स्वतन्त्र इच्छा शक्ति क्या है और कहाँ तक वह मनुष्य के कार्य की प्रेरक बनती है, इसका निश्चय करना, तथा दूसरे तत्वों के स्वरूप, उनकी शक्ति तथा आपस के सम्बन्ध को बताना यह मनोविज्ञान का कार्य है। नीति शास्त्र के प्रमुख पंडितों का कथन है कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के प्रभाव में नैतिक आचरण संभव नहीं। जहाँ स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं वहाँ कर्तव्य नहीं। परन्तु आधुनिक काल के कुछ मनोवैज्ञानिक स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं करते। उनका कथन है कि स्वतन्त्र इच्छा शक्ति अभ्यासजन्य एक धारणा मात्र है। यदि इन मनोवैज्ञानिकों का यह कथन सत्य मान लिया जाय तो नीति शास्त्र का मुख्य आधार-स्तम्भ[8] ही नष्ट हो जाय। अतएव हमें मनोविज्ञान के गम्भीर-अध्ययन से यह निश्चित करना पड़ता है कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति कोई तात्विक वस्तु है अथवा नहीं। यदि यह निश्चय करने में हम असमर्थ रहे तो नीति शास्त्र का विचार ही व्यर्थ हो जायगा।

मनुष्य का आचरण उसके आदर्श और उसके विशेष प्रकार की मानसिक परिस्थिति के सम्बन्ध का परिणाम है। नीति-शास्त्र के बहुत से पण्डितों का कथन है कि जब तक मनुष्य के स्वभाव के विषय में भली प्रकार से ज्ञान नहीं प्राप्त कर लिया जाता तब तक उसके नैतिक आदर्श

---

1 Appetite, 2 Want, 3 Desire, 4 Freewill, 5 Emotion, 6 Character, 7 Conduct, 8, Basis.

का भी निश्चय करना आवश्यक नहीं है। यदि कोई मनुष्य अपना जीवन आदर्श इस ढंग से जिसके अनुसार चलना किसी मनुष्य के लिए सम्भव ही न हो तो वह आदर्श झूठा आदर्श होगा। मनुष्य के जीवन का अन्तिम आदर्श दर्शन शास्त्र निश्चित करता है, परन्तु उसके जीवन का व्यावहारिक आदर्श मनुष्य की मानसिक परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही निश्चित किया जा सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनोविज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता नीति शास्त्र के विद्वानों को कहाँ तक है।

पर इसी नीति शास्त्र को मनोविज्ञान की एक शाखा मात्र न मान लेनी चाहिए। नीति शास्त्र एक नियामक शास्त्र[1] है और मनोविज्ञान वस्तुविज्ञान[2] है। नीति शास्त्र के अध्ययन का ध्येय विधि निषेध की बातों को निश्चित करना है। इसके प्रतिकूल मनोविज्ञान सभी प्रकार के आचरण और विचारों का अध्ययन करता है। एक मनोवैज्ञानिक के लिए बुरे आदमी के आचरण का अध्ययन उतना ही उपयोगी है जितना एक भले आदमी के आचरण का अध्ययन। वह जितनी रुचि सामान्य लोगों के मन के अध्ययन में दिखाता है उतनी ही रुचि वह पागलों के मन के अध्ययन में दिखाता है। नीति-शास्त्र का ध्येय सभी प्रकार के आचरणों का अध्ययन करना है और यह अध्ययन भी इस लिए किया जाता है जिससे कि नैतिकता की कसौटी निश्चित की जा सके।

कितने ही नीति-शास्त्रज्ञ मनोविज्ञान को ही नीति-शास्त्र का एक मात्र आधार बना लेते हैं। सुखवादियों[3] ने ऐसा ही किया है। उनके मतानुसार मनुष्य के सभी कार्यों का प्रेरक सुख की इच्छा रहती है। अतएव सुख ही जीवन की सर्वोत्तम वस्तु है और मनुष्य का कल्याण इसी बात में है कि वह अधिक से अधिक सुख प्राप्त करने के हेतु आचरण करे। जिस कार्य से सुख की वृद्धि होती है और दुःख की कमी होती है वही कार्य भला है। पर मनोविज्ञान के ऊपर नीति शास्त्र को

1 Normative Science, 2 Positive Science. 3 Hedonists.

इस प्रकार आधारित करना एक बड़ी भूल है। इससे हम नीति-शास्त्र को मनोविज्ञान की एक शाखा मात्र बना देते हैं और उसके विधि-निषेधात्मक स्वरूप को लुप्त कर देते हैं। केवल वस्तु-स्थिति के आधार पर आदर्श का निश्चय नहीं किया जा सकता। जहाँ पर आदर्श का विचार होता है वहाँ पर मनुष्य को वस्तु स्थिति के स्तर से ऊँचा उठना पड़ता है। अतएव केवल मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य के नैतिक आचरण का माप-दण्ड निश्चित करना अनुचित है। कर्तव्य-शास्त्र में प्रधान बात यह नहीं है कि मनुष्य क्या करना चाहता है, वरन् प्रधान बात यह है कि उसे क्या करना चाहिए। मनुष्य में सुख की चाह अवश्य है; परन्तु उसमें इस चाह को नियन्त्रित करने की योग्यता भी है। वह अपने विवेक के द्वारा सुख की चाह को नियन्त्रित कर सकता है। मनुष्य का आदर्श उसके विवेक के द्वारा निश्चित होता है। मनोविज्ञान अधिकतर उसके सुख की चाह पर ही जोर डालता है; आदर्श की ओर उसकी प्रवृत्ति पर उतना जोर नहीं डाला जाता। आदर्श की चर्चा करना दर्शन का विषय माना जाता है। अतएव मनोविज्ञान के आधार पर कर्तव्य का निश्चय नहीं किया जा सकता।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि नीति शास्त्र में मनोविज्ञान की बड़ी उपयोगिता है; परन्तु मनोविज्ञान ही नीति शास्त्र का आधार नहीं बन सकता।

नीति-शास्त्र और प्राणि-शास्त्र[1]—नीति शास्त्र के कुछ विद्वानों ने नैतिकता का माप-दण्ड प्राणियों के आचरण और उनकी उन्नति के नियमों पर आधारित किया है। उनका कथन है कि प्राणि-शास्त्र का भली प्रकार अध्ययन किये बिना नैतिकता के सिद्धान्तों को निश्चित करना सम्भव नहीं। मनुष्य के जीवन में इतनी कृत्रिमता आ गई है कि उसके वर्तमान आचरण को देखकर अथवा उसके नैतिकता के वर्तमान विचारों को जानकर नैतिकता का माप-दण्ड स्थिर करना सम्भव नहीं।

---

1 Biology.

इसके लिए हमें मनुष्य से भिन्न प्राणि-जीवन का अध्ययन करना चाहिए। जो दूसरे प्राणियों के जीवन के नियम हैं उन्हीं के अनुसार मनुष्य आचरण करना चाहिए।

उक्त सिद्धान्त को मानकर इंग्लैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक हरबर्ट स्पे महाशय ने नैतिक आचरण के कुछ सिद्धान्तों को निश्चित किया है। उन अनुसार नैतिक आचरण वह आचरण है जो वातावरण के अनुकू हो। बाह्य वातावरण से संघर्ष उत्पन्न होने पर और प्रकृति की अ कूलता प्राप्त न होने पर प्राणी का विनाश हो जाता है। अतएव ऐ आचरण अनैतिक आचरण है। इस प्रकार की विचारधारा में नीति शास्त्र का वास्तविक स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। दूसरे प्राणियों के आच रण को देखकर मनुष्य को अपने आचरण का आदर्श निश्चित करन बड़ी भूल है। इससे नैतिकता की आदर्शवादिता ही नष्ट हो जाती है दूसरे प्राणियों में न विवेक होता है और न धर्माधर्म का विचार। उन अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को रोकने की शक्ति नहीं रहती, अर्थात् उन स्वतंत्र इच्छाशक्ति नहीं होती। मनुष्य विवेकशील प्राणी है और उस स्वतन्त्र इच्छाशक्ति है। वह अपनी जीवन धारा जिस ओर चाहे मो सकता है। पशु के लिए ऐसा करना संभव नहीं। अतएव मानव जीव का आदर्श पशु-जीवन के ज्ञान से प्राप्त नहीं किया जा सकता। पशु के लिए जिस आचरण को हम भला आचरण समझते हैं वही आचरण मनुष्य के लिए बुरा आचरण हो सकता है। पशु के लिए प्राकृति आचरण भला आचरण है। यह बात मनुष्य के आचरण के विषय में सत्य नहीं है।

प्राणी शास्त्र वास्तविकतावादी विज्ञान[1] है और नीति शास्त्र निया मक विज्ञान[2] है। प्राणी शास्त्र जैसी वस्तु स्थिति है उसे अध्ययन करता है, अर्थात् यह प्राणियों के सामान्य आचरण को जानने की चेष्टा

1 Positive Science. 2 Normative Science.

करता है; परन्तु नीति शास्त्र आचरण कैसा होना चाहिए, इसे जानने की चेष्टा करता है। इस दृष्टि से भी दोनों विद्याओं में बड़ा अन्तर है।

नीति शास्त्र और तर्क शास्त्र—नीति शास्त्र और तर्क शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनुष्य में तार्किक शक्ति का विकास होने के पूर्व उसमें किसी भी प्रकार के दार्शनिक विचार की क्षमता नहीं आती। वह जीवन का आदर्श क्या है और नैतिक जीवन का उद्देश्य क्या होना चाहिए इसका निर्णय नहीं कर सकता। किसी प्रकार के आचरण का औचित्य दर्शाते समय मनुष्य कभी-कभी विशेष प्रकार की तार्किक भूलें करता है। वह अपने आचरण की नैतिकता सिद्ध करने के लिए बहाने-बाजी भी करता है। अपने विचारों की ऐसी भूलों को समझने के लिए तर्क शास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता है।

नीति-शास्त्र और तर्क-शास्त्र दोनों ही नियामक[1] विज्ञान हैं। अतएव एक का स्वरूप समझने के लिए दूसरे का स्वरूप समझना आवश्यक होता है। कुछ नीति शास्त्र के विद्वानों ने तर्क-शास्त्र को ही नीति शास्त्र का आधार मान लिया है। उनके कथनानुसार जिस प्रकार दो पारस्परिक विरोधी विचार सही नहीं हो सकते इसी प्रकार पारस्परिक विरोधी आचरण सही नहीं होता। सही आचरण वह है जिसमें स्वगत विरोध का अभाव पाया जाता है। नीति-शास्त्र की परिभाषा करते समय कुछ विद्वानों ने इसे आचरण का न्याय कहा है।*

परन्तु, हमें नीति-शास्त्र को इस प्रकार तर्क-शास्त्र के ऊपर पूर्णतः निर्भर न मान लेना चाहिए। दोनों विद्याओं में समता अवश्य है और एक के समझने से दूसरे के समझने में सहायता मिलती है। किन्तु दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। तर्क-शास्त्र का क्षेत्र विचार का क्षेत्र है और नीति-शास्त्र का क्षेत्र आचरण का क्षेत्र है। तर्क-शास्त्र सही विचार के माप दण्ड को निश्चित करता है और नीति शास्त्र सही आचरण के माप-दण्ड को निश्चित करता है। विचारों में स्वगत विरोध होना अक्षम्य

---

1 Normative. * Ethics is the logic of conduct.

है। स्वगत विरोध होने पर मनुष्य किसी गलत निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकता, किन्तु आचरण में स्वगत विरोध उतना बुरा नहीं जितना कि अपने आदर्श के प्रतिकूल आचरण करना बुरा है। कभी-कभी ऊपर से पारस्परिक विरोधी दिखाई देने वाला आचरण भी नैतिक आचरण होता है। मनुष्य सभी परिस्थितियों में एक सा आचरण नहीं कर सकता और सभी परिस्थितियों में एक सा आचरण करना नैतिकता की दृष्टि से उचित भी नहीं है। परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य के आचरण में भेद होता रहता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनुष्य अपने लक्ष्य को न भूले।

फिर, विचार की भूल को हम उतना बुरा नहीं मानते जितना कि आचरण की भूल को बुरा मानते हैं। विचार में भूल करने वाले व्यक्ति को हम कभी-कभी भोला-भाला अथवा कभी उसे मूर्ख कहते हैं। परन्तु आचरण में भूल करने वाले व्यक्ति को हम अपराधी, दुराचारी अथवा पापी कहते हैं। विचार की भूल क्षम्य होती है, पर आचरण की भूल अक्षम्य होती है। विचार की भूलों की वैसी निन्दा नहीं की जा सकती जैसी आचरण की भूलों की जाती है। विचार की अत्यधिक भूल करने वाला व्यक्ति पागल समझा जाता है। पागल को दण्ड देने का विचार कोई नहीं लाता। आचरण की भूल करने वाले व्यक्ति को अपराधी माना जाता है और उसके लिए उसे दण्ड देना उसके और समाज के कल्याण के लिए आवश्यक होता है।

विचार के दोष और आचरण के दोष के दो भिन्न-भिन्न स्तर हैं। विचार में दोष विचार की अपरिपक्वता से होता है और आचरण का दोष हृदय की अपवित्रता के कारण होता है। जब किसी मनुष्य के कार्य का हेतु बुरा होता है, तभी हम उसके आचरण को बुरा कहते हैं। जो व्यक्ति केवल विचार की भूल के कारण कोई अनुचित कार्य करता है उसे हम बुरा व्यक्ति नहीं मानते। बुरा व्यक्ति वह है जिसका चरित्र ही बुरा है, जिसके मन में सदा स्वार्थी विचार आते रहते हैं, और जिसकी बुद्धि

परोपकार की ओर नहीं जाती। ऐसा व्यक्ति कुशल चिन्तक हो सकता है। परन्तु उसके विचार की कुशलता उसके आचरण को नैतिक दृष्टि से ऊँचा नहीं बनाती।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि नीति-शास्त्र का क्षेत्र तर्क-शास्त्र के क्षेत्र से भिन्न है। दोनों प्रकार की विद्याओं में समता होते हुये भी ये एक दूसरे से भिन्न हैं और नीति शास्त्र को तर्क शास्त्र की एक शाखा मात्र नहीं माना जा सकता।

नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र[1]—जिस प्रकार नीति शास्त्र और तर्क-शास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध है उसी प्रकार नीति-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र का भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों का लक्ष्य किसी विशेष प्रकार के माप-दण्ड का अन्वेषण करना है। सौन्दर्य शास्त्र सौन्दर्य के माप-दण्ड का अन्वेषण करता है और नीति-शास्त्र आचरण के माप-दण्ड अर्थात् नैतिकता के माप-दण्ड का। नीति-शास्त्र के कुछ विद्वानों ने नैतिक आचरण को सुन्दर आचरण कहा है। उनके कथनानुसार सौन्दर्य के माप-दण्ड का ज्ञान होने पर नैतिकता के माप-दण्ड का भी ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार कला मे सौन्दर्य के नियमों को भङ्ग करने से उसकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है उसी प्रकार आचरण में सुन्दरता के नियमों की अवहेलना करने से आचरण बुरा हो जाता है। इन पण्डितों के अनुसार असुन्दर और बीभत्स आचरण ही अनैतिक आचरण है। अतएव जिस व्यक्ति को सुन्दरता का ज्ञान नहीं और जिसे सुन्दरता की परख करने की उचित शिक्षा नहीं मिली है वह कभी भी नैतिक-आचरण करने की योग्यता नहीं रखता। जिसके रहन-सहन मे, चाल-ढाल में असुन्दरता है उसके आचरण में सुन्दरता होना कठिन है।

पश्चिम में प्राचीन काल के यूनानी सुन्दरता के परम उपासक थे। वे सुन्दर-सुन्दर मूर्तियों, संगीतों और नाटकों का निर्माण करते थे। उनके रहन-सहन में और बोलने के ढंग में सुन्दरता थी। वे अपने

1. Aesthetics

शरीर को भी अनेक प्रकार से सुन्दर बनाने की चेष्टा करते थे। वे सुन्दरता की वृद्धि के सभी कार्यों को बड़े मनोयोग के साथ इसलिए भी करते थे क्यों कि वे समझते थे कि सुन्दरता की वृद्धि करना मानव-जीवन की पूर्णता की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक सुन्दर वस्तुओं का निर्माण करता है वह उतना ही अधिक अपने आचरण को ऊँचा बनाता है। इन सुन्दरता के उपासकों में पीछे यह भी विचार आ गया था कि जिस व्यक्ति का रूप-रंग और आकार सुन्दर है उसकी आत्मा भी अवश्य सुन्दर होगी और जो व्यक्ति कुरूप है उसकी वैसी ही आत्मा भी अवश्य होगी।

सुन्दरता और नैतिकता[1] में घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है परन्तु सुन्दरता को ही नैतिकता नहीं कहा जा सकता। अपने जीवन में सुन्दरता न रखने वाले व्यक्ति को दण्ड देने की बात कोई नहीं सोचता, किन्तु आचरणमें अनैतिकता प्रदर्शित करने वाले को दण्ड दिया जाता है। सुन्दरता का ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति समाज में वैसा निन्दनीय नहीं माना जाता जैसा कि नैतिकता का ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति माना जाता है। फिर कितने ही प्रकार का नैतिक आचरण ऐसा होता है, जो देखने में असुन्दर होता है। भंगी का काम सुन्दरता की दृष्टि से नीचा भले ही दिखाई दे, पर नैतिकता की दृष्टि से उसी कोटि का हो सकता है जिस कोटि का एक कवि का अथवा कलाकार का कार्य होता है। रोगियों की सेवा करते समय मनुष्य को अनेक प्रकार की गन्दगी में रहना पड़ता है। सुन्दरता का उपासक कलाकार प्रायः ऐसी गन्दगी में रहना पसन्द न करेगा। परन्तु नैतिकता की दृष्टि से रोगियों की सेवा करना, उनके घावों को धोना और मलहम पट्टी करना, उनका पाखाना फेंकना बड़े ऊँचे काम हैं। फिर यह कहना भी भूल है कि शरीर से सुन्दर व्यक्ति का आचरण भी सुन्दर होता है और अपने शरीर को आकर्षक बनाना नैतिकता की दृष्टि से ऊँचा काम है। इस

---

1. Morality.

भूल में पड़कर महात्मा सुकरात को यूनान के सुन्दरता के उपासक जहर देने में इसलिए नहीं हिचके कि उसका बदन सुन्दर नहीं था और वह एक फकीर के समान फटे पुराने कपड़े पहन कर अपना जीवन व्यतीत करता था। शरीर का सौंदर्य और आचरण का सौंदर्य दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं और जिस माप दण्ड से कला की सुन्दरता मापी जाती है उससे आचरण की सुन्दरता नहीं मापी जा सकती।

सुन्दरता के माप-दण्ड और नैतिकता के माप-दण्ड में एक और मौलिक भेद है। सुन्दरता का माप-दण्ड निर्मित पदार्थ की कीमत करता है और नैतिकता का माप-दण्ड उस क्रिया की कीमत करता है जिसके द्वारा किसी पदार्थ का निर्माण होता है। हम किसी कलाकार को सुन्दर कलाकार कह सकते हैं यदि उसने पहले कभी सुन्दर कला का निर्माण किया हो। वर्तमान समय में वह कला निर्माण कर रहा है अथवा नहीं, यह बात उसके सुन्दर कलाकार होने में बाधक नहीं होती। परन्तु हम किसी व्यक्ति को भला व्यक्ति तब तक नहीं कहते जब तक वह हर समय भला आचरण नहीं करता। अरस्तू महाशय का कथन है कि, "भलाई करने के लिए कोई भी दिन छुट्टी का दिन नहीं है।"* मनुष्य जब तक जीता है उसे भला काम करते ही रहना चाहिये; जब वह निष्क्रिय हो जाता है तो वह भला नहीं रहता।

सुन्दरता का माप-दण्ड एक बाहरी वस्तु से सम्बन्ध रखता है और नैतिकता का माप-दण्ड आन्तरिक भावों से। अच्छे भाव रखने वाले व्यक्ति की कला को हम सुन्दर कला नहीं कहते। सुन्दर कला उस कला को कहा जाता है जो ऊपर से सुन्दर दिखाई देती है। हम कला की सुन्दरता की कीमत आँकते समय कलाकार के हेतुओं पर विचार नहीं करते, परन्तु नैतिकता में आचरण की श्रेष्ठता जानने के लिए मनुष्य के कार्य के हेतुओं को जानना अति आवश्यक है। मनुष्य का कोई काम सुन्दर हो अथवा असुन्दर, समाजोपयोगी हो अथवा निकम्मा, उसकी मौलिकता उसके

---

* There is no holiday for virtue.

शरीर को भी अनेक प्रकार से सुन्दर बनाने की चेष्टा करते थे। वे सुन्दरता की वृद्धि के सभी कार्यों को बड़े मनोयोग के साथ इसलिए करते थे क्यों कि वे समझते थे कि सुन्दरता की वृद्धि करना मानव जीवन की पूर्णता की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक सुन्दर वस्तुओं का निर्माण करता है वह उतना ही अधिक अपने आचरण को ऊँचा बनाता है। इन सुन्दरता के उपासकों में पीछे यह भी विचार आ गया था कि जिस व्यक्ति का रूप-रंग और आकार सुन्दर है उसकी आत्मा भी अवश्य सुन्दर होगी और जो व्यक्ति कुरूप है उसकी वैसी ही आत्मा भी अवश्य होगी।

सुन्दरता और नैतिकता[1] में घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है परन्तु सुन्दरता को ही नैतिकता नहीं कहा जा सकता। अपने जीवन में सुन्दरता न रखने वाले व्यक्ति को दण्ड देने की बात कोई नहीं सोचता, किन्तु आचरणमें अनैतिकता प्रदर्शित करने वाले को दण्ड दिया जाता है। सुन्दरता का ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति समाज में वैसा निन्दनीय नहीं माना जाता जैसा कि नैतिकता का ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति माना जाता है। फिर कितने ही प्रकार का नैतिक आचरण ऐसा होता है, जो देखने में असुन्दर होता है। भंगी का काम सुन्दरता की दृष्टि से नीचा भले ही दिखाई दे, पर नैतिकता की दृष्टि से उसी कोटि का हो सकता है जिस कोटि का एक कवि का अथवा कथाकार का कार्य होता है। रोगियों की सेवा करते समय मनुष्य को अनेक प्रकार की गन्दगी में रहना पड़ता है। सुन्दरता का उपासक कलाकार प्रायः ऐसी गन्दगी में रहना पसन्द न करेगा। परन्तु नैतिकता की दृष्टि से रोगियों की सेवा करना, उनके घावों को धोना और मलहम पट्टी करना, उनका पाखाना फेंकना बड़े ऊँचे काम हैं। फिर यह कहना भी भूल है कि शरीर से सुन्दर व्यक्ति का आचरण भी सुन्दर होता है और अपने शरीर को आकर्षक बनाना नैतिकता की दृष्टि से ऊँचा काम है। इस

---

1. Morality.

भूल में पड़कर महात्मा सुकरात को यूनान के सुन्दरता के उपासक जहर देने में इसलिए नहीं हिचके कि उसका बदन सुन्दर नहीं था और वह एक फकीर के समान फटे पुराने कपड़े पहन कर अपना जीवन व्यतीत करता था। शरीर का सौन्दर्य और आचरण का सौन्दर्य दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं और जिस माप-दण्ड से कला की सुन्दरता मापी जाती है उससे आचरण की सुन्दरता नहीं मापी जा सकती।

सुन्दरता के माप-दण्ड और नैतिकता के माप-दण्ड में एक और मौलिक भेद है। सुन्दरता का माप-दण्ड निर्मित पदार्थ की कीमत करता है और नैतिकता का माप-दण्ड उस क्रिया की कीमत करता है जिसके द्वारा किसी पदार्थ का निर्माण होता है। हम किसी कलाकार को सुन्दर कलाकार कह सकते हैं यदि उसने पहले कभी सुन्दर कला का निर्माण किया हो। वर्तमान समय में वह कला निर्माण कर रहा है अथवा नहीं, यह बात उसके सुन्दर कलाकार होने में बाधक नहीं होती। परन्तु हम किसी व्यक्ति को भला व्यक्ति तब तक नहीं कहते जब तक वह हर समय भला आचरण नहीं करता। अरस्तू महाशय का कथन है कि, "भलाई करने के लिए कोई भी दिन छुट्टी का दिन नहीं है।"* मनुष्य जब तक जीता है उसे भला काम करते ही रहना चाहिये; जब वह निष्क्रिय हो जाता है तो वह भला नहीं रहता।

सुन्दरता का माप-दण्ड एक बाहरी वस्तु से सम्बन्ध रखता है और नैतिकता का माप-दण्ड आन्तरिक भावों से। अच्छे भाव रखने वाले व्यक्ति की कला को हम सुन्दर कला नहीं कहते। सुन्दर कला उस कला को कहा जाता है जो ऊपर से सुन्दर दिखाई देती है। हम कला की सुन्दरता की कीमत आँकते समय कलाकार के हेतुओं पर विचार नहीं करते, परन्तु नैतिकता में आचरण की श्रेष्ठता जानने के लिए मनुष्य के कार्य के हेतुओं को जानना अति आवश्यक है। मनुष्य का कोई काम सुन्दर हो अथवा असुन्दर, समाजोपयोगी हो अथवा निकम्मा, उसकी मौलिकता उसके

* There is no holiday for virtue.

हेतु के ऊपर निर्भर करती है, अर्थात् नैतिकता में मनुष्य के द्वारा की जानने की चेष्टा की जाती है और उसकी आन्तरिक भावनाओं के ऊपर ही भले और बुरे का विचार किया जाता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सौन्दर्य शास्त्र और नीति-शास्त्र में बहुत कुछ समानता होते हुए भी दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं और वे भिन्न भिन्न प्रकार के पदार्थों की कीमत आँकते हैं। सौन्दर्य-शास्त्र का विशेष सम्बन्ध निर्मित वस्तु से रहता है और नीति शास्त्र का विशेष सम्बन्ध क्रिया तथा उसके हेतु से रहता है। इन दोनों शास्त्रों में मुख्य भेद यही है।

नीति-शास्त्र और तत्त्वविज्ञान[1]—तत्त्वविज्ञान शब्द कभी-कभी दर्शन[2] के सभी विभागों के लिए आता है और कभी-कभी यह शब्द उस विषय के लिए काम में आता है जिसमें संसार के अन्तिम तत्त्वों की चर्चा की जाती है। इसे अंग्रेजी में "मेटाफिजिक्स" कहते हैं। पाश्चात्य विचार-धारा के अनुसार दर्शन अर्थात् फिलासफी के निम्न लिखित पाँच अंग माने गये हैं—तर्क-शास्त्र[3], सौन्दर्य शास्त्र,[4] नीति-शास्त्र,[5] मनोविज्ञान[6] और तत्त्व-विज्ञान। इन पाँचों अंगों का सम्पूर्ण ज्ञान दार्शनिक ज्ञान कहलाता है। तत्त्व विज्ञान दूसरे चार प्रकार की विद्याओं के ऊपर का ज्ञान है। प्रत्येक शास्त्र कुछ बातें मानकर चलता है। ये बातें उस शास्त्र की पूर्व-मान्यताएँ[7] कहलाती हैं। वह उन पूर्व-मान्यताओं की तात्त्विक वास्तविकताओं को सिद्ध करने की चेष्टा नहीं करता। मनोविज्ञान मन की उपस्थिति को मानकर चलता है। पर मन का तात्त्विक रूप क्या है, इसे जानने के लिए हमें तत्त्व-विज्ञान का अध्ययन करना पड़ता है। इसी प्रकार न्याय-शास्त्र, सौन्दर्य-शास्त्र और नीति शास्त्र की कुछ पूर्व-मान्यताएँ हैं। इन पूर्व-मान्यताओं का अध्ययन तत्त्व विज्ञान में होता है। नीति-शास्त्र की निम्नलिखित पूर्व-मान्यतायें हैं—

---

1. Metaphysics, 2. Philosophy, 3. Logic, 4. Æsthetics. 5. Ethics, 6. Psychology, 7. Postulates.

(१) निःश्रेय अथवा सर्वोत्तम[1] पदार्थ की उपस्थिति,
(२) मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति[2],
(३) सृष्टि का भलाई की ओर जाना[3],
(४) आत्मा का अमरत्व[4], और
(५) ईश्वर का अस्तित्व और उसकी पूर्णता[5]

इन पाँचों बातों पर प्रकाश तत्त्व-विज्ञान डालता है। नीति-शास्त्र के कुछ विद्वान पिछली दो बातों में विश्वास करना नीति-शास्त्र के माप दण्ड के निरूपण के लिए आवश्यक नहीं समझते। जड़वादी[6] नीति शास्त्र के विद्वान न आत्मा के अस्तित्व में विश्वास करते हैं और न ईश्वर में। वे नीति शास्त्र का प्रधान आधार मानव-समाज की आवश्यकता में ही ढूँढते हैं।

पिछली दो पूर्वमान्यताओं को छोड़ कर यदि हम शेष तीन पूर्व मान्यताओं पर विचार करें तो देखेंगे कि नीति-शास्त्र के लिए उन्हें मानना अत्यन्त आवश्यक है। यदि कोई मनुष्य निराशावादी[7] है और सांसारिक घटनाओं के अन्तिम प्रयोजन को शुभ नहीं मानता तो उसके लिए नैतिक आचरण करना अत्यन्त कठिन होता है। मनुष्य तभी नैतिक आचरण करता है जब कि वह समझता है कि अन्तिम शुभ पदार्थ[8] कोई है। यह अन्तिम शुभ पदार्थ क्या है, इसके ऊपर तत्त्व विज्ञान प्रकाश डालता है।

नीति शास्त्र की दूसरी पूर्वमान्यता स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति है। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अभाव में नैतिक आचरण सम्भव नहीं है। यह स्वतन्त्र इच्छा शक्ति क्या है, इसके ऊपर तत्त्व-विज्ञान प्रकाश डालता है। हम देखते हैं कि मनुष्य एक ओर परिस्थितियों का दास है और दूसरी ओर वह परिस्थितियों के ऊपर विजय-प्राप्ति की चेष्टा भी करता

---

1. Summum bonum, 2. Freedom of will, 3 Movement towards progress, 4 The immortality of soul, 5 Perfection of God 6 Materialist, 7 Pessimist, 8 Highest Good summum bonum.

रहता है। परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करने वाला तत्व ही नैतिकता का आधार है। पर यह तत्व क्या है, इसका ज्ञान नीति-शास्त्र को नहीं है; *इसके लिए तत्त्व विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता होती है।*

जिस प्रकार मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति में विश्वास, नैतिक आचरण के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार सांसारिक घटनाओं के *नियन्त्रण करने वाले नियम की भलाई में विश्वास* भी नैतिक आचरण के लिए आवश्यक है। यदि संसार की घटनाएँ किसी न्याययुक्त नियम के द्वारा घटित नहीं होती हैं तो किसी व्यक्ति में नैतिक आचरण के लिये उत्साह ही न रहेगा। मनुष्य अपने आचरण को इस लिए ही न्याययुक्त बनाने की चेष्टा करता है क्योंकि वह जानता है कि सारी सृष्टि एक नैतिक नियम के द्वारा संचालित हो रही है। भले कार्य का फल भला होता है और बुरे का बुरा। भले तथा बुरे काम और उनके फल *की उपस्थिति में समय का अन्तर कितना ही पड़े, परन्तु ऐसा होना* असम्भव है कि भले काम का परिणाम बुरा हो और बुरे काम का परिणाम भला हो। जन साधारण की किंवदन्ती 'बोवै पेड़ बबूल का आम कहाँ से होय' में तात्विक सत्य है। यह सत्य ही मनुष्य को नैतिक आचरण करने के लिए प्रोत्साहित करता है। जो लोग संसार की घटनाओं में किसी भले नियम को कार्यान्वित होते हुये नहीं देखते हैं उनका हृदय से सदाचारी होना बड़ा कठिन है। ऐसे लोग प्रायः क्रूरकर्मा अथवा विक्षिप्त होते हैं। उन्हें नैतिक आचरण की उपयोगिता समझाना असम्भव है। ऐसे लोगों को नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र आदि विद्याओं के अध्ययन की आवश्यकता ही क्या है! इन लोगों के जीवन का सिद्धांत 'खाओ, पीओ और, मौज उड़ाओ' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। वे साधुओं और पागलों के जीवन में कुछ भी भेद नहीं रखते।

इमेनुअल कान्ट महाशय के कथनानुसार नैतिक जीवन का आधार आत्मा के अमरत्व और परमात्मा की पूर्णता में विश्वास भी है। जो मनुष्य आत्मा के अमरत्व में विश्वास नहीं करता उसके लिए यह मानना कठिन

होता है कि सभी भले कार्यों का परिणाम भला होता है। हम समान्यतः देखते हैं कि बहुत से सदाचारी लोग जीवन भर कष्ट सहते रहते हैं। वे अपने भले कामों का पुरस्कार इस जीवन काल में नहीं पाते। इसके प्रतिकूल बहुत से दुराचारी, कपटी, धूर्त लोग संसार में खूब फलते-फूलते दिखाई देते हैं। यदि कोई मनुष्य आत्मा के अमरत्व अथवा पुनर्जन्म में विश्वास नहीं करता तो उसे अपना आचरण भला बनाने के लिए कोई आन्तरिक प्रेरणा होना कठिन है। वह अपने आचरण को उतनी ही दूर तक भला बनाने की चेष्टा करेगा, जहाँ तक वह इस भले आचरण से कुछ लौकिक लाभ उठा सकता है। ऐसा व्यक्ति किसी ऐसे बुरे काम के करने से भी अपने आप को न रोकेगा जिसे वह संसार की आँख से छिपा सकता है। आत्मा के अमरत्व में विश्वास करने वाला व्यक्ति स्वर्ग-नरक की अथवा पुनर्जन्म की कल्पना करता है। उसकी ये कल्पनायें एक ओर उसे भले कामों में प्रोत्साहित करती हैं और दूसरी ओर बुरे कामों से उसे रोकती हैं। जिस व्यक्ति को यह पूर्ण विश्वास रहता है कि जिस भले या बुरे काम का फल इस जीवन में नहीं मिलता उसका फल किसी न किसी प्रकार इस जीवन के बाद मिलता है, उसकी अनैतिक आचरण करने की सम्भावना कम रहती है। वह कर्मफल के प्रति उदासीन होकर भी शुभ कर्म को करता ही जायगा। उसकी बुद्धि में प्रत्येक शुभ कर्म का करना किसी साखवाली बैंक में रुपया जमा करने के समान होता है। मनुष्य बैंक के हिसाब से उतना ही रुपया ले सकता है जितना उसने जमा किया है। यदि कोई बैंक उसके चेक के भुगतान में देरी करती है तो वह उसके जमा किये हुये रुपये का ब्याज उतना ही अधिक देती है। इसी प्रकार यदि किसी भले काम का फल हमें तुरन्त नहीं मिलता और फल के मिलने में अधिक देरी लगती है तो हमारा मूलधन तो कम होता ही नहीं, उसका ब्याज दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है। आत्मा के अमरत्व और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास उक्त मनोवृत्ति को उत्पन्न करते हैं। पर ईश्वर और आत्मा क्या वस्तु हैं, इनका

ज्ञान नीति-शास्त्र नहीं करता; इसके लिए तत्त्वविज्ञान की आवश्यकता है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि जड़वादी दार्शनिक अथवा नीति-शास्त्र के विद्वान् आत्मा के अमरत्व तथा ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। इनके लिए नैतिक आचरण करने में जो कठिनाई होगी वह कठिनाई इन तत्त्वों को मानने वाले व्यक्तियों में होने की कम सम्भावना है। कुछ धार्मिक लोग जो आत्मा के अमरत्व और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं दुराचारी भी होते हैं। इसका कारण यह है कि वे सच्चे हृदय से धार्मिक नहीं हैं। वे प्रायः समाज के भय से अथवा रूढ़िवादिता के कारण धार्मिक बने रहते हैं। वे स्वार्थवादी होते हैं और वे धर्म को भी अपनी स्वार्थ सिद्धि का साधन बनाते हैं। ऐसे लोगों में से जिनकी तीव्र बुद्धि होती है वे संशयवादी होते हैं। सच्चे धार्मिक व्यक्ति का नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करना यदि असम्भव नहीं, तो अत्यन्त कठिन अवश्य है।

बौद्ध दार्शनिक आत्मा और ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते, तिस पर भी वे उच्च कोटि के नैतिक आदर्श मनुष्य के सामने रखते हैं। परन्तु हमें इनके विषय में यह न भूल जाना चाहिए कि वे पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं और वे यह भी मानते हैं कि भले काम का फल भला होना और बुरे काम का फल बुरा होना अनिवार्य है। बौद्ध दर्शन जड़वादी नहीं है, वरन् आध्यात्मवादी है। जीव का सांसारिक दृष्टि से पुनर्जन्म होना और तात्त्विक रूप से उसके अस्तित्व को स्वीकार न करना सम्भव है। बौद्ध दर्शन में जिस आत्मा के अस्तित्व के विषय में सन्देह किया गया वह संस्कार सम्पन्न जीव ही है।

नीति शास्त्र और धर्म[1]—नीति शास्त्र और धर्म का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि भारतवर्ष में नीति-शास्त्र को धर्मशास्त्र ही कहा गया है। ऊपर हमने जो कुछ तत्त्व-विज्ञान और नीति-शास्त्र के सम्बन्ध

1. Religion.

में कहा है उससे इन दोनों का भी घनिष्ठ सम्बन्ध प्रत्यक्ष है। शोपनहावर महाशय का कथन है कि सामान्य जनता का तत्त्व-विज्ञान धर्म ही है *। अतएव तत्त्व-विज्ञान का सम्बन्ध नीति-शास्त्र से बताते हुए यह बहुत दूर तक बताया जा चुका है कि धर्म की नैतिक आचरण के लिए कहाँ तक आवश्यकता है।

सामान्य जनता को कर्तव्या-कर्तव्य का ज्ञान विभिन्न मतों के धर्म गुरु ही कराते हैं। यदि हम संसार के प्रमुख धर्मों को देखें तो उनमें पर्याप्त नैतिक शिक्षा पावेंगे। सामान्य मनुष्य धर्म में बताई बातों से प्रभावित होता है। धर्म पुनर्जन्म अथवा आत्मा के अमरत्व में विश्वास पैदा करता है। इसमें स्वर्ग-नरक की कल्पना भी रहती है। अतएव मनुष्य को सदाचारी बनने के लिए वह अनेक प्रकार से प्रेरित करता है।

भारतवर्ष में नीति-शास्त्र और धर्म-शास्त्र में प्रायः एकता पाई जाती है, परन्तु दूसरे देशों में धर्म-शास्त्र को "थेऑलाजी" के नाम से पुकारा जाता है। थेऑलाजी में ईश्वर, आत्मा आदि बातों की चर्चा रहती है। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति और उसके नियमों पर भी विचार रहता है। इस प्रकार का विचार पुराने समय में नैतिकता का आधार माना जाता था। कुछ लोगों का मत है कि ईश्वर की भलाई और

गाँधी का भी यही विचार था। उनका कथन था कि जब मनुष्य नैतिकता को छोड़ देता है तो वह धर्म से भी विमुख हो जाता है*। मार्टिनो महाशय का कथन है कि मनुष्य की अन्तरात्मा की आवाज़[1] उसे उचितानुचित का ज्ञान कराती है, और साथ ही साथ उसे उचित काम करने के लिए प्रेरणा देती है और अनुचित काम करने से रोकती है। मनुष्य अपनी अन्तरात्मा में जो नैतिक आचरण के लिए प्रेरणा पाता है वही इस बात को सिद्ध करता है कि संसार का एक महाप्रभु है और हमारा उसके प्रति उत्तरदायित्व है। इस महाप्रभु के बारे में फिर हम कल्पना करते हैं कि यह अवश्य सर्वशक्तिमान और सर्वदर्शी होगा, और वह पूर्णतया न्यायप्रिय होगा; वह न केवल हमारे प्रकाशित कार्यों को जानता है वरन् हमारे मन के भीतर रहने वाले हेतुओं को और मन्तव्यों को भी जानता है। उसकी शक्ति असीम है और वह स्वभावतः ही धार्मिक पुरुषों को प्रसन्न करता है और दुष्टों को दण्ड देता है। ऐसे न्याय प्रिय ईश्वर में विश्वास करना ही धर्म है। इससे यह स्पष्ट है कि धर्म का आधार मनुष्य की नैतिक भावनाएँ हैं।

कान्ट महाशय का कथन है कि हम अपनी नैतिक अन्तःअनुभूति[2] के द्वारा यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि भलाई के साथ सुख और बुराई के साथ दुःख का अनिवार्य सम्बन्ध है। किन्तु हम अपने लौकिक अनुभव में इस बात को नहीं पाते। हम संसार में देखते हैं कि प्रायः साधु लोग कष्ट पाते हैं और दुष्ट लोग मौज उड़ाते हैं। अब इस अन्तः अनुभूति और लौकिक अनुभव की विषमता को मिटाने के लिए हमें एक ऐसे परमात्मा को मानना पड़ता है जो सर्वदर्शी, सर्व शक्तिमान और न्याय प्रिय है। वह अन्त में साधुओं को सुखी बनाता है और दुष्टों को दण्ड देता है। इस प्रकार हमारी अन्तः अनुभूति ही ईश्वर के अस्तित्व और उसकी पूर्णता का आधार है। नैतिकता इस दृष्टि से धर्म का आधार है।

* *When a man ceases to be moral, he ceases to be religious.*

1 Conscience. 2 Moral intuition.

संसार में कई प्रकार के धर्म प्रचलित हैं। कुछ धर्मों में बाह्य क्रिया—यज्ञ, होम, तप, पूजा-पाठ आदि की प्रधानता रहती है, और कुछ में आचरण और मानसिक शुद्धि पर जोर दिया जाता है। जिस धर्म में जितना ही बाहरी बातों को महत्त्व दिया जाता है और आचरण और विचार की शुद्धि अर्थात् नैतिक बातों को कम महत्त्व दिया जाता है वह उतना ही निम्नकोटि का है। कितने ही धर्म ऐसे हैं जिनमें नैतिकता के प्रतिकूल बातों को क्षम्यमान लिया जाता है, अथवा उन्हें प्रोत्साहित किया जाता है। इस प्रकार के धर्म वास्तव में धर्म नहीं। वे मनुष्य की अविकसित मानसिक अवस्था के परिचायक हैं। जब धर्म के मानने वाले लोगों का आचरण नैतिकता की दृष्टि से निम्नकोटि का हो जाता है तो संसार के विचारवान् लोग धर्म की निन्दा करने लगते हैं। ऐसी अवस्था में विद्वान् पुरुष, ईश्वर को जनता को धोखा देने वाली कोरी कल्पना मात्र मानने लगते हैं। मानव समाज धर्म के बिना चल सकता है परन्तु नैतिकता के बिना नहीं चल सकता। आधुनिक काल में संसार के बहुत से वैज्ञानिक मनोवृत्ति के समाज सुधारक धर्म को पुरोहितों का कोरा ढोंग-ढकोसला मानने लगे हैं। उनका विचार है कि धर्म धनियों के द्वारा गरीब जनता का शोषण कराता है और समाज के ठग लोगों को शरण देता है। धर्म की आड़ में अनेक प्रकार के अनैतिक कार्य होते हैं। अतएव धर्म के न रहने पर ही मनुष्य में सच्ची नैतिकता आ सकती है और ऐसी अवस्था में ही समाज का सच्चा कल्याण हो सकता है। वर्तमान समय में धर्म के प्रति विद्रोह का भाव वास्तव में धर्म के ... रूप के प्रति विद्रोह का भाव है। यदि हम धर्म के ... करें तो हम उसे मानव-समाज का महान ... धर्म न केवल नैतिकता का आधार है, ... का एक मात्र साधन है। ... जीवन का सार भाग ... जीवन के समा-

नीति-शास्त्र और राजनीति[1] का सम्बन्ध — नीति शास्त्र और राजनीति का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। राजनीति किसी देश की सरकार चलाने के सिद्धान्त और राष्ट्र के विभिन्न अंगों के शासन के सम्बन्ध और उनके अलग अधिकार को बताती है। यह नीति शास्त्र के समान नियमबद्ध[2] अर्थात् विधिनिषेधात्मक विज्ञान है। राजनीति ऐसे नियमों को बताती है जिनसे कि समाज की संस्थाएँ सुसंगठित रह सकें और समाज के व्यक्ति उनकी भलाई के लिए काम करें। इसके लिए सरकार की स्थापना की जाती है। किसी राष्ट्र की सरकार समाज की भलाई के लिए अनेक नियम बनाती है और इन नियमों के तोड़ने के लिए दण्ड विधान बनाती है। राजनीति का उद्देश्य समाज की भलाई करना है और नीति शास्त्र का उद्देश्य यह निश्चित करना है कि प्रत्येक व्यक्ति की भलाई किस बात में है, अर्थात् उसके जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य क्या है। व्यक्ति के सुख और पूर्णता पर समाज का सुख और उसकी पूर्णता निर्भर करती है। इसी तरह समाज के सुख और उन्नति पर व्यक्ति के सुख और उन्नति निर्भर करते हैं; अतएव राजनीति और नीति-शास्त्र में बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। राजनीति के नियमों का आधार समाज के नैतिक नियम रहते हैं और नैतिकता के विकास के लिए समाज का सुसंगठित होना अत्यावश्यक है। मनुष्य समाज की सेवा करके अपने नैतिक जीवन को पूर्ण बनाता है, परन्तु मनुष्य में समाज की सेवा के भाव उत्पन्न करने और उसे समाज की सेवा का अवसर सुलभ करने के लिए सुसंगठित राज्य की आवश्यकता होती है।

संसार के कुछ विद्वानों ने नीति-शास्त्र को राजनीति की एक शाखा माना है और कुछ ने राजनीति को नीति-शास्त्र की शाखा माना है। हाब्ज़ महाशय का कथन है कि मनुष्य में नैतिक विचार तभी उत्पन्न हो सकते हैं जब समाज में अच्छा संगठन हो और राज्य भली प्रकार से चल रहा हो। ऐसी स्थिति में मनुष्य काम का बटवारा करता है और

1 Politics. 2 Positive.

अपने अधिकारों और कर्तव्यों का निश्चय करता है। मनुष्य स्वभावतः ही स्वार्थी प्राणी है और यदि उसे किसी सत्ता का भय न हो तो वह अपने सुख के लिए दूसरों को कष्ट देने में कुछ भी न हिचकेगा। राजनैतिक नियम ही पहले पहल मनुष्य को दूसरे के अधिकार छीनने से रोकते हैं और उसे आत्म संयम की शिक्षा देते हैं। यही शिक्षा आगे चलकर मनुष्य में नैतिक भावनायें उत्पन्न कर देती है। बाहर के दण्ड का भय पीछे अभ्यासवश अन्तरात्मा द्वारा दिये जाने वाले भय में परिणत हो जाता है।

प्लेटो, अरस्तू, हीगल, ग्रीन महाशय के विचार हाब्स महाशय के उक्त विचारों के प्रतिकूल हैं। इनके कथनानुसार राजनीति नीति-शास्त्र की शाखा मात्र है। मनुष्य के नैतिक आचरण का आधार केवल बाहरी सत्ता का भय नहीं है। मनुष्य में नैतिक आचरण करने की स्वतः ही प्रवृत्ति रहती है। प्रत्येक मनुष्य अपने आप की पूर्णता चाहता है। जैसे जैसे उसका विचार विकसित होता है वह जानने लगता है कि यह पूर्णता व्यक्तिगत वस्तु नहीं है, यह सामाजिक वस्तु है। जब तक मनुष्य दूसरों को प्रसन्न और पूर्ण बनाने की चेष्टा नहीं करता वह स्वयं भी प्रसन्न और पूर्ण नहीं होता। अतएव समाज सेवा के भाव से ही समाज में स्थायी संगठन रह सकता है। जब तक मनुष्यों में सामाजिक भावों की वृद्धि रहती है, अर्थात् जब तक वे स्वार्थ त्याग के द्वारा आत्म साक्षात्कार करने की चेष्टा करते हैं, तब तक ही समाज सुसंगठित रहता है। जब मनुष्य सामाजिक संगठन में केवल दूसरों से लाभ उठाने के लिए आते हैं और जब वे भय के कारण ही दूसरों की क्षति करने से अपने आप को रोकते हैं तब समाज का संगठन शिथिल हो जाता है। समाज में ऐसी अवस्था में ठग धूर्त और चालबाज लोग ही अधिकारी बन जाते हैं। ऐसी अवस्था में समाज से नैतिकता उठ जाती है और थोड़े ही काल में ऐसा समाज नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है।

प्लेटो महाशय ने अपनी 'रिपब्लिक' नामक पुस्तक में उक्त सिद्धान्त का

खंडन किया है जिसका प्रवर्तन हाब्ज महाशय ने किया है। हाब्ज महाशय प्लेटो के दो हजार वर्ष बाद हुए, परन्तु उनके सिद्धान्त के समान सिद्धान्त उस समय भी प्रचलित था। अतएव इसे पूर्व पक्ष बनाकर इसका भली प्रकार से खण्डन और आत्मा की भलाई के सिद्धान्त का प्रतिपादन प्लेटो महाशय ने अपनी पुस्तक में किया है। यदि हम नैतिकता को राजनैतिक व्यवस्था पर आधारित मान लें तो हमें उसे एक बाहर से लादी हुई वस्तु मानना पड़ेगा। किन्तु इस प्रकार की धारणा नैतिकता के मूल भाव के ही प्रतिकूल है। जो व्यक्ति भयवश नैतिक आचरण करता है वह वास्तव में भला व्यक्ति नहीं है। क्योंकि वह भय के हट जाने पर बुराई में ही लग जायगा। नैतिकता का सच्चा आधार मनुष्य की अन्तरात्मा की भलाई ही है। जो व्यक्ति नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करता है वह राज्य के प्रति अपराध करे अथवा नहीं, और समाज को हानि पहुँचावे अथवा न पहुँचावे, परन्तु वह अपने-आप को हानि अवश्य पहुँचाता है और वह अपने ही प्रति अपराध करता है।

कभी-कभी मनुष्य के राजनैतिक कर्तव्यों और नैतिक कर्तव्यों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उस समय उसका कर्तव्य है कि वह जिसे नैतिक दृष्टि से उचित समझे उसे करे, न कि जिसे राज्याधिकारी भला मानते हैं उसे करे। राज्याधिकारी ऐसे व्यक्ति को दण्ड अवश्य देंगे, परन्तु जो सच्चा कर्तव्य-परायण व्यक्ति है वह ऐसे दण्ड को प्रसन्नता से सहता है। वास्तव में ऐसे ही व्यक्ति समाज का सुधार करते हैं और राजनैतिक क्रान्तियाँ उत्पन्न करते हैं। समाज में अथवा राज्य में जब भी क्रान्तियाँ होती हैं तो उनका आधार नैतिक ही रहता है। नैतिकता के प्रतिकूल बनी हुई किसी सामाजिक रूढ़ि को अथवा राजनैतिक संस्था को तोड़ना प्रत्येक विवेकशील, कर्तव्यपरायण व्यक्ति का कर्तव्य होता है।

नैतिकता व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्ध रखती है। उसका मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को आध्यात्मिक पूर्णता प्रदान करना है; राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई की वृद्धि करना है। ग्रीन महाशय का कथन है

कि मनुष्य को आत्म कल्याण का विचार पहले रखना चाहिए, पीछे उसे समाज की बातों की परवाह करना चाहिए। जो व्यक्ति आत्म कल्याण की चेष्टा करता है वह समाज का सच्चा कल्याण अपने आप ही कर देता है। वही समाज भला समाज है जिसमें व्यक्ति को अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक स्वतन्त्रता दी जाती है। जहाँ व्यक्तिगत आचरण की स्वतन्त्रता में राज्य अत्यधिक हस्तक्षेप करने लगता है वहाँ मनुष्यों का नैतिक विकास न होकर उनका पतन होता है। अतएव सर्वोत्तम राज्य वह है जो इस सिद्धान्त को ध्यान में रखता है कि मनुष्य के आचरण के लिए कम से कम बंधन हो और अधिक से अधिक स्वतन्त्रता हो, अर्थात् जो राज्य मनुष्य की नैतिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अपने नियम बनाता है वही सर्वोत्तम राज्य है।

हमने ऊपर राजनीति और नीति शास्त्र का सम्बन्ध बताया है; परन्तु हमे यह ध्यान में रखना चाहिए कि दोनों के दृष्टि कोण में मौलिक भेद है। नैतिकता के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु राजनीति का आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का समाज के लिए समर्पण है। नीति शास्त्र का ध्येय मनुष्यों को वैयक्तिक कल्याण प्राप्त करने में सहायता देना है, और राजनीति का ध्येय सामाजिक भलाई को प्राप्त करना है। राजनीतिज्ञ की दृष्टि बहिर्मुखी[1] होती है और नीति-शास्त्रज्ञ की दृष्टि अन्तर्मुखी[2]। राजनीति में मनुष्य के बाहरी कामों और उनके फलों पर विचार किया जाता है, पर नीति शास्त्र मे मनुष्य के कार्यों के प्रेरक हेतुओं और संकल्पों पर विचार किया जाता है। राजनैतिक नियमों का आधार पुरस्कार का प्रलोभन और दण्ड का भय होता है, किन्तु नैतिक नियमों का आधार स्वतन्त्र इच्छा और आत्म प्रेरणा होती है। राजनीति में परिस्थितियोंके अनुसार अपने आचरण को बनाना और किसी प्रकार अपने कामों में सफलता प्राप्त करना स्तुत्य माना जाता है; किन्तु नीति-

1 Extraverted. 2 Introverted.

शास्त्र में अवसरवादिता को निम्न माना है। उसका ध्येय आत्मिक पूर्णता की प्राप्ति है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि राजनीति की अपेक्षा नीति शास्त्र का स्थान बहुत ऊँचा है। किसी भी राजनैतिक सत्ता का आधार जब तक नैतिक नहीं होता वह सत्ता सच्ची नहीं मानी जाती। आधुनिक प्रगतिशील राष्ट्र अपनी राजनीति में मनुष्य के नैतिक विकास के लिए अधिक से अधिक सुविधाएँ देते हैं; अर्थात् वे चेष्टा करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आत्म विकास के लिए अधिक से अधिक स्वतन्त्रता है। आधुनिक जनतन्त्रवादी आन्दोलन का यही लक्ष्य है।

नीति शास्त्र और समाज-शास्त्र[1]—समाज शास्त्र मानव समाज के विकास का अध्ययन करता है। समाज शास्त्र यह बताने की चेष्टा करता है कि मानव समाज अपनी बर्बर अवस्था से वर्तमान सभ्य अवस्था में कैसे आया। आज हम सुसभ्य समाज में जो भी परम्पराएँ[2], रीति-रिवाज[3] और संस्थाएँ[4] देखते हैं उनका विकास बर्बर अवस्था से हुआ है। समाज-शास्त्र इस विकास की क्रिया और उसके नियमों को दर्शाने की चेष्टा करता है। यह शास्त्र व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को भी स्पष्ट करता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और यह सुसंगठित समाज में एक दूसरे की सहानुभूति और सहायता से रहता है। यदि मनुष्य समाज से अलग रहे तो उसका जीना ही असम्भव हो जाय।

समाज के विकास की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार की रीति रिवाज, रहने के ढंग और संस्थाएँ प्रचलित रही हैं। ये रीति-रिवाज, ढंग और संस्थाएँ नीति-शास्त्र के लिए विचार की सामग्री उपस्थित करते हैं। जब हम भिन्न भिन्न समय की और भिन्न भिन्न देशों की रीति-रिवाज और संस्थाओं से परिचित होते हैं तो हमें यह जानने की चेष्टा करनी पड़ती है कि उनमें से कौन श्रेष्ठ हैं और कौन निकृष्ट। जब हम इस तरह सामाजिक संस्थाओं अथवा परम्पराओं के ऊपर विचार करते हुये

1 Sociology. 2 Traditions. 3 Customs. 4 Institutions.

हैं तो हमारे सामने नीति-शास्त्र की आवश्यकता आती है। उदाहरणार्थ–भारतवर्ष की छूआछूत की प्रथा और अमेरिका की निग्रो जाति का श्वेत जाति द्वारा सामाजिक बहिष्कार की प्रथा को लीजिए। यह एक सामाजिक वस्तु है। हम इस प्रकार की व्यवस्था कहीं देखते हैं और कहीं नहीं देखते। हमें ऐसी प्रथाओं अर्थात् संस्थाओं को देखकर यह सोचना पड़ता है कि ये उचित हैं अथवा अनुचित। समाज-शास्त्र यह बताने की चेष्टा करता है कि ये प्रथायें समाज में कहाँ से आईं और किन भावों के ऊपर ये स्थिर हैं। इन बातों को जानकर हम उनका मूल्य नैतिकता की दृष्टि से भली प्रकार से आँक सकते हैं।

नीति-शास्त्र व्यक्ति के आचरण के आदर्श को निश्चित करता है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहता है और उसका आचरण समाज के दूसरे व्यक्तियों के सम्बन्ध में होता है। वह अपने आचरण से समाज का कल्याण करता है अथवा अकल्याण, उसे प्रगतिशील बनाता है या उसकी प्रगति में बाधा डालता है, समाज की प्रगति कैसे होती है—इन बातों का ज्ञान होना समाज की प्रगति चाहनेवाले व्यक्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतएव किसी व्यक्ति के आचरण का लक्ष्य निर्धारित करने के लिए अथवा उसके आचरण का मूल्य आँकने के लिए समाज के संगठन का ज्ञान अत्यावश्यक है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि नीति-शास्त्र बहुत कुछ समाज-शास्त्र के ऊपर निर्भर करता है। किन्तु इससे हमें यह न समझना चाहिए कि नीति शास्त्र समाज शास्त्र की केवल एक शाखा मात्र है। इस प्रकार की भूल समाज शास्त्र के सर्वमान्य पण्डित हरबर्ट स्पेंसर ने की थी और इसी प्रकार की भूल लेस्ली स्टीफन महाशय ने की है। उनके कथनानुसार नैतिकता का विकास समाज के संगठन के ऊपर निर्भर करता है। जो रीति रिवाज और संस्थाएँ जाति के अनुभव में उपयोगी पाई गई हैं वे ही रीति रिवाज और संस्थाएँ इन विद्वानों के कथनानुसार ठीक हैं और उन्हीं के आधार पर मनुष्य के कर्तव्य को निश्चित करना चाहिए। इन

है कि वह कहाँ तक मनुष्य को धनी बनाती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक पैसा कमा सकता है वह उतना ही महान् मान लिया जाता है। परन्तु यह दृष्टि कोण दोष-पूर्ण है। धन के कमाने को स्वयं लक्ष्य बनाना मानवता के स्तर से गिर जाना है। धन का कमाना उतनी ही दूर तक अच्छा है जितनी दूर तक वह मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में सहायक होता है। जब मनुष्य बिलकुल निर्धन रहता है तो उसे दूसरों की गुलामी करनी ही पड़ती है और उसमें नैतिक स्वतन्त्रता नहीं आती। ऐसा व्यक्ति जीवन के लक्ष्य पर विचार भी नहीं कर सकता। किन्तु जिस व्यक्ति का मन धन ही में फँसा हुआ है वह भी नैतिक बातों के विषय में अधिक चिंता नहीं करता।

वर्तमान समय के बहुत से अर्थ-शास्त्री धनोत्पादन के सुझावों को बताते समय प्रायः यह भूल जाते हैं कि वे सुझाव नैतिक हैं अथवा नहीं। यदि अर्थ-शास्त्र के पंडित समाज में नैतिकता की वृद्धि को ध्यान में रखते तो वे पूँजीवाद को ऐसा प्रोत्साहन न देते जैसा उन्होंने दिया है। अब समाजवादी अर्थ-शास्त्री धनोत्पादन के नये-नये ढंग इस दृष्टि से बताते हैं जिससे धन का अधिक से अधिक सदुपयोग हो सके। धीरे धीरे नीति-शास्त्र का प्रभाव अर्थ शास्त्र के ऊपर पड़ता जा रहा है और प्रत्येक अर्थ-शास्त्र का पंडित धनोत्पादन की विधियों को बताते समय उनकी नैतिकता पर भी विचार करता है।

नीति-शास्त्र और शिक्षा[1]—जिस प्रकार अर्थ शास्त्र का नीति शास्त्र पर निर्भर रहना आवश्यक है उसी प्रकार शिक्षा का भी नीति शास्त्र पर निर्भर रहना आवश्यक है। वास्तव में शिक्षा के सिद्धान्त और उसका लक्ष्य बिना नीति शास्त्र की सहायता के निर्धारित करना सम्भव नहीं। शिक्षा का लक्ष्य वही है जो मानव जीवन का लक्ष्य है। इस लक्ष्य के ऊपर नीति शास्त्र प्रकाश डालता है। शिक्षा में उस लक्ष्य को प्राप्त करने की विधि बताई जाती है। नीति शास्त्र सैद्धान्तिक[2] विद्या

1 Education 2 Speculative

है और शिक्षा व्यवहारिक विद्या है। नीति-शास्त्र सुन्दर आचरण को बताता है। शिक्षा मनुष्य के द्वारा सुन्दर आचरण करवाने की विधि बताती है। नैतिक जीवन का ध्येय मनुष्य के सामने उच्च से उच्च ध्येय को उपस्थित करना है। इस ध्येय की प्राप्ति का मार्ग बताना शिक्षा का कार्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नीति शास्त्र का ज्ञान प्रत्येक शिक्षक के लिए अत्यावश्यक है। इस ज्ञान के बिना वह शिक्षक और शिष्य के वास्तविक सम्बन्ध को, अनुशासन विधियों के औचित्य को तथा किसी प्रकार के ज्ञान की उपयोगिता को भली प्रकार से नहीं जान सकता। शिक्षा का ध्येय बालक के व्यक्तित्व को सुयोग्य बनाना है। परन्तु सुयोग्य व्यक्तित्व क्या है, इसका ज्ञान नीति-शास्त्र के अध्ययन के बिना सम्भव नहीं।

तीसरा प्रकरण

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और व्याख्या[1]

मनोवैज्ञानिक ज्ञान की आवश्यकता

हमने पिछले प्रकरण में नीति-शास्त्र का मनोविज्ञान से सम्बन्ध बताने की चेष्टा की थी। वहाँ हमने यह कहा था कि मनुष्य के मन का पर्य्याप्त ज्ञान हुए बिना हम नैतिक विषयों पर भली प्रकार से चिन्तन नहीं कर सकते। मनोविज्ञान मनुष्य के मन का सम्पूर्ण अध्ययन करता है। इस अध्ययन में चित्तवृत्ति को विभिन्न प्रकार के पहलुओं पर प्रकाश डाला जाता है। चेतना[2] के तीन विभिन्न पहलू माने गये हैं—ज्ञानात्मक,[3] रागात्मक[4] और क्रियात्मक[5]। मनोविज्ञान में इन तीनों पहलुओं पर विचार होता है। किन्तु नीति-शास्त्र का प्रयोजन चेतना के क्रियात्मक पहलू से ही रहता है। नीति-शास्त्र में चेतना के ज्ञानात्मक और रागात्मक पहलुओं को वहीं तक जानने की चेष्टा की जाती है जहाँ तक कि इनका ज्ञान मनुष्य की क्रियाओं के समझने के लिए अर्थात् चेतना के क्रियात्मक पहलू को समझने के लिए अनिवार्य होता है। नीति-शास्त्र का विषय मनुष्य का आचरण[6] है। मनुष्य के आचरण और दूसरे प्राणियों के आचरण में महान् अन्तर है। दूसरे प्राणियों के आचरण में विचार और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का वैसा कार्य नहीं रहता जैसा कि मनुष्य के आचरणों में रहता है। नीति-शास्त्र का प्रयोजन ऐसे ही आचरण से होता है जिसमें मनुष्य के विचार और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य है। इच्छाशक्ति से किये गये कार्य में ही नैतिक जिम्मेदारी रहती है। अतएव

1 Psychological analysis and definitions. 2 Consciousness. 3 Cognitive 4 Affective. 5 Conative. 6 Conduct.

इनके स्वरूप को जानना किसी कार्य की नैतिकता अथवा अनैतिकता को समझने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

नीति शास्त्र में दो प्रकार के प्रश्नों पर विचार किया जाता है—(१) नैतिक विचार का विषय[1] क्या है और (२) मनुष्य के आचरण की नैतिकता किस माप-दण्ड[2] से मापी जानी चाहिए। इन दोनों प्रकार के प्रश्नों ` ठीक-ठीक उत्तर पाने के लिए मनोविज्ञान के समुचित ज्ञान की आवश्कता होती है। मनुष्य के कार्य भिन्न-भिन्न स्तर पर होते हैं। हमारी 5 क्रियाएँ सहज क्रियाएँ[3] होती हैं, कुछ मूल प्रवृत्तियों[4] द्वारा संचालित ती हैं और कुछ आदतजन्य[5] क्रियाएँ होती हैं। इनके अतिरिक्त इच्छित र्यायें[6] हैं, अर्थात् वे क्रियाएँ है जिनमें विवेक और स्वतन्त्र इच्छा क्ति का कार्य होता है। नीति शास्त्र यह बताने की चेष्टा करता है कि सी मनुष्य के आचरण के ऊपर नैतिक निर्णय करते समय हमें किन-न मनोवैज्ञानिक बातों पर ध्यान रखना चाहिए और किस प्रकार की या के ऊपर नैतिक निर्णय किया जा सकता है। किसी व्यक्ति के ाचरण के ऊपर उचित नैतिक निर्णय करने के लिए उसकी भूख[7] च्छा[8] और संकल्पों[9] को जानना अत्यावश्यक है। सभी प्रकार के कार्यों : नैतिक निर्णय[10] नहीं दिया जा सकता। उन्हीं कार्यों का नैतिक निर्णय त्या जाता है जो हेतु पूर्ण[11] अथवा संकल्प पूर्ण[12] हों। अब इच्छा[13], हेतु[14] ौर संकल्प, स्वतन्त्र इच्छाशक्ति, विचार[15] आदि बातें मनोवैज्ञानिक हैं। नके स्वरूप को जानने के लिए हमे नीति-शास्त्र के दृष्टिकोण से मनो ज्ञानिक ज्ञान को दुहराना आवश्यक है।

जिस प्रकार मनुष्य के आचरण पर विचार करने के लिए मनोज्ञानिक तथ्यों का ज्ञान करना आवश्यक है इसी तरह नैतिकता के

. Object of moral judgment. 2 Standard of morality. 3 Reflexes. . Instincts 5 Habit. 6 Voluntary action. 7 Appetites. Desires. 9 Intentions. 10 Moral judgement. 11 Motived actions. 2 Intended actions. 13 Desire. 14 Motive. 15 Reason.

नई वस्तुओं को देखना चाहता है और काम वासना को सन्तुष्ट करने वाले पदार्थ की ओर आकर्षित होता है। भूख प्राकृतिक प्रेरणा का नाम है इसमें विचार का कार्य नहीं रहता। जब मनुष्य किसी भूख का अनुभव करता है और वह चिन्तन करने लगता है कि किस चीज से वह भूख सन्तुष्ट हो सकती है तो भूख इच्छा का रूप धारण कर लेती है। भूख एक प्रकार की अन्ध प्रवृत्ति है, जब भूख के साथ ज्ञान का सम्बन्ध जुड़ जाता है और यह ज्ञान किसी निश्चित वस्तु को चेतना के समक्ष ले आता है तो यह प्रवृत्ति नया रूप धारण कर लेती है। अब यह केवल क्रियात्मक न रहकर ज्ञानात्मक भी हो जाती है। मानसिक प्रवृत्ति के इस स्वरूप को इच्छा कहते हैं। भोजन की आन्तरिक माँग भूख कहलाती है। परन्तु मन में रोटी, भात-दाल, फल, मांस इत्यादि पदार्थों के प्राप्त होने की प्रेरणा होना इच्छा कहलाती है।

भूख में पदार्थ के भले-बुरे होने, उसके उचितानुचित रूप से प्राप्त किये जाने का विचार नहीं रहता। जब मनुष्य में यह विचार आता है अर्थात् जब मनुष्य एक भूख का दूसरी भूखों से समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है और देश काल आदि बातों से भूख की तृप्ति का सम्बन्ध जोड़ता है तो यह भूख इच्छा बन जाती है। विचार के द्वारा भूख ही इच्छा में परिवर्तित हो जाती है। विवेकशून्य मानसिक प्रवृत्ति अथवा प्रेरणा को भूख कहते हैं। विवेकयुक्त मानसिक वेग इच्छा कहलाता है। जब मनुष्य को भूख लगती है तो वह साधारणतः किसी खाद्य पदार्थ का विचार करता है। यह उसकी भूख मात्र है। दूसरे की थाली का भोजन देखकर हमारे अन्दर भोजन की भूख उत्पन्न हो जाती है परन्तु हम परोसी हुई थाली को ही देखकर उसपर टूट नहीं पड़ते हैं। जिस थाली को खाने का हमें अधिकार नहीं है उसके खाने के लिए हमारे मन में भूख भले ही हो इच्छा नहीं होती। जो लोग एकादशी का व्रत रखते हैं वे एकादशी के दिन भूखे रहने पर भी भोजन करने की इच्छा नहीं करते। उन्हें अच्छा से अच्छा भोजन प्रलोभित नहीं करता।

भोजन के विषय में छूआ-छूत पर विचार रखने वाले कट्टर हिन्दू अज्ञात व्यक्ति का छुआ हुआ अच्छा से अच्छा भोजन नहीं करते। अनादर से दिये हुये भोजन के करने की इच्छा हमारे अन्दर नहीं होती, चाहे हमारे पेट में भोजन के लिए कितनी ही भूख क्यों न हो। इस तरह हम देखते हैं कि इच्छा में मनुष्य देश, काल, परिस्थिति, तथा उचितानुचित आदि बातों का ध्यान रखता है। पशुओं में भूख होती है। उनमें इच्छाएँ नहीं होती हैं। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसके मनमें न केवल भूख आती हैं वरन् इच्छाएँ भी आती हैं। इच्छाओं के बनने में विचार का कार्य होता है। अतएव नैतिक विचार इच्छाओं पर ही होता है।

इच्छाओं में द्वन्द्व[1]—मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की इच्छाएँ आती रहती हैं। वह अपनी सभी प्रकार की इच्छाओं को सन्तुष्ट नहीं कर सकता। उसे अपनी अनेक इच्छाओं में से कुछ को चुनना पड़ता है। वह इन्हीं को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है। जब कभी हमारे मनमें एक इच्छा आती है तो उसी समय हमें अपने मन में दूसरी इच्छाओं का भी ज्ञान होता है, अर्थात् दूसरी इच्छाएँ भी उठ आती हैं। इस प्रकार एक इच्छा का दूसरी इच्छा से द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। जो इच्छा प्रबल होती है वह दूसरी इच्छाओं को इस संघर्ष में हराकर चेतना के मैदान में अकेली रह जाती है। इस इच्छा के अनुसार फिर हम आचरण करने लगते हैं। जब तक इच्छाओं में द्वन्द्व होता रहता है मनुष्य की मानसिक स्थिति डाँवाडोल बनी रहती है। वह न एक काम कर सकता है और न दूसरा।

द्वन्द्व करनेवाली इच्छाओं की सहायक अनेक दूसरी इच्छाएँ[2] होती हैं। यदि दो इच्छाओं का आपस में द्वन्द्व हो रहा है तो हमें यह जानना चाहिए कि यह दोनों इच्छाओं का ही संघर्ष नहीं है, वरन् दो इच्छाओं के मण्डलों का अर्थात् दो प्रकार के व्यक्तित्वों[3] का संघर्ष है। जिस प्रकार दो आपस में लड़नेवाले राष्ट्रों की सहायता उनके मित्र राष्ट्र करते हैं,

1 Conflict of desires. 2 Universe of desires. 3 Personalities.

इसी प्रकार दो द्वन्द्व करनेवाली इच्छाओं की सहायता दूसरी आनुसंगिक इच्छाएँ भी करती हैं, और जिस प्रकार एक पक्ष के विजयी होने पर उस पक्ष के सभी राष्ट्र प्रबल हो जाते हैं, इसी प्रकार इच्छाओं के संघर्ष में जो इच्छा विजयी होती है वह न केवल अपने-आप बली बनती है, वरन अपने समान दूसरी इच्छाओं को भी बली बना लेती है।

उक्त सिद्धान्त को निम्न-लिखित उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। मान लीजिए, एक अध्यापक किसी विशेष संस्था में अध्यापन का कार्य कर रहा है। यह संस्था समाज की निःस्वार्थ भाव से सेवा करती है। उसे इस संस्था में सौ रुपया मासिक ही वेतन मिलता है। उसे सूचना मिलती है कि वह दूसरी जगह तीन सौ मासिक प्राप्त कर सकता है। परन्तु वहाँ उसे किसी सामाजिक कार्य को न करना होगा, वरन् एक धनी मिल-मालिक के यहाँ मुनीम बनकर रहना पड़ेगा। इस व्यक्ति में मुनीमी की भी योग्यता उसी प्रकार है जिस प्रकार अध्यापन की। उसके मन में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। ऊपरी दृष्टि से उसके सामने सौ रुपया पाने और तीन सौ रुपया पाने का ही सवाल है; परन्तु यदि इस संघर्ष के संपूर्ण रहस्य को हम देखें तो पता चलेगा कि प्रत्येक इच्छा के पीछे सैकड़ों दूसरे मन्सूबे लगे हुए हैं। इतना ही नहीं, इन इच्छाओं के संघर्ष में जीवन के दो विभिन्न प्रकार के आदर्शों[1] का संघर्ष है। एक आदर्श है समाज-सेवा, ज्ञान की वृद्धि और सादगी के जीवन का और दूसरा आदर्श धन-संचय, सम्मान प्राप्ति और ऐश्वर्य का। दो भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यक्ति एक सी ही परिस्थिति में अर्थात् एक सी ही इच्छाओं के संघर्ष में दो भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। जैसी किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व की बनावट होती है उसी प्रकार एक इच्छा अथवा दूसरी इच्छा विजयी होती है।

दो इच्छाओं के संघर्ष के समय अन्य इच्छाएँ मनुष्य की चेतना के समक्ष आती हैं। मनुष्य अपनी कल्पना में यह देखने की चेष्टा करता

1. Ideals.

है कि यदि वह एक प्रकार का निर्णय करे तो वह अपने आपको वैसा बनायेगा और यदि दूसरे प्रकार का निर्णय करे तो वह अपने आपको वैसा बनायेगा। जो कुछ निर्णय होता है वह केवल दो प्रतिद्वंद्वी इच्छाओं के बल पर ही नहीं होता; वरन प्रत्येक इच्छा की आनुषंगिक इच्छाओं के बल पर होता है। वास्तव में मनुष्य का निर्णय उसके सम्पूर्ण चरित्र का प्रतीक होता है। अपने चरित्र के अनुसार ही मनुष्य दो इच्छाओं के संघर्ष के समय निर्णय करता है। कितने ही लोगों को धन की पिपासा होती है, कितने ही मनुष्यों को मान की और कितनों को ज्ञान की पिपासा होती है। धन की अधिक पिपासावाला व्यक्ति उस इच्छा को तृप्ति करने की चेष्टा करेगा जिससे उसे धनोत्पादन की सुविधाएँ मिलें। उसे मान की अथवा ज्ञान की उतनी परवाह न होगी। जो व्यक्ति मान की अधिक कीमत करता है वह धन प्राप्ति की इच्छा को वैसा प्रमुख स्थान न देगा जैसा कि मान प्राप्ति की इच्छा को तृप्त करने को देगा। इसी प्रकार ज्ञानेच्छु, धन और मान को अपने जीवन में प्रमुख स्थान नहीं देता और इसके कारण इनसे सम्बन्धित इच्छाएँ भी मानसिक अन्तर्द्वंद्व के समय विजयी नहीं होतीं। लेखक के दो छात्रों ने हाल ही में पैसे के लोभ में आकर अध्यापन का कार्य छोड़ दिया और धनी मिल-मालिकों के नौकर बन गये। इस नौकरी में न उन्हें उतना मान मिलता है जितना उन्हें अध्यापक की अवस्था में मिलता था और न उन्हें ज्ञान प्राप्त करने की वैसी सुविधाएँ ही हैं; परन्तु वे धन कमाने की सुविधा प्राप्त करने से अपने आपको सफल मानते हैं। अन्य व्यक्ति ऐसी स्थिति में आन्तरिक दुःख का अनुभव करते हैं और वे अपने मान के ऊपर थोड़ी सी ठेस लगने पर ही बेचैन हो जाते हैं। ऐसे व्यक्ति पहले से ही उन परिस्थितियों में अपने को नहीं डालते जिनमें उसके मान की क्षति हो। उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने चरित्र के अनुसार ही दो इच्छाओं के अन्तर्द्वन्द्व के समय एक के अथवा दूसरे के अनुसार निर्णय करता है।

मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की अवस्था बड़ी ही कष्टदायक होती है। इससे मनुष्य की मानसिक शक्ति का बड़ा ही ह्रास होता है। मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सर्वथा अभाव विवेकशून्यता का प्रतीक है। पशुओं मे और बालकों में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति नहीं उत्पन्न होती, क्योंकि उनमें सोचने की शक्ति ही नहीं रहती। उनके मन में जो कुछ आता है उसी के अनुसार वे काम करने लगते हैं। वे अपने आप पर किसी प्रकार की रोक नहीं लगाते। मनुष्य में अपनी इच्छाओं को रोकने की शक्ति होती है। यह शक्ति विचार-वृद्धि के साथ-साथ आती है। जिस व्यक्ति में अपनी क्रियाओं के सम्भाव्य परिणामों के कल्पना करने की शक्ति नहीं है उसमे आत्म नियन्त्रण की भी शक्ति नहीं होती। ऐसा व्यक्ति मन में आने वाले प्रथम विचार के अनुसार ही कार्य करने लगता है। ऐसा व्यक्ति यदि प्रौढ़ भी हो तो उसे बाल-बुद्धि ही कहा जायगा। उसके आचरण का नैतिकता की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं। अतएव दो इच्छाओं का आपस में समय-समय पर संघर्ष होना मानसिक विकास की स्थिति को दर्शाता है। किन्तु, इस संघर्ष का मन में देर तक चलते रहना भी एक प्रकार की मानसिक अस्वस्थता है। कितने ही लोगों में अपने कर्तव्य के विषय मे निर्णय करने की शक्ति नहीं होती। यदि कोई इच्छा उनके मन में पैदा हुई तो उसके विरुद्ध तुरन्त दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है और फिर कई दिनों तक उनके मन में इन इच्छाओं का संघर्ष बना रहता है। इस प्रकार के संघर्ष से जो मानसिक शक्ति का ह्रास होता है वह मनुष्य के व्यक्तित्व के लिए बड़ा हानिकर होता है। सदा संशय की अवस्था में रहने वाला व्यक्ति सभी काम को आधे मन से करता है और उसे प्रत्येक कार्य में आधी सफलता मिलती है। अतएव इस प्रकार की मानसिक स्थिति चरित्र के ह्रास का परिचायक है।

जब मनुष्य के आदर्श सुनिश्चित हो जाते हैं और वह एक विशेष प्रकार के जीवन से अभ्यस्त हो जाता है तो मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की

की स्थिति देर तक नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति के समक्ष जब अपने कर्तव्य सम्बन्धी कोई समस्या आ जाती है तो वह उसको सुलझाने में देर नहीं लगाता। ऐसे व्यक्ति के मन में देरतक दो इच्छाओं का संघर्ष भी नहीं चलता। हमारे जीवन के नैतिक सिद्धान्त इन मानसिक अन्तर्द्वन्द्वों को शीघ्रातिशीघ्र समाप्त करने में सहायक होते हैं और इस प्रकार वे हमारी मानसिक शक्ति का अपव्यय नहीं होने देते। नैतिकता इस दृष्टि से मनुष्य के जीवन की सफलता की कुंजी है।

इच्छित क्रिया*

इच्छित क्रिया का स्वरूप—इच्छित क्रिया ही नैतिक विचार का विषय होती है! अतएव इसका स्वरूप समझना नैतिकता के स्वरूप जानने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जब हम इच्छित क्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण[1] करते हैं तो उसे निम्न लिखित अवस्थाओं का पाते हैं—

(१) दो भिन्न-भिन्न इच्छाओं का चेतना के समक्ष आना[2]

(२) इन इच्छाओं में संघर्ष का उत्पन्न होना[3]

(३) विभिन्न इच्छाओं के परिणामों पर विचार करना[4]

(४) एक इच्छा का चुनाव अथवा निर्णय पर पहुँचना[5]

(५) अपने निश्चय को वाह्य क्रिया का रूप देना[6]।

मान लीजिये एक विद्यार्थी बी० ए० की परीक्षा पास करके विचार करता है कि उसे आगे क्या करना चाहिये। वह अब सरकारी नौकरी कर सकता है, किसी रोजगार में लग सकता है, किसी समाज सुधार के आन्दोलन मे शामिल हो सकता है अथवा अपनी पढ़ाई को ही जारी रख सकता है। उसके मन में ये सब बातें आती हैं। वह आगे बढ़ना चाहता है, परन्तु यह नहीं जानता कि वह किस ओर आगे बढ़े। इस समय उसके मन में अनेक प्रकार की इच्छायें उत्पन्न होती हैं और

* Voluntary actions. 1 Psychological analysis. 2 Presentation of desires. 3 Conflict of desires. 4 Deliberation. 5 Decision. 6 Action.

उसका मन इन इच्छाओं के संघर्ष का अखाड़ा बन जाता है। उसकी बहुत सी निर्बल इच्छाएँ तो प्रारम्भ में ही संघर्ष के अखाड़े से अलग हो जाती हैं। परन्तु कुछ इच्छायें देर तक लड़ती ही रहती हैं। इस संघर्ष की अवस्था मे मनुष्य कोई बाहरी क्रिया नहीं करता, वह अपने मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प लाता है। वह प्रत्येक प्रकार के निश्चय के भावी परिणामों का अपनी कल्पना में चित्रण करता है। फिर जो चित्र उसे सुहावना लगता है उसके अनुसार वह अपना निश्चय करता है। उपर्युक्त दृष्टान्त में किसी व्यक्ति को अपने-आप रोजगारी बन जाने का चित्र अच्छा लगता है, किसी को सरकारी नौकर बनने का अथवा समाज सेवक बनने का चित्र अच्छा लगता है, और किसी को आजन्म विद्याध्ययन करने का ही चित्र अच्छा लगता है। मनुष्य अपने-अपने स्वभाव अथवा चरित्र के अनुसार इस प्रकार के विचार के बाद निर्णय करता है। जैसी मनुष्य की स्थायी प्रवृत्तियाँ होती हैं उन्हीं के अनुसार उसके निर्णय भी होते हैं। ये स्थायी प्रवृत्तियाँ कुछ जन्तजात[1] होती हैं और कुछ अर्जित[2]। स्थायी अर्जित प्रवृत्तियाँ ही मनुष्य का चरित्र कहलाती हैं।

जब मनुष्य किसी निर्णय पर पहुँचता है तो अपने निर्णय के अनुसार वह कार्य में लग जाता है। मनुष्य की आचरण की नैतिकता की दृष्टि से मनुष्य का किसी कार्य में लग जाना उतने महत्त्व की बात नहीं, जितने महत्त्व की बात उसके मन में होने वाली मानसिक क्रियाएँ हैं। नैतिक विचार[3] में इन मानसिक क्रियाओं की ही कीमत आँकी जाती है। ये मानसिक क्रियाएँ इच्छित क्रियाओं का आन्तरिक रूप हैं और मनुष्य का आचरण उसकी इच्छित क्रियाओं का बाह्य रूप है।

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति[4]—इच्छित क्रिया के होने के पूर्व अपनी विभिन्न इच्छाओं पर विचार और एक इच्छा का चुनाव आवश्यक है। उपर्युक्त इच्छित क्रिया के विश्लेषण में इसे चौथी अवस्था मानी है। इस चुनाव में मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति काम करती है। यह स्वतन्त्र

1 Inborn. 2 Acquired. 3 Ethical judgment. 4 Freewill.

स्वतन्त्र बल है, इस पर मनोविज्ञान के पंडितों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुछ मनोविज्ञान के पंडित तो इस स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का अस्तित्व ही नहीं मानते। इसी प्रकार कुछ नीति शास्त्रज्ञ भी इस स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति को मानना नीति शास्त्र के लिए अनावश्यक समझते हैं। जड़वादी[1] नीतिशास्त्रज्ञ, विशेषकर प्रकृतिवादी[2], स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते और चेतनवादी[3] सभी नीतिशास्त्र के विद्वान् इसके अस्तित्व को नैतिक विचार के लिए आवश्यक समझते हैं। नीति शास्त्र के प्रश्नों को हल करने के लिए इन दो प्रकार के मतों को भली भाँति जानना आवश्यक है।

इच्छित क्रिया की विशेषता—इच्छित क्रिया मनुष्य की सामान्य क्रियाओं से भिन्न क्रिया है। साधारणतः प्रत्येक प्राणी सुख की इच्छा से प्रेरित होकर और दुःख के निवारण के लिए काम करता है। वह उसी काम को करने का निश्चय करता है जिससे उसको अधिक से अधिक तात्कालिक लाभ हो। इच्छित क्रियाओं में अर्थात् इच्छा शक्ति के द्वारा निश्चित क्रियाओं में दूसरी ही बात पाई जाती है। मनुष्य जितना ही अधिक अपनी इच्छा शक्ति से काम लेना चाहता है वह उतना ही सरल और सुखदाई मार्ग को छोड़कर कठिन और कष्ट देने वाले मार्ग को ही स्वीकार करता है। जिस मनुष्य की इच्छा शक्ति जितनी ही दृढ़ होती है, वह उतनी ही आदर्शवादी होता है और वह प्रलोभनों के प्रतिकूल उतना ही अधिक लड़ता है। कर्तव्य-पथ पर चलने में इच्छा शक्ति का सबसे अधिक कार्य होता है। ऐसे व्यक्ति को पद-पद पर उचितानुचित का विचार करना पड़ता है और प्रायः सरल मार्ग को छोड़ कठिन मार्ग ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार के निश्चय से इच्छा शक्ति और भी अधिक दृढ़ होती है और मनुष्य का चरित्र बनता है। अतएव जैसा कि ह्वीलराइट और विलियम जेम्स महाशयों ने बताया है, यदि नैतिक आचरण की कोई सुलभ कसौटी हो सकती है तो वह प्रलोभनों के प्रतिकूल

---

1 Materialistic. 2 Naturalistic. 3 Spiritualists.

आने की अथवा कठिन मार्ग पर जाने की ही कसौटी है। इच्छा-शक्ति से किया गया कार्य वह है जिसमें मनुष्य अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियों के प्रतिकूल जाता है और यही नैतिक आचरण भी है।

मानलीजिए, हमें भूख लगी है। हम अपनी भूख को शांत करने के लिए बाजार से मिठाई लाते हैं, परन्तु ज्योंही हम खाने बैठते हैं त्योंही एक अतिथि आ जाता है। अतिथि-सत्कार हमारा पहला धर्म है। यदि हम उस मिठाई को अपने-आप न खाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने अतिथि को खिला देते हैं तो हमें अपने प्राकृतिक स्वभाव के प्रतिकूल आचरण करना पड़ता है। यहां हमारे आदर्श और हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियों में द्वन्द्व होता है, और यदि हमारा चरित्र सुदृढ़ है तो आदर्श की विजय होती है। हमें जितनी ही अधिक भूख लगी होती है उतनी ही अधिक प्राकृतिक प्रवृत्ति को दबाने के लिए इच्छा-शक्ति के बल की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार प्रत्येक विवेकयुक्त काम को करने के लिए इच्छाशक्ति के बल की आवश्यकता पड़ती है। कोई-कोई लोग अपने आदर्श के लिए धन-दौलत और राज्य पाट को भी छोड़ देते हैं। जो व्यक्ति जितना ही अधिक प्रलोभनों के प्रतिकूल चलने की शक्ति रखता है उसमें नैतिक आचरण करने की उतनी ही अधिक योग्यता रहती है। जब मनुष्य के मन में इच्छित क्रिया के होने के पूर्व अन्तर्द्वन्द्व चलता रहता है तो पहले पहल प्रलोभन का बल ही अधिक दिखाई देता है। पर जब इच्छाशक्ति उसके प्रतिकूल काम करने लगती है तब प्रलोभन का बल घट आता है। जितना ही बड़ा प्रलोभन होता है उसके विरुद्ध लड़ने की उतनी ही अधिक आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक बल की अवश्यकता से ही उसकी पूर्ति का मार्ग निकल आता है। इस प्रकार इच्छित क्रियाओं के द्वारा मनुष्य के आध्यात्मिक बल की पूर्ति होती है। नैतिक आचरण भी इसी प्रकार का आचरण है। नैतिक आचरण वह आचरण है जिसमें मनुष्य को अधिक से अधिक प्रलोभनों के प्रतिकूल चलना पड़े और अधिक से अधिक कठि-

-नाइयों का सामना करना पड़े । जो व्यक्ति जितना ही अधिक कठिनाइयों का सामना करने की योग्यता रखता है वह नैतिक आचरण की भी उतनी ही अधिक योग्यता रखता है ।*

नियतिवाद[1] और स्वतन्त्रतावाद[2]

नियतिवाद का सिद्धान्त—जब दो इच्छाओं का संघर्ष होता है तो एक इच्छा का दूसरी इच्छा पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। विजय प्राप्त करने वाली इच्छा दूसरी इच्छा को दबा देती है । अब प्रश्न यह है कि विजय कौन सी इच्छा प्राप्त करती है । इस प्रश्न का साधारण उत्तर यह है कि जो इच्छा प्रबल होती है वही विजयी होती है । अतएव इस संघर्ष के परिणाम के विषय में सामान्य सिद्धान्त यह है कि संघर्ष में सदा प्रबल इच्छा विजयी होती है । कोई इच्छा प्रबल क्यों है इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जाता है कि प्रत्येक इच्छा में प्राकृतिक बल होता है; इस प्राकृतिक बल के कारण ही कोई इच्छा प्रबल होती है और कोई निर्बल । प्रबल इच्छा का इच्छाओं के संघर्ष में विजयी होना यही निर्णय का स्वरूप है । इच्छाओं के अतिरिक्त कोई तत्त्व इच्छाओं को बली अथवा निर्बल बनाने वाला नहीं है । हम इच्छाओं के संघर्ष में किसी

---

*इस प्रसंग में विलियम जेम्स महाशय के प्रिन्सि पिल्स आफ साइकोलाजी नामक पुस्तक में कहे हुए निम्न लिखित विचार उल्लेखनीय हैः—

"The ideal impulse appears a still small voice which must be artificially re-inforced to prevail. Effort is what reinforces it, making things seem as if, while the force of propensity were essentially a fixed quantity, the ideal force might be of various amount. If the sensuous propensity is small, the effort is small. The latter is made great by the presence of a great antagonist to overcome. And if a brief definition of ideal or moral action were required, none could be given which would better fit the appearance than this: it is action in the line of greatest resistance."—*Principles of Psychology* Vol II, Page 546-549.

1 Determinism. 2 Doctrine of Free will (Libertanianism).

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति अथवा किसी आध्यात्मिक तत्त्व का कार्य नहीं देखते।

उक्त मत जड़वादी मनोवैज्ञानिकों और दार्शनिकों का है। इस मत को नियतिवाद कहते हैं। नियतिवाद के अनुसार मनुष्य के मानसिक संघर्ष के परिणाम उसी प्रकार से निश्चित हैं जिस प्रकार से मकान के छत से फेंके गये पत्थर का नीचे गिरना निश्चित है। मनुष्य जो कुछ भी निर्णय करता है वह पहले से ही उसके जन्मजात स्वभाव, मानसिक संस्कार और परिस्थितियों के द्वारा निश्चित रहता है। इनका अध्ययन करके यह पहले से ही बताया जा सकता है कि अमुक व्यक्ति अमुक परिस्थिति में क्या करेगा।

स्वतन्त्रतावाद का सिद्धान्त—उक्त सिद्धान्त के प्रतिकूल स्वतन्त्रतावाद का सिद्धान्त है। स्वतन्त्रतावाद के सिद्धान्तनुसार दो इच्छाओं के संघर्ष का परिणाम इच्छाओं की स्वतन्त्र शक्ति के ऊपर निर्भर नहीं करता, वरन् मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के ऊपर निर्भर करता है। मनुष्य की यह इच्छाशक्ति ही एक इच्छा को कार्यान्वित करने के लिए चुनती है और दूसरी का दमन करती है। यह शक्ति मन में आने वाली विभिन्न इच्छाओं से पृथक वस्तु है। इच्छाएँ आती जाती हैं किन्तु इच्छाशक्ति स्थायी रहती है। जिस इच्छा को यह शक्ति अपना लेती है वही बलवान् हो जाती है, और जिसे वह त्याग देती है वह निर्बल हो जाती है। यह जिस इच्छा को चाहती है अपना अपना बल देती है और जिसे नहीं चाहती उसका दमन कर देती है। इस इच्छा शक्ति की उपस्थिति का प्रमाण हमें उस समय मिलता है जब हम किसी प्रबल इच्छा का जोर से दमन कर देते हैं। जिस व्यक्ति की इच्छाशक्ति बलवान होती है वह काम और क्रोध जनित अनेक प्रकार के मानसिक वेगों का दमन कर देता है और अपने भावों को सदा अपने विवेक के नियन्त्रण में रखता है। यह इच्छशक्ति अन्धी नहीं है, वरन् विवेक युक्त है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक विवेकी होता है उसकी यह इच्छाशक्ति उतनी ही प्रबल होती है।

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नैतिकता में महत्त्व—नियतिवाद और स्वतन्त्रतावाद दोनों ही ऐसे सिद्धान्त हैं जिनके विषय में अन्तिम बात तत्त्व विज्ञान ही कह सकता है, किन्तु नीति शास्त्र में इतना ही कहा जा सकता है कि स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के अस्तित्व में विश्वास करना नैतिक विचार के लिए अनिवार्य है। यह नीति शास्त्र की पूर्वमान्यता[1] कही जा सकती है। मार्टिनो महाशय का यह कथन सर्वथा युक्ति संगत है कि या तो स्वतन्त्र इच्छा शक्ति कोई वास्तविक वस्तु है अथवा नैतिकता कोरी कल्पना है*। जब हम स्वतन्त्र इच्छा शक्ति के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते तो किसी प्रकार के आचरण के लिए किसी व्यक्ति को जिम्मेदार कैसे बना सकते हैं। धर्माधर्म का विचार उसी स्थिति में हो सकता है जब कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति को मान लिया जाय। जहाँ कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं वहाँ कर्तव्यता कैसी। कान्ट महाशय का कथन है कि योग्यता के बिना कर्तव्यता सम्भव नहीं†। योग्यता के मानने पर हमें स्वतन्त्र इच्छाशक्ति को मानना पड़ता है। यदि मनुष्य परिस्थितियों का दास ही है तो हम उसे किसी प्रकार के अनैतिक आचरण के लिए कैसे दोषी ठहरा सकते हैं? जिस व्यक्ति में परिस्थितियों के प्रतिकूल चलने की शक्ति है उसी के ऊपर नैतिकता का उत्तरदायित्व रहता है। परिस्थितियों के प्रतिकूल चलने की शक्ति पशुओं में नहीं होती। यह शक्ति मनुष्यों में ही होती है। इसी कारण पशुओं के कार्यों पर नैतिक विचार नहीं किया जाता, मनुष्यों के कार्यों पर ही नैतिक विचार किया जाता है। छोटे बालकों में भी परिस्थितियों के प्रतिकूल चलने की शक्ति नहीं होती, अतएव हम उन्हें भी किसी अनुचित काम के करने के लिए उतना उत्तरदायी नहीं समझते जितना एक प्रौढ़ व्यक्ति को समझते हैं। जिस व्यक्ति में विचार करने की जितनी ही अधिक शक्ति होती है वह अपनी स्वतन्त्र

---

1 Postulate * Either freedom of will is a fact or morality is a delusion. † There cannot be an oughtst without a canst.

च्छाशक्ति से उतना ही अधिक कार्य्य लेता है, और ऐसे क्ति के कार्य नैतिकता की दृष्टि से उतने ही महत्व के होते हैं। योंकि इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता के साथ-साथ मनुष्य का नैतिक उत्तर-ायित्व भी बढ़ता है।

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की उपस्थिति के कारण ही हम पहले से यह हीं कह सकते कि कौन सा व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में किस प्रकार ा आचरण करेगा। हम उसके आचरण का अनुमान मात्र लगा कते हैं। परन्तु इस प्रकार के अनुमान सब समय ठीक नहीं होते। हम वयं अपने ही विषय में पहले से नहीं जानते कि भविष्य में आने वाली वेभिन्न प्रकार की परिस्थितियों के समय हम कैसा आचरण करेंगे। साधारणतः हम वैसा ही आचरण करते हैं जिस प्रकार के आचरण का हमें अभ्यास होता है, अर्थात् जिस प्रकार का हमारा चरित्र होता है। परन्तु अभ्यास के द्वारा स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नियन्त्रित होना यह नहीं दर्शाता कि हम किसी बाहरी बन्धन से बँधे हुये हैं। अभ्यास का नियन्त्रण आत्म-नियन्त्रण ही है। हम अपने अभ्यास को ही कभी-कभी बदल देते हैं। ऐसी अवस्था में हमारे चरित्र में विप्लवकारी परिवर्तन हो जाता है।

स्वतन्त्र इच्छाशक्ति[1] और चरित्र[2]

स्वतन्त्रता का अर्थ—ऊपर हमने कहा है कि स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का अस्तित्व नैतिक आचरण के लिए अनिवार्य है। यह स्वतन्त्र इच्छाशक्ति क्या है और इसका मनुष्य के चरित्र से क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये गये हैं। एक मत के अनुसार स्वतन्त्र इच्छाशक्ति एक ऐसी वस्तु है जिसके विषय में हम यह नहीं कह सकते कि वह अमुक परिस्थिति में क्या करेगी। स्वतन्त्र इच्छाशक्ति मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य करने की शक्ति प्रदान करती है। स्वतन्त्र

1 Wile, 2 Character.

इच्छाशक्ति में किसी प्रकार की नियतता को स्थान नहीं। एक दूसरे मत के अनुसार स्वतन्त्र इच्छाशक्ति बाह्य परिस्थितियों से नियन्त्रित नहीं होती, किन्तु वह अपने आप से अवश्य नियन्त्रित रहती है। स्वतन्त्रता का अर्थ है आत्म नियन्त्रण। मनुष्य अपने आप के नियन्त्रण में वहीं तक रहता है जहाँ तक वह अपने ही बनाए सिद्धान्तों के ऊपर आचरण करता है। अपने बनाए नियमों के प्रतिकूल आचरण करना स्वतन्त्रता नहीं है, वरन् स्वच्छन्दता[1] है। जो मनुष्य इस प्रकार के आत्म नियन्त्रण[2] में अभ्यस्त हो जाता है वह एक विशेष प्रकार के स्वभाव का बन जाता है। आत्म नियन्त्रण के अभ्यास के द्वारा जो स्वभाव बनता है उसे चरित्र कहते हैं। इस प्रकार चरित्र मनुष्य के पूर्व अभ्यास का परिणाम है। यह पूर्व अभ्यास किसी विशेष प्रकार की परिस्थिति में विशेष प्रकार के निर्णय पर आने के लिए मनुष्य को प्रेरित करता है, अर्थात् मनुष्य अपने पूर्व अभ्यास के द्वारा अपने चरित्र द्वारा ही नियन्त्रित होने लगता है। चरित्र एक स्थायी वस्तु है। अतएव जब मनुष्य का चरित्र बन जाता है तो हम उसके निर्णयों के विषय में इतने अनिश्चित नहीं रहते जितने कि चरित्र न बने हुए व्यक्ति के निर्णय के विषय में अनिश्चित रहते हैं। इस तरह चरित्र की नियतता[3] स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का बन्धन नहीं है वरन् पूर्णता का परिचायक है।

चरित्र की नियतिता—मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति उसे सब प्रकार की नियतिता से मुक्त नहीं कर देती। यदि ऐसा हो तो हम किसी भी व्यक्ति के आचरण के विषय में कुछ भी अन्दाज न लगा सकेंगे। हमारा साधारण व्यावहारिक जीवन इसी प्रकार के अन्दाज के ऊपर निर्भर करता है। हम चरित्रहीन व्यक्ति के विषय में भले ही यह न कह सकें कि वह विशेष प्रकार की परिस्थितियों में कैसा आचरण करेगा, परन्तु साधारण चरित्रवान् व्यक्तियों के आचरण के विषय में हमारे अनुमान प्रायः ठीक निकलते हैं। हम जानते हैं कि एक व्यक्ति को किसी काम के लिए डाँटने-डपटने से उस

1 Licence, 2 Self-control, 3 Determinism.

काम को वह सावधानी के साथ करेगा और दूसरा व्यक्ति डाँटने-डपटने पर काम का करना छोड़ ही देगा। जिन बातों को सुनकर एक व्यक्ति के मन में मानसिक ग्लानि अथवा भय उत्पन्न होता है उन्हीं बातों को सुनकर दूसरे के मन में क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम मनुष्य के चरित्र को जान कर उसके आचरण के विषय में अन्दाज लगाते हैं कि किसी परिस्थिति में कोई व्यक्ति क्या करेगा। इस प्रकार का अनुमान लगाना इसलिए ही सम्भव है कि मनुष्य के जीवन में किसी न किसी प्रकार की नियतता काम करती है, अर्थात् मनुष्य अपने आचरण में इस प्रकार स्वतन्त्र नहीं है जिस प्रकार की स्वतन्त्रता स्वच्छन्द व्यक्ति चाहता है।

मनुष्य का जैसा चरित्र होता है उसकी इच्छाशक्ति भी उसी प्रकार कार्य करती है। चरित्र इच्छाशक्ति के पूर्व अभ्यास का परिणाम है। परन्तु यह उस इच्छाशक्ति का बन्धन भी है। पहले किया गया आचरण मनुष्य के वर्तमान आचरण का कारण बन जाता है। किसी प्रकार के आचरण के संस्कार मनुष्य के मन में रहते हैं। यही संस्कार मनुष्य के चरित्र के आधार होते हैं। एक बार जब मनुष्य किसी धर्म-संकट[1] में पड़ता है और वह जैसे मार्ग को चुनता है वैसे ही मार्ग के चुनने की उसमें प्रवृत्ति हो जाती है। जो मनुष्य धर्म-संकट के समय सरल और प्रिय मार्ग को छोड़ कर अप्रिय और कठिन मार्ग को ग्रहण करता है वह दूसरी बार भी प्रायः वैसा ही करता है। यदि कठिन मार्ग श्रेष्ठ है तो उसे ऐसे मार्ग पर चलना ही अच्छा लगता है। बार-बार अभ्यास करने पर कठिन मार्ग ही सरल हो जाता है और उस पर चलने से मनुष्य को कष्ट का अनुभव न होकर प्रसन्नता का अनुभव होता है। जो मनुष्य बार-बार कठिनाइयों का सामना करता है उसे कठिनाइयों का सामना करने का अभ्यास हो जाता है। इस अभ्यास के परिणाम स्वरूप वह कठिनाइयों को देखकर डरता नहीं। कठिनाइयों को देखकर उससे भागना

1 Moral situation.

यह मनुष्य का अस्वाभाविक स्वभाव है और कठिनाइयों को देखकर उनसे लड़ने के लिए तैयार हो जाना यह उसका प्राकृतिक स्वभाव है; यही चरित्र है। चरित्र मनुष्य की एक संचित शक्ति है। यह इच्छाशक्ति का ही दूसरा नाम है। जिस मनुष्य का चरित्र जितना ही सुगठित होता है उसकी इच्छाशक्ति भी उतनी ही सुदृढ़ होती है। चरित्रवान् व्यक्ति की इच्छाशक्ति संकटों के सामने आने पर डाँवाडोल नहीं होती, वरन् वह दृढ़ता से उनका सामना करती है।

इच्छाशक्ति से चरित्र का निर्माण होता है और फिर चरित्र किसी प्रकार के आचरण में इच्छाशक्ति को प्रभावित करता है। स्वतन्त्र आचरण का वास्तविक अर्थ यही है। इसी कारण से हम यह कह सकते हैं कि कोई चरित्रवान् व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में कैसा आचरण करेगा। स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता से भिन्न वस्तु है। स्वतन्त्र मनुष्य का चरित्र दृढ़ होता है और स्वच्छन्द मनुष्य का चरित्र निर्बल होता है। स्वच्छन्द व्यक्ति के आचरण में किसी प्रकार के सिद्धान्त कार्य नहीं करते। वह मनमौजी होता है और क्षणिक इच्छाओं के आवेगों में आकर काम करने लगता है। इसके प्रतिकूल चरित्रवान् व्यक्ति के जीवन के सिद्धान्त सुनिश्चित होते हैं। वह सदा इन सिद्धान्तों को अपने आचरण में चरितार्थ करता है। वह सदा अपने विवेक से काम लेता है और विवेक के प्रतिकूल मानसिक वेग का सदा दमन करता रहता है। इसी प्रकार की स्वतन्त्रता नैतिकता के लिए आवश्यक है। बिना आत्म-नियन्त्रण की शक्ति के, अर्थात् बिना चरित्र की नियतता के नैतिक आचरण सम्भव नहीं और बिना इस नियतता के नीति-शास्त्र अर्थहीन हो जाता है।

पशु, बालक और पागलों के आचरण पर किसी प्रकार का नैतिक आचरण नहीं किया जाता। नैतिक विचार की पूर्वमान्यता[1], मनुष्य में अपने विवेक के अनुसार कार्य करने की शक्ति है। चरित्र का निर्माण

1 Postulate.

विवेक के द्वारा होता है। एक बार जब चरित्र बन जाता है तो मनुष्य का आचरण चरित्र के अनुसार होने लगता है। जब मनुष्य के जीवन से उच्छृङ्खलता का लोप हो जाता है और उसका आचरण सुव्यवस्थित हो जाता है तभी हम उसके आचरण पर नैतिक दृष्टि से विचार कर सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिक विचार के लिए स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति की आवश्यकता है, पर यह स्वतन्त्र इच्छाशक्ति चरित्र की नियतता[1] को मानती है। एक ओर स्वतन्त्र इच्छाशक्ति चरित्र का निर्माण करती है और दूसरी ओर वह उसके नियन्त्रण में रहती है। चरित्र की नियतता स्वीकार करने से इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता का अपवाद नहीं होता। कहा जाता है कि दुराचारी मनुष्य एक दृष्टि से भला काम कर ही नहीं सकता और दूसरी दृष्टि से वह भला कार्य कर भी सकता है। दुराचारी मनुष्य का चरित्र ही उसके भले काम के करने में बाधक होता है अर्थात् उसका पूर्वाभ्यास ही उसके मार्ग का रोड़ा बन जाता है। पर इस चरित्र का निर्माण स्वयं उसने ही किया है। यह उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा निर्मित हुआ है। अतएव यह स्वतन्त्र इच्छाशक्ति उसके चरित्र में परिवर्तन भी कर सकती है। यह परिवर्तन एकाएक नहीं होता किन्तु अभ्यास के द्वारा अवश्य हो जाता है। इस प्रकार दुराचारी मनुष्य को भले काम से रोकने वाली उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। मनुष्य अपनी इच्छा से भला या बुरा आचरण करता है। मनुष्य का चरित्र उसके भले या बुरे काम करने में सहायक अथवा बाधक बनता है। परन्तु इस प्रकार की सहायता प्राप्त करना अथवा न प्राप्त करना अपने आप की ही सहायता प्राप्त करना अथवा ठगे खोना है। मनुष्य का चरित्र ही उसका स्वत्व है। यह उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति से भिन्न वस्तु नहीं। अतएव चरित्र की नियतता अपने आप की ही नियतता है।

1 Determinism of character.

इच्छा[1], हेतु[2], और संकल्प[3]

हेतु का अर्थ—नीति शास्त्र में मनुष्य की इच्छा, हेतु, और संकल्प की चर्चा आती है। इनमें से नैतिक विचार जिनके द्वारा किए जाते हैं, इन्हें निश्चय करने के लिए इनके स्वरूप के ज्ञान का होना आवश्यक है। हमने पिछले पृष्ठों में इच्छा के स्वरूप के विषय में बहुत कुछ बातें की हैं। इच्छाओं में अन्तर्द्वन्द्व होता है और इस द्वन्द्व के परिणाम स्वरूप एक इच्छा विजयी होकर चेतना के समक्ष कार्यान्वित होने के लिए रह जाती है तो हम उसे इच्छित कार्य का हेतु कहते हैं; अर्थात् हेतु वह इच्छा है जो किसी कार्य का प्रेरक हो। आधुनिक नीति शास्त्र के विद्वानों के अनुसार हेतु उस लक्ष्य का नाम है जिसे मनुष्य कार्य के द्वारा प्राप्त करने का विचार करता है। लक्ष्य के विचार का नाम हेतु है। आदर्शवादी नीति शास्त्रज्ञों ने हेतु की यही व्याख्या की है। इनके कथनानुसार हेतु में मनुष्य न केवल किसी चाह की अनुभूति करता है वरन् उसे यह भी ज्ञान रहता है कि उसकी यह चाह किस प्रकार से पूरी हो सकती है। हेतु में प्राप्त किए जाने वाले पदार्थ के भले और बुरे होने का ज्ञान भी रहता है। हेतु इस प्रकार विवेकयुक्त मानसिक प्रेरणा है। आदर्शवादी नीति शास्त्रज्ञ कार्य के उस प्रेरक को हेतु नहीं मानेंगे जिसका स्वयं कार्य कर्ता को ज्ञान न हो, अथवा जिसका ज्ञान हो परन्तु स्पष्टतः प्राप्त किये जानेवाले लक्ष्य का विचार न हो। इस प्रकार मनुष्य की इच्छाएँ ही उसके कार्यों का हेतु बन सकती हैं। हेतु वह इच्छा है जिसके साथ मनुष्य का स्वत्व आत्मसात् करता है और जिसके लिए मनुष्य प्रयत्न करने के लिए तैयार रहता है।

हेतु के विषय में इस विचार से भिन्न विचार अन्तः अनुभूतिवादी[4] नीति-शास्त्रज्ञों का है। ईसाई धर्म से प्रभावित दार्शनिकों ने मनुष्यों के कार्य के हेतु उनके भावों अर्थात् रागात्मक मनोवृत्तियों[5] को

1 Desire, 2 Motive, 3 Intention, 4 Intuitionist, 5 Emotions Feelings

माना है। मार्टिनो महाशय के कथनानुसार मनुष्य की अनेक प्रकार की रागात्मक वृत्तियाँ (भाव) ही उसके कार्यों की प्रेरक अथवा हेतु होती हैं। कोई मनुष्य काम से, कोई क्रोध से, कोई भय से, कोई प्रेम, दया, श्रद्धा इत्यादि मनोभावों से प्रेरित होकर किसी विशेष प्रकार के काम में लगता है इनमें से कुछ मनोभाव बुरे होते हैं और कुछ भले। कार्य का हेतु वह पदार्थ नहीं माना गया है जिसे प्राप्त करने की मनुष्य इच्छा करता है, वरन् कार्य के हेतु उक्त भाव ही माने गये हैं। यही मनुष्य के मन में किसी विशेष प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न करते हैं। कार्य के मूल प्रेरक यही हैं।

संकल्प—संकल्प[1] अथवा मन्तव्य, इच्छा और हेतु से भिन्न वस्तु है। हेतु[2] कार्य का प्रेरक[3] होता है और संकल्प उस कार्य के लिए साधन[4] उपस्थित करता है। मान लीजिए, कोई मनुष्य पैसा कमाना चाहता है। पैसा कई प्रकार से कमाया जा सकता है। कोई वाणिज्य-व्यवसाय करके पैसा कमाता है, कोई नौकरी करके कोई पुस्तक लिखकर और कोई लाटरी के द्वारा। पैसा कमाने का निश्चय करना, यह आगे होने वाली क्रिया का हेतु कहलाता है, किन्तु किस प्रकार से पैसा कमाया जाय यह उसके संकल्प की बात है। संकल्प में मनुष्य के इच्छित पदार्थ के प्राप्त करने के साधन का समावेश होता है। मनुष्य क्या करना चाहता है? इस प्रश्न का उत्तर उसके संकल्प को जानकर आता है। वह उस काम को क्यों करना चाहता है? इस प्रश्न का उत्तर उसके हेतु को जानने से आता है। इस प्रकार कार्य का वास्तविक प्रेरक हेतु है। संकल्प, हेतु के सफल बनाने का साधन मात्र है।

आधुनिक मनोविज्ञान में किसी कार्य के हेतुओं को दो प्रकार का माना है—ज्ञात और अज्ञात। आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य के भावों को ही कार्यों का वास्तविक हेतु मानता है। ये भाव कभी-कभी मनुष्य को ज्ञात रहते हैं और कभी-कभी वे उसकी चेतना की सतह के नीचे काम

1 Intention. 2 Motive. 3 Spring of action. 4 Means

करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में मनुष्य अपनी क्रियाओं के वास्तविक हेतुओं को स्वयं नहीं जानता। वह जिन हेतुओं को दूसरे लोगों के समक्ष अपने कार्यों का हेतु बताता है वे वास्तविक हेतु के आवरण मात्र होते हैं। सोलहवीं शताब्दी में कुछ पादरी लोग धार्मिक रूढ़ियों का विरोध करने वाले व्यक्तियों को जिन्दा जलवा देते थे। वे ऐसे कामों को वास्तव में द्वेष-वश करते थे किन्तु वे संसार के समक्ष बताते थे कि यह काम धर्म-पथ से विचलित होने वाले व्यक्तियों के प्रति दया भाव से प्रेरित होकर किया जा रहा है। सम्भवतः वे अपने इस प्रकार के हेतु की सचाई में विश्वास भी करते हों। उनका विचार था कि अधर्म पर चलने वाले लोगों को अन्तकाल तक नरक की यन्त्रणा भोगनी पड़ती है; इस यन्त्रणा से बचाने के लिए ही धर्म-पथ से विचलित लोगों को जला देना ही अच्छा है। इस तरह उन्हें थोड़ा कष्ट देकर महान् कष्ट से मुक्त कर दिया जाता था। कितने ही लोग कृपणता के कारण भिखारियों को दान नहीं देते अथवा अपने बच्चों पर ही पर्याप्त पैसा खर्च नहीं करते। परन्तु वे अपने इन कामों के लिए दूसरे ही हेतु बताते हैं। सम्भवतः भिखारियों को दान न देने वाले व्यक्ति देश में निकम्मे लोगों की संख्या न बढ़ने देने का ही हेतु अपने सामने रखते हों। इसी प्रकार बालकों में सादगी की आदत डालने के विचार से ही बहुत से धनी लोग उन्हें खर्च करने के लिए पर्याप्त पैसा नहीं देते, पर ये हेतु प्रायः वास्तविक हेतु के आवरण मात्र होते हैं। इस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान मनुष्य के कार्यों के आन्तरिक हेतु और ऊपरी हेतु में भेद करता है। एक हेतु को कार्य का प्रेरक[1] अथवा कारण कहा जाता है और दूसरे को उसका सबब[2] कहा जाता है। एक तात्त्विक वस्तु है और दूसरी बौद्धिक। कार्य का प्रेरक मनुष्य के भीतरी मन में रहता है और उसका सबब उसके बाहरी मन में रहता है। अधिकतर मनुष्य को अपने आन्तरिक हेतुओं का ज्ञान रहता है, इसलिये ही हेतु के आन्तरिक और बाहरी भागों में भेद नहीं

---

1 Motive. 2 Reason

किया जाता परन्तु कभी-कभी मनुष्य को अपनी क्रिया के आन्तरिक हेतु का ज्ञान नहीं रहता। ऐसी अवस्था में किसी कार्य के कारण और सबब का भेद स्पष्ट हो जाता है। कार्य की नैतिकता पर विचार करते समय साधारणतया मनुष्य के उसी हेतु पर विचार किया जाता है जिसका उसे ज्ञान है। मनुष्य के आन्तरिक हेतु पर विचार करना इतना सरल काम नहीं है।

आचरण में वातावरण और चरित्र का महत्त्व

आचरण क्या है?—ऊपर जो कुछ कहा गया है उसमें मनुष्य के आचरण के आन्तरिक कारणों पर प्रकाश पड़ता है। मनुष्य का आचरण उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य है। आचरण में मनुष्य का विवेक और आदर्श कार्य करते हैं। उसके सामने परिस्थितियाँ रहती हैं। वह कभी-कभी परिस्थितियों के अनुसार काम करता है और कभी उनसे लड़ता है। जैसा उसका विवेक सुझाता है उसी प्रकार वह काम करता है। मनुष्य का आचरण दूसरे प्राणियों के व्यवहारों से भिन्न वस्तु है। दूसरे प्राणी सदा प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। उनमें स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं होती। अतएव उनमें प्रकृति से लड़ने की योग्यता भी नहीं रहती। दूसरे प्राणियों के व्यवहारों में वह विवेक-शीलता नहीं दिखाई देती, जो मनुष्य के व्यवहारों मे दिखाई देती है। वे अपनी जन्मजात प्रवृत्तियों के अनुसार ही कार्य करते हैं। उनके लिए मानो प्रकृति ही उचित अथवा अनुचित का विचार करती है। पर मनुष्य स्वयं अपने कार्यों के उचितानुचित का [illegible] है। इसलिए मनुष्य के व्यवहारों को ही आचरण कहा [illegible]

प्रकृतिवादी नीति- [illegible] व्यवहारों को आचरण क[illegible] [illegible] आचरण कीड़े-मकोड़ों के [illegible] भोजन इकठा

कर लेती है तो उसके आचरण की संज्ञा दी जाती है। यहाँ उसके का निर्माण, प्राणी के जीवन में महत्त्व देना ही मान लिया गया है इसी प्रकार मनुष्य की उन क्रियाओं को भी आचरण कहा जाता जिनमें वह अपनी प्राकृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए का करता है।

आधुनिक काल के प्रगतिशील नीति-शास्त्रज्ञ, प्रकृतिवादियों के आचरण की इस परिभाषा को नहीं मानते। उनके मतानुसार जहाँ इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता नहीं, वहाँ आचरण की भी सम्भावना नहीं है। आचरण मनुष्य की उन्हीं क्रियाओं का नाम है जिनमें स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का कार्य होता है। मनुष्य से भिन्न प्राणियों में स्वतन्त्र इच्छाशक्ति नहीं होती। अतएव उनके व्यापारों को आचरण कहना नीति शास्त्र की दृष्टि से महान् भूल है।

आचरण में वातावरण का कार्य—हमने ऊपर बताया है कि मनुष्य के आचरण में उसकी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति अथवा उसके चरित्र का ही प्रधान कार्य होता है। चरित्र इच्छा शक्ति का संचित रूप है। प्रकृतिवादी नीति शास्त्रों का मत है कि मनुष्य का आचरण उसके चरित्र और वातावरण का परिणाम है। जिस प्रकार मनुष्य का आचरण उसके चरित्र से स्वतन्त्र सम्भव नहीं, इसी प्रकार वह वातावरण से भी स्वतन्त्र नहीं हो सकता। मनुष्य का चरित्र भी इस सिद्धान्त के अनुसार उसके वातावरण का परिणाम है।

यदि हम इस दृष्टि को स्वीकार कर लें तो फिर हम किसी व्यक्ति के आचरण को न तो भला और न बुरा कह सकते हैं। यदि "भला आचरण" और "बुरा आचरण" ऐसे शब्दों का हम प्रयोग भी करें तो हम भला आचरण करने वाले व्यक्ति की न तो प्रशंसा कर सकेंगे और न बुरा आचरण करने वाले की निन्दा। हमें फिर मानना पड़ेगा कि अनुकूल वातावरण में पड़ने के कारण कोई मनुष्य अच्छा आचरण करता है और प्रतिकूल वातावरण में पड़ने के कारण वही मनुष्य बुरा आचरण

कारीगर इमारत के तैयार करने में करते हैं वही कार्य इच्छाशक्ति चरित्र के निर्माण में करती है। वह वातावरण को अपने ही ढंग से काम में लाती है।

जिस प्रकार चरित्र-निर्माण में वातावरण सहकारी कारण का कार्य करता है, उसी प्रकार वह मनुष्य के किसी विशेष आचरण में भी सहकारी, परन्तु परतन्त्र रूप से, कार्य करता है। हम देखते हैं कि एक ही वातावरण का प्रभाव सभी लोगों पर एक सा नहीं पड़ता। मनुष्य का जैसा चरित्र होता है उसे वातावरण उसी प्रकार प्रभावित करता है। अन्धेरे में एक पेड़ के ठूँठ को देखकर डरपोक बालक भयभीत हो जाता है और और भागने की चेष्टा करने लगता है। इसके प्रतिकूल वीर-बालक उस ठूँठ से घबड़ाता नहीं; वह उसके पास जाकर वास्तविकता को जानने की चेष्टा करता है। कोई मनुष्य धन के प्रलोभन से झूठ बोल देता है तो कोई इस प्रकार के प्रलोभन से बिल्कुल चलायमान नहीं होता। वह प्रलोभन देने वाले से ही क्रुद्ध हो जाता है। कायर मनुष्य रण से भागता है और वीर पुरुष रण में न केवल अपने ही लड़ता है परन्तु दूसरों को भी प्रोत्साहित करता है।

इस भाँति हम देखते हैं कि एक ही प्रकार का वातावरण मनुष्य के चरित्र-भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के आचरण का कारण बन जाता है। किसी विशेष प्रकार का वातावरण मनुष्य के आचरण को किस प्रकार प्रभावित करेगा, यह उसके चरित्र पर ही निर्भर करता है, और यह चरित्र वातावरण का परिणाम नहीं वरन् मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य है। शरीर और बुद्धि की तीक्ष्णता मनुष्य को उसके माता-पिता से मिलती है, परन्तु उसे अपना चरित्र अपने आप ही बनाना पड़ता है। जैसा कि कान्ट महाशय ने बताया है, भौतिक दृष्टि से मनुष्य परजात है और आध्यात्मिक दृष्टि से वह आत्मजात[1] है।

अब हम मनुष्य के वातावरण पर ही विचार करते हैं तो सभी प्रकार

1 Self-created.

के वातावरण को नैतिक दृष्टि से महत्त्व का नहीं पाते। मनुष्य के आचरण को प्रभावित करने वाला वातावरण भौतिक वातावरण नहीं, वरन् सामाजिक और विचारों का वातावरण है। मनुष्य किसी काम के करने में कुछ लोगों को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है, कुछ के द्वारा प्रोत्साहित होता है और कुछ के द्वारा हतोत्साहित होता है। ये सब बातें उसके आचरण का कारण बनती हैं, पर यदि हम इन बातों को दार्शनिक दृष्टि से देखें तो उन्हें हम अपने द्वारा ही निर्मित पावेंगे। मनुष्य अपने सम्बन्धियों और मित्रों की सलाह कहाँ तक मानेगा, उनको सन्तोष देने की कहाँ तक चेष्टा करेगा, यह उसके चरित्र पर निर्भर करता है। जैसा मनुष्य का चरित्र होता है वह अपने वातावरण को भी वैसा ही बना लेता है।

मान लीजिए, किसी कारणवश कोई व्यक्ति हमें गाली दे देता है। इस गाली को हम सह लेते हैं। और गाली देने वाले व्यक्ति को नासमझ जानकर क्षमा कर देते हैं। इसी तरह हमको कहीं बिना परिश्रम के धन मिल जाता है। हम इस धन को दान में दे देते हैं। हम अपनी इन क्रियाओं से एक प्रकार का वातावरण तैयार करते हैं। यदि हम क्रोध में आकर अपने गाली देने वाले व्यक्ति को तमाचा मार देते हैं, अथवा मुफ्त में पाए हुए धन को अपने ही काम में ले आते हैं, तो हम इन क्रियाओं के द्वारा दूसरे प्रकार के वातावरण का निर्माण कर लेते हैं। हम गाली देने वाले को तमाचा मारेंगे अथवा नहीं, मुफ्त में मिले धन को दान में देंगे अथवा अपने आप खर्च करेंगे—यह हमारे चरित्र के ऊपर निर्भर करता है। इस प्रकार हमारा चरित्र ही हमारे शत्रु और मित्र का निर्माण करता है और फिर प्रतिकूल और अनुकूल परिस्थितियों को हमारे समक्ष उपस्थित करता है। इस प्रकार हमारा वातावरण वास्तव में हमारे ही द्वारा अर्थात् हमारे चरित्र के द्वारा निर्मित होता है। नीति-शास्त्र के विद्वान् मेकेन्झी महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि मनुष्य का आचरण उसके चरित्र और वातावरण का परिणाम

नहीं है, किन्तु यह वातावरण में प्रकाशित चरित्र का ही परिणाम है। आदर्शवादी विचार-धारा के अनुसार आचरण में प्रधान वस्तु वातावरण नहीं है, वरन् चरित्र है। यही मत हमें युक्तिसंगत दिखाई देता है।

चौथा प्रकरण

मनुष्य की क्रियाओं के हेतु[1]

दो विरोधी विचार

मनुष्य की क्रियाओं के हेतु के विषय में दो विरोधी विचार हैं। एक विचार के अनुसार मनुष्य की सभी क्रियाओं का हेतु सुख की इच्छा होती है और दूसरे विचार के अनुसार उसकी क्रियाओं का हेतु उसका ज्ञान होता है। पहले प्रकार के विचार को मनोवैज्ञानिक सुखवाद[2] कहा जाता है और दूसरे प्रकार के विचार को विचारवाद[3] कहते हैं। इन दोनों विचारधाराओं का जानना और उन पर विवेचन करना नीति-शास्त्र की अनेक जटिल समस्याओं को हल करने के लिये आवश्यक है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद

बेन्थम महाशय की युक्ति— मनोवैज्ञानिक सुखवाद के प्रमुख प्रवर्त्तक बेन्थम और मिल महाशय हैं। जेरेमी बेन्थम महाशय अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रिन्सपिल्स आफ लेजिसलेशन' के प्रथम प्रकरण में निम्न लिखित युक्तियाँ मनोवैज्ञानिक सुखवाद को सिद्ध करने के लिये देते हैं—

"प्रकृति ने हमें सुख और दुःख के राज्य में रख दिया है। हमारे सभी विचार इन्हीं के कारण उत्पन्न होते हैं। हम अपने सभी निर्णयों और निश्चयों को उन्हीं के अनुसार बनाते हैं। जो इस अनुशासन से मुक्त रहने की बात कहता है वह नहीं जानता कि मैं क्या कह रहा हूँ। उसका उद्देश्य एक ही होता है सुख को ग्रहण करना और दुःख से मुक्ति पाना। जब वह अधिक से अधिक सुख का त्याग करता है और कठिन दुःख को स्वीकार करता है तब भी उसकी क्रिया का हेतु उपर्युक्त ही

1 Motives, 2 Psychological hedonism, 3 Rationalism.

होता है। नीति शास्त्र पर विचार करने वाले और कानून बनाने वाले विद्वानों का कर्तव्य है कि वे इन दो भावों (अर्थात् सुख की चाह और दुःख से मुक्त होने की इच्छा) का भली प्रकार से अध्ययन करें। उपयोगितावाद[1] का सिद्धान्त मनुष्य के सभी कामों को इन दो प्रेरकों[2] (हेतुओं) के अधीन कर देता है"। *

उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि भले और बुरे, साधु और भोगी, सभी लोगों के कामों का हेतु सुख की इच्छा और दुःख से बचने की चाह होती है। इस मत के प्रतिकूल जो बात कहता है वह असंगत बात करता है। कोई व्यक्ति यदि किसी महान् सुख का त्याग करता है तो उससे अधिक सुख मिलने की आशा से; इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी प्रकार के कष्ट को उठाता है तो सुख प्राप्ति की आशा से करता है।

मिल की युक्ति—उक्त सुखवाद के सिद्धान्त का समर्थन जान स्टूअर्ट मिल महाशय ने अपनी "यूटिलिटेरियनिज़म" पुस्तक में किया है। यहाँ उनके विचार उल्लेखनीय हैं –

यह निश्चय करने के लिये कि सचमुच मनुष्य मात्र उसी बात को चाहता है जिसमें उसे सुख मिलता है और जिसमें दुःख का अभाव रहता है, हमें वास्तविकता को देखना पड़ेगा और यह प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर ही निर्भर करता है। इसे हम अपने आत्म-निरीक्षण

---

1 Utilitarianism 2 Motives

* "Nature has placed man under the empire of *pleasure and pain*. We owe to them all our ideas, we refer to them all our judgments, and all the determinations of our life. He, who pretends to withdraw from this subjection knows not what he says. His only object is to seek pleasure and to shun pain, even at the very instant that he rejects the greatest pleasures or embraces the most acute pain. These eternal and irresistible sentiments ought to be the great study of the moralis and the legislator. The principle of utility subjects every thing to these two motives."—*Principles of Legislation Chap. I.*

ौर दूसरे व्यक्तियों के आत्म-निरीक्षण की सहायता से निश्चित कर सकते । मेरा विश्वास है कि इन दो प्रमाणों पर पक्षपात रहित विचार करने अवश्य निश्चित हो जायगा कि किसी वस्तु की इच्छा करना, से सुखद पाना, उससे भागना और उसको दुःखद सोचना एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते, अर्थात् ये एक ही घटना के दो भाग हैं; एक ही मनोवैज्ञानिक सत्य को दो प्रकार से कहने की विधियाँ हैं। किसी वस्तु को इच्छा के योग्य मानना और उसे सुखद मानना एक ही बात है। किसी वस्तु को, उसके सुख के विचार के अतिरिक्त किसी और कारण से, इच्छा करना भौतिक और तात्विक दृष्टि से असम्भव है"। *

सुखवाद की आलोचना - मिल महाशय के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि मनुष्य के कार्यों का हेतु सुख की चाह के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता। सुख प्राप्ति के अतिरिक्त किसी दूसरे हेतु से काम करना मनुष्य के लिये मनोवैज्ञानिक असम्भवता है। इस सत्य का प्रमाण अपने विचारों का निरीक्षण मात्र है। इस निरीक्षण की योग्यता अभ्यास से आती है। अब हमें विचार करना है कि क्या मनुष्य के सभी कार्यों का हेतु सुख की चाह होती है और क्या मनुष्य सुख की इच्छा से किसी स्थिति में भी अपने आपको मुक्त नहीं कर सकता?

---

* "And to decide whether it is really so, whether mankind do desire nothing for itself but that which is a pleasure to them, or of which the absence is a pain we have evidently arrived at a question of fact and experience, dependent, like all similar questions, upon evidence. It can only be determined by observation of others. I believe that these sources of evidence, impartially consulted, will declare that desiring a thing and finding it pleasant, aversion to it and thinking of it as painful, are phenomena entirely inseparable or rather two parts of the same phenomenon in strictness of language, two different modes of naming the same psychological fact, that to think of an object as desirable (except for the sake of its consequence) and to think of it as pleasant are one and the same thing; and that to desire any thing except in proportion as the idea of it is pleasant is a physical and metaphysical impossibility."—*Utilitarianism*

सुख और संतोष का ऐक्य—सुखवादियों ने सुख और आत्म सन्तोष का ऐक्य कर दिया है। यह कथन सत्य है कि मनुष्य आत्म सन्तोष के लिये सभी काम करता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह सुख के लिये सब कुछ करता है। मनुष्य जब कोई काम करता है तो उसे सुख अवश्य होता है, परन्तु इस सुख को ही कार्य का हेतु बनाकर काम करने से सुख की प्राप्ति के बदले सुख का विनाश हो जाता है। मान लीजिये, कोई खिलाड़ी किसी खेल में भाग इसलिए लेता है कि उससे उसको सुख प्राप्त होगा। क्या वह खेल के सुख की वास्तविक अनुभूति को सुख-प्राप्ति की चिन्ता से विनाश नहीं कर लेता? यदि वह बार बार सोचता रहे कि उसे सुख प्राप्त हुआ अथवा नहीं तो वह ठीक से खेल ही न सकेगा और उसके सुख की प्राप्ति की जगह सुख का विनाश मिलेगा। जिस प्रकार खेल का सुख उसके विषय में चिन्ता करने से नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार कलाकार, लेखक और समाज सेवा के किसी काम में लगे हुए व्यक्ति का सुख इन कामों से प्राप्त होने वाले सुख के विषय में चिन्ता करने से नष्ट हो जाता है। जो व्यक्ति अपने काम से होने वाले सुख के बारे में जितना चिन्तित रहता है वह अपने सुख का उतना ही अधिक विनाश करता है।

सुखवादियों के अनुसार निःस्वार्थ परोपकार का काम करना संभव ही नहीं। जो कुछ काम किया जाता है वह अपने सुख के लिये किया जाता है। इस सुख का स्वरूप क्या है? यह बाह्य पदार्थ की प्राप्ति होने पर संवेदनाओं की अनुभूति रूप कहा गया है। पर यह देखा जाता कि देशभक्त अपने देश के कल्याण हेतु, अथवा स्वतन्त्रता के लिये, फाँसी के तख्ते पर प्रसन्नता से चढ़ जाता है। उसे फाँसी के तख्ते पर चढ़ने से कौन सा सुख प्राप्त होता है और किस भावी सुख की आशा से वह अपने प्राण की बलि देता है? जब उसका अस्तित्व ही न रहेगा तो उसे कौन सा सुख होना सम्भव है!

विचारजन्य सुख की विशेषता—सम्भव है कि उक्त तर्क के

उत्तर में यह कहा जाय कि उसे अपने देश को स्वतन्त्र होने का विचार सुख देता है। पर इस उत्तर का अर्थ यही होता है कि मनुष्य को सुख के त्याग से भी सुख होता है। यह सुख कैसा जो उसके त्याग से उत्पन्न हो? वास्तव में विचारजन्य सुख को आत्म-सन्तोष नाम देना उचित है। मनुष्य सभी काम आत्मसंतोष के लिये करता है। किसी व्यक्ति का आत्म-संतोष भोग्य पदार्थों की प्राप्ति में होता है और किसी का आत्म संतोष उनके त्याग से होता है। जो व्यक्ति किसी प्रकार के उपवास का व्रत रखता है, उसे उपवास के दिन भोजन कर लेने से शारीरिक सुख तो होता है, पर तुरन्त ही उसे आत्म-ग्लानि का दुःख होने लगता है। इस दुःख का साधारण दुःख से साम्य नहीं किया जा सकता। यह दुःख आध्यात्मिक असन्तोष है।

आन्तरिक अशान्ति की वास्तविकता—हमारे देखने में कई व्यक्ति ऐसे आते हैं जो धन-मान से सम्पन्न हैं, जिनका शरीर स्वस्थ है, परन्तु जिन्हें आन्तरिक अशान्ति है। उन्हें किसी प्रकार के काम को करने की इच्छा ही नहीं होती। खाने-पीने, पहिनने-ओढ़ने के सुख उन्हें सुखरूप नहीं दिखाई देते; वे सदा बेचैन रहते हैं। जैसे कोई अपनी खोई वस्तु के लिये बेचैन रहे वे उसी प्रकार बेचैन अथवा मानसिक अशान्ति की अवस्था में रहते हैं। उनके जीवन में सुखों की कमी नहीं, पर उन्हें सुख सुखरूप दिखायी नहीं देते। ये उन्हें दुःखरूप अथवा भाररूप दिखाई देते हैं। वास्तव में सुख की चाह भी तभी उत्पन्न होती है जब मनुष्य में आध्यात्मिक शान्ति रहती है।

अपने और पराये के सुख में भेद—कितने ही व्यक्ति अपने सुख की कल्पना के कारण किसी काम में प्रवृत्त होते हैं और कितने ही दूसरे लोगों के सुख की कल्पना के कारण उसमें प्रवृत्त होते हैं। दूसरे व्यक्तियों का सुख अपने लिये उसी प्रकार सुख नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार सुख के भोक्ताओं के लिए वह सुख है। दूसरों का सुख हमारे मन में सन्तोष भले ही उत्पन्न करे, पर वह इन्द्रिय-सुख नहीं देता। यह

सन्तोष¹ विवेक का संतोष है। जब मनुष्य अपना कर्तव्य करता है अर्थात् विवेकानुकूल अपना आचरण बनाता है तो उसे आत्म-संतोष प्राप्त होता है। यही आत्म-संतोष उच्च श्रेणी के लोगों के कार्यों का हेतु होता है।

विवेकशीलता² मानव स्वभाव की विशेषता—जब कोई सुखवादी कहता है कि कोई भी व्यक्ति सुख के अतिरिक्त दूसरे किसी हेतु से प्रेरित होकर काम नहीं करता तो वह मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं करता। पशु सदा विषय सुख से ही प्रेरित होकर किसी प्रकार की क्रिया में लगता है। मनुष्य में विचार शक्ति है। इसके कारण जिस काम में पशु को सुख होता है उससे मनुष्य को कभी सन्तोष और कभी असन्तोष होता है। अपने विवेक के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य को सन्तोष न होकर असन्तोष ही होता है। इस तरह हम देखते हैं कि जहाँ तक मनुष्य अपने आचरण में मानवता को प्रदर्शित करता है विषयसुख की ओर न दौड़कर विचार से उत्पन्न संतोष के लिये ही काम करता है।

"सुख" और उसका पर्यायवाची अंगरेज़ी शब्द "हैपीनेस" ऐसे शब्द हैं जो दो विभिन्न अर्थ के काम में आते हैं। सुख तथा "हैपीनेस" का साधारण अर्थ विषय सुख होता है। पर आत्म-सन्तोष वास्तव में विषय सुख से भिन्न वस्तु है। आत्म-सन्तोष मनुष्य के विचारों पर निर्भर करता है और सुख बाह्य पदार्थों की उपस्थिति पर। सुख में त्याग की कल्पना को स्थान नहीं, पर आत्म-सन्तोष में त्याग की कल्पना को स्थान है। सुख की उत्पत्ति किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति से होती है और आत्म-सन्तोष आत्मा की पूर्णता के ज्ञान से होता है। आत्म-सन्तोष न केवल विषयों के अभाव से नष्ट हो सकता है वरन् नैतिकता में कमी की अनुभूति से भी नष्ट हो जाता है।

विवेकवाद³ का सिद्धान्त

विवेकवादियों के अनुसार मनुष्य के कार्यों का हेतु उसका ज्ञान

1 Satisfaction, 2 Reason, 3 Rationalism,

होता है। मनुष्य जिस विषय के बारे में जानता है उसी की प्राप्ति की वह चेष्टा भी करता है, जिसके बारे में वह जानता नहीं वह उसके कार्यों का हेतु नहीं बन सकता। मनुष्य विषय-सुख के लिये इसलिये सदा इच्छुक रहता है कि इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपादेय पदार्थ वह जानता ही नहीं। जब मनुष्य को विषय-सुख की ओर जाने के दुष्परिणाम का ज्ञान होता है, जब वह विषय-सुख को झूठा अथवा भ्रमात्मक समझने लगता है तब वह उसकी ओर नहीं दौड़ता। जब उसे आध्यात्मिक बातों का ज्ञान होता है तब वह आध्यात्मिक मूल्यों को प्राप्त करने की चेष्टा करता है।

यूनान के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता महात्मा सुकरात का यह कथन है कि ज्ञान ही सद्गुण है, उक्त सिद्धान्त का आधार है।* महात्मा सुकरात का कथन है कि मनुष्य किसी व्यसन में इसलिये पड़ता है कि वह उस व्यसन से होने वाली बुराइयों को नहीं जानता। दूसरे उसे ऐसी दूसरी भली वस्तु का ज्ञान ही नहीं जिसकी प्राप्ति के लिये वह चेष्टा करे। यदि मनुष्यों को सुशिक्षित बनाया जाय, उनके समक्ष सदा आध्यात्मिक विषयों की चर्चा की जाय तो वे कदापि दुराचारी न बनें। सुकरात ने इस सिद्धान्त को अपने जीवन में पूर्णतः चरितार्थ किया। वह सदा आध्यात्मिक विचारों में ही निमग्न रहता था। जो व्यक्ति उसके पास आता था उससे वह सदा सदासद् विवेक की ही चर्चा करता था। वह यूनान के नवयुवकों से सदा घिरा रहता था; राह में चलते हुए भी वह गम्भीर से गम्भीर दार्शनिक विषयों पर उनसे विचार-विनिमय करता था और उन्हें जीवन को सफल बनाने का मार्ग सुझाता रहता था। उसके उपदेश के परिणाम स्वरूप बहुत से धनी घर के युवकों ने धन कमाने का व्यवसाय छोड़ दिया और अपना जीवन सत्य विषय के लिये अर्पण कर दिया। ऐसे शिष्यों में प्लेटो (अफलातून) महाशय का नाम अग्रगण्य है।

सुकरात के उक्त सिद्धान्त का समर्थन जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक और शिक्षा-वैज्ञानिक हरबार्ट महाशय ने भी किया है। उनके कथना-

* Knowledge is virtue

नुसार बालकों के चरित्र गठन के लिये उन्हें सुन्दर नैतिक बातें सिखाना आवश्यक है। उनकी पढ़ाई के विषयों में नैतिक विचारों का बाहुल्य होना चाहिये। विचार से किसी विषय में 'रुचि' उत्पन्न होती है, यह रुचि आचरण का कारण बनती है और आचरण से चरित्र बनता है। अतएव किसी व्यक्ति का आचरण और चरित्र सुधारने के लिये उसे भले विचार देना आवश्यक है। इस कथन का सारांश यही है कि मनुष्यों के कार्यों का हेतु विचार ही होता है।

उक्त कथन कुछ मौलिक सत्य को प्रदर्शित करता है। मनुष्य की इच्छाएँ बनने में विचार का प्रधान स्थान रहता है। पशुओं की चाह और मनुष्यों की इच्छा में यही भेद है कि पशु उचित अनुचित का विचार नहीं करता मनुष्य इसका विचार करता है। पर केवल विचार किसी क्रिया का हेतु नहीं होता। विचार क्रियात्मक मनोवृत्ति को एक ओर अथवा दूसरी ओर मोड़ सकता है, वह अपने आप क्रिया का हेतु नहीं बन सकता।

विज्ञान वादियों के विचारानुसार ज्ञान उत्पन्न होना मात्र किसी क्रिया का का-हेतु होने के लिये पर्याप्त है, पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। मनुष्य एक बात को सही मानता है पर करता दूसरी ही है। यदि ज्ञान ही क्रिया का हेतु बन जाता तो नैतिकता की मौलिकता का ज्ञान होने पर मनुष्य अनैतिक आचरण कदापि नहीं करता। पर देखा गया है कि जो लोग अनेक प्रकार के दर्शन के विद्वान् होते हैं वे अवसर आने पर अपने आप को किसी विशेष प्रकार के प्रलोभनों से नहीं रोक पाते। प्रलोभनों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिये अभ्यास की आवश्यकता होती है।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि हमारे कार्यों का हेतु हमारी क्रियात्मक मनोवृत्ति ही होती है। इस मनोवृत्ति को विशेष प्रकार का रूप विचार देता है। विचार मनुष्य की पाशविक वासनाओं को विवेकपूर्ण इच्छाएँ बनाता है और इस प्रकार सदाचार का कारण बनता है।

1 Satisfact.

मार्टीनो महाशय का सिद्धान्त

कार्य-स्रोत[1] की कल्पना—मर्टीनो महाशय के कथनानुसार मनुष्य के सभी कार्यों के हेतु उसकी जन्मजात अथवा अर्जित प्रवृत्तियाँ होती हैं। इन प्रवृत्तियों को मार्टीनो ने "कार्य स्रोत" कहा है। ये स्रोत दो प्रकार के होते हैं—प्राथमिक[2] और संस्कारिक[3]। प्राथमिक कार्य-स्रोत वे हैं जो हमे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति अथवा मूल प्रवृत्तियों की तृप्ति के लिये कार्य में प्रेरित करते हैं। इनके लक्ष्य पहले से निश्चित नहीं रहते। इन प्रवृत्तियों में विचार का स्थान नहीं रहता। जीवन के पहले-पहल के कार्य इन्हीं के द्वारा प्रेरित रहते हैं।

संस्कारिक कार्यों के स्रोत वे हैं जो पूर्व निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मनुष्य को प्रेरित करते हैं। प्राथमिक कार्य स्रोत ही अनुभव और संस्कारों के द्वारा बदल कर संस्कारिक कार्य स्रोत बन जाते हैं। इनके द्वारा इच्छित क्रियाएँ होती हैं। जब किसी प्राथमिक प्रवृत्ति के अनुसार काम करने से किसी सुख की प्राप्ति हो जाती है तो उस प्रवृत्ति और सुख में एक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इस सम्बन्ध के कारण हम प्रायः उसी प्रकार के काम करने की प्रेरणा अपने भीतर पाते हैं। जब अपने अनुभव के द्वारा इस प्रकार प्राथमिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन हो जाता है तो नये कार्यों के स्रोत का निर्माण होता है। इन्हें द्वितीय वर्गीय अथवा संस्कारिक कार्य-स्रोत कहा जाता है।

मार्टीनो महाशय ने इन दो प्रकार के कार्य-स्रोतों का फिर से चार विभागों में वर्गीकरण किया है। विभिन्न प्रकार के लक्ष्य की दृष्टि से प्रत्येक कार्य-स्रोत चार प्रकार के हैं—(१) राग, (२) द्वेष, (३) प्रेम और (४) स्थायी भाव।

1 Springs of action. 2 Primary. 3 Secondary

राग उस मानसिक प्रवृत्ति का नाम है जो मनुष्य को किसी विशेष विषय की ओर जाने की प्रेरणा उत्पन्न करती है—यह दो प्रकार का है एक प्राथमिक और दूसरा सांस्कारिक। प्राथमिक राग भोजन की इच्छा, कामेच्छा और शारीरिक क्रिया की इच्छा में प्रकाशित होते हैं और ये उनके उपयुक्त विषयों की प्राप्ति के लिये चेष्टा करने का कारण बनते हैं। सांस्कारिक राग मनुष्य में पेटूपन, विलासिता, पैसे का लोभ और खेल की प्रवृत्ति का रूप ले लेते हैं। ये वास्तव मे प्राथमिक राग के परिवर्तन के परिणाम मात्र हैं।

द्वेष उस मानसिक प्रवृत्ति का नाम है जिसके कारण मनुष्य किसी दुःखदायी पदार्थ से विरत होता है। प्राथमिक द्वेष सहज प्रवृत्ति का रूप लेता है और सांस्कारिक द्वेष अनुभव के बाद उत्पन्न होते हैं। प्राथमिक द्वेष घृणा, क्रोध और भय हैं; संस्कार जन्य द्वेष हिंसा, प्रतिशोध और सदेह के भाव हैं। घृणा हिंसा भाव को उत्पन्न करता है, क्रोध प्रतिशोध के भाव को और भय सन्देह को।

प्रेम का भाव किसी व्यक्ति की ओर हमें ले जाता है। यह भी दो प्रकार का होता एक प्राथमिक और दूसरा संस्कारजन्य, अर्थात् सहज प्रेम और अर्जित प्रेम। मार्टीनो महाशय ने सहज प्रेम को निःस्वार्थ प्रेम बताया है और अर्जित प्रेम को स्वार्थी। सहज प्रेम दूसरे व्यक्ति के प्रति आत्मीयता के भाव की अनुभूति से प्रेरित होता है और अर्जित प्रेम उनसे प्राप्त होने वाले सुख के भाव से प्रेरित रहता है—मातृ-भाव, समाज भाव और करुणा प्राथमिक प्रेम के रूप हैं और बाल-रमण, समाज-रमण और दीन-रमण के भाव अर्जित प्रेम के रूप हैं।

स्थायी भाव वे प्रवृत्तियाँ हैं जो मनुष्यों में किसी प्रकार के आदर्शों की प्राप्ति की प्रेरणा उत्पन्न करती हैं। ये भी दो प्रकार की हैं-प्राथमिक और संस्कारजन्य। प्राथमिक स्थायी भाव तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक। इनके कारण मनुष्य में तीन प्रकार के आदर्शों की ओर प्रवृत्ति होती है। ज्ञानात्मक स्थायी भाव आश्चर्य

है, यह सत्य की प्राप्ति की प्रेरणा उत्पन्न करता है; भावात्मक स्थायी भाव प्रशंसा है, यह सौन्दर्य की प्राप्ति की प्रेरणा उत्पन्न करता है, क्रियात्मक स्थायी भाव श्रद्धा है यह मनुष्य को शिव अर्थात् भलाई की ओर जाने की मनुष्य में प्रेरणा उत्पन्न करता है और बुराई से उसे विरत करता है। अर्जित स्थायी भाव विद्या-प्रेम, कला-प्रेम और धर्म-प्रेम के भाव हैं। ये प्राथमिक स्थायी भावों से उत्पन्न हुए हैं। इनमें अपने सुख के ध्यान से मनुष्य किसी प्रकार के उद्योग में लगता है।

इनके अतिरिक्त कुछ प्रवृत्तियाँ अर्थात् कार्य स्रोत ऐसे हैं जिनमें प्राथमिक और सांस्कारिक प्रवृत्तियों का मिश्रण होता है--जैसे स्पर्धा, लोक-प्रशंसा आदि के भाव।

मार्टीनो के सिद्धान्त की समालोचना—मार्टीनो महाशय के सिद्धान्त में मुख्य दो दोष हैं, एक मनोवैज्ञानिक और दूसरा नीतिशास्त्र सम्बन्धी। मार्टीनो ने बहुत सी अर्जित प्रवृत्तियों को प्राथमिक अथवा जन्मजात प्रवृत्तियाँ मान लिया है। आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से मार्टीनो महाशय का कार्य स्रोतों का उक्त वर्गीकरण अवैज्ञानिक है। किसी प्रकार के स्थायी भाव को जन्मजात प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता। मार्टीनो ने जिस प्रकार राग, द्वेष और प्रेम की प्रवृत्तियों को दो विभागों में विभाजित किया है; इसी प्रकार उन्होंने स्थायी भावों को भी दो भागों में विभक्त किया है। परन्तु आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य के सभी स्थायी भाव अर्जित होते हैं। मार्टीनो के वर्गीकरण में दूसरी अनेक प्रकार की भी भूलें हैं। मार्टीनो ने मूल प्रवृत्तियों और उनसे सम्बन्धित उद्वेगों का मिश्रण कर दिया है। इनके वर्गीकरण का दूसरा दोष नीतिशास्त्र सम्बन्धी है। इन्होंने सभी प्रकार की प्रवृत्तियों को एक ही वर्ग में रख दिया है। मनुष्य में कुछ प्रवृत्तियाँ सुखात्मक होती हैं और कुछ आदर्शात्मक। अपने शरीर की रक्षा अथवा उसके सुख से सम्बन्ध रखनेवाली प्रवृत्तियाँ एक प्रकार की होती हैं और आदर्शात्मक प्रवृत्तियाँ दूसरे प्रकार की। मार्टीनो महाशय ने चतुराई और विवेक के भेद को स्पष्ट नहीं किया।

चतुराई सुख-प्राप्ति का साधन होता है और विवेक शीलता नैतिक आदर्श-प्राप्ति का। मनुष्य में चतुराई का आना स्वाभाविक है; यह प्राकृतिक रूप से आती है; किन्तु नैतिकता के लिये मनुष्य को अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करना पड़ता है। यह सामान्य प्रकृति के प्रतिकूल आचरण करने से आती है। चतुराई की वृद्धि के लिये त्याग और तपस्या की आवश्यकता नहीं होती, पर त्याग और तपस्या के बिना नैतिकता का विकास सम्भव नहीं। नैतिकता का उदय महान् प्रयत्न का परिणाम है। नैतिकता का विकास विचार अथवा विवेक के विकास के साथ साथ होता है। बिना विचार और विवेक के उत्पन्न हुए नैतिक आचरण सम्भव नहीं। अतएव नैतिक भावों को जन्मजात नहीं कहा जा सकता। नैतिक भाव अभ्यास का परिणाम है। मार्टीनो महाशय ने जिस प्रकार अन्य कार्यस्रोतों को जन्मजात बताया है, उसी प्रकार नैतिक भावों को जन्मजात बताकर, नीति शास्त्र की दृष्टि से एक बड़ी भूल की है। मनुष्य जन्म से सद्‌गुणी नहीं होता, वह प्रयत्न से अपने आपको सद्‌गुणी बनाता है।

मार्टीनो महाशय ने उक्त कार्यस्रोतों को फिर तेरह भागों में बाँटा है और नैतिकता की दृष्टि से एक के बाद एक को उनकी बुराई और भलाई के अनुसार रखा है। यह वर्गीकरण नैतिक मापदण्ड से सम्बन्ध रखता है, अतएव इसका उल्लेख तथा उसकी आलोचना हम उचित स्थान पर करेंगे।

ईश्वरवादी विचार[3] की कठिनाई – ईश्वरवादी विचार में नैतिक उत्तरदायित्व का प्रश्न जटिल हो जाता है। ईश्वर ने मनुष्य को बनाया है। वह हमारे विचारों को जानता है और हमारे मन में किसी भी प्रकार के काम करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। वह सृष्टि के लक्ष्य को भी जानता है और उस लक्ष्य के अनुसार ही प्रत्येक व्यक्ति में किसी काम के करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है। अतएव कोई काम भला हो अथवा बुरा, इसकी जिम्मेदारी मनुष्य के ऊपर नहीं ईश्वर के ही ऊपर है। ईश्वर सर्वशक्तिमान है, अतएव वह बुरे मनुष्य को बुराई करने से रोक सकता है। फिर उसके होते हुए भी यदि कोई मनुष्य बुरा आचरण करता है तो यह ईश्वर की ही भूल है। इस भूल के लिये उसे न मनुष्य को जिम्मेदार करना चाहिए और न इसके लिये उसे दण्ड देना चाहिए।

कई एक लोगों का कहना है कि ईश्वर जो कुछ करता है भले के

1 responsibility, 2 Basis of moral responsibility, 3 Theism.

लिये करता है; ईश्वर से भूल हो ही नहीं सकती। यदि इस विचार को ठीक मान लिया जाय तो नैतिक और अनैतिक आचरण एक ही कोटि के हो जावेंगे। फिर न संत के काम स्तुत्य माने जायेंगे और न दुराचारी के काम निन्द्य। सभी कामों को भला मानने पर नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न उठता ही नहीं।

स्पैनोज़ा महाशय का कथन है कि ईश्वर सर्व व्यापी है और संसार के सभी भले बुरे काम ईश्वर ही करता है। मनुष्य की सच्ची स्वतन्त्रता अपने आपको ईश्वर के ऊपर छोड़ देने में है। मनुष्य वास्तव में स्वतन्त्र न होकर अपने आपको स्वतन्त्र मान बैठा है। यही भ्रम उसके दुःखों का कारण है। मनुष्य के दुःख और उसकी स्वतन्त्रता दोनों ही कल्पित वस्तुयें हैं। एक झूठी कल्पना दूसरी कल्पना का कारण बन जाती है। मनुष्य अपने आपको स्वतन्त्र मानता है अतएव उसे अपने आपको भले और बुरे कामों के लिये जिम्मेदार भी मानना पड़ता है। इसके कारण ही उसे दुःख और सुख होते हैं। जब मनुष्य अपना परमात्मा से एकत्व समझ लेता है तो वह समझ जाता है कि सभी काम ईश्वर की इच्छा से ही होते हैं, वह स्वयं कुछ भी नहीं करता। इस मानसिक स्थिति में पहुँचने पर किसी प्रकार की नैतिक जिम्मेदारी नहीं रहती। अतएव ऐसी स्थिति मे नीति शास्त्र की आवश्यकता ही नहीं रहती। जो कठिनाई स्पैनोज़ा के विचार में आती है वह भारतवर्ष के वेदान्त-विचार में भी आती है।

समाजवादी विचार की कठिनाई—ईश्वरवादी विचार पुराना विचार है- और समाजवादी विचार नया विचार है। पर जिस प्रकार की नैतिक जिम्मेदारी की कठिनाई ईश्वरवादी विचार में आती है उसी प्रकार की कठिनाई समाजवादी विचार मे भी आती है। समाजवादी विचार मनुष्य के व्यक्तित्व के बनने में सामाजिक वातावरण को ही प्रधान मानता है। मनुष्य का चरित्र उसकी कुछ जन्मजात प्रवृत्तियों और वातावरण के नैतिक संस्कारों पर निर्भर करता है। यह कहना सत्य

है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आचरण में स्वतन्त्र है; पर यह स्वतन्त्र भ्रामक है। जब मनुष्य का व्यक्तित्व ही किसी दूसरी सत्ता के ऊपर निर्भर करता है तो उसे हम अपने कार्यों के लिये कैसे स्वतन्त्र मान सकते हैं और उसके ऊपर कोई नैतिक जिम्मेदारी कैसे डाल सकते हैं? वंशानुक्रम और वातावरण ही मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाते हैं और ये दोनों ही उसकी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर नहीं करते। यदि किसी मनुष्य में कम बुद्धि है अथवा वह लंगड़ा है तो यह उसका दोष नहीं यह दोष जन्मजात है। पर इसके कारण उसके चरित्र का विकास विशेष रूप से होता है। यदि किसी बालक को प्रारम्भ से दूषित वातावरण में रख दिया जाता है और इसके कारण वह चोर, व्यभिचारी अथवा अत्याचारी बन जाता है तो इसमें दोष समाज का है न कि उस बालक का।

इन कठिनाइयों को हल करने के लिये हमें मनुष्य के स्वभाव और उसका समाज के साथ सम्बन्ध पर विचार करना पड़ता है। मनुष्य न तो ईश्वर के समान सर्वशक्तिमान है और न वह निरा पशु ही है। मनुष्य प्रयत्न के द्वारा अपने आपको सुधार सकता है। उससे भूलें होती हैं पर वह भूलों से शिक्षा-ग्रहण करके भले मार्ग का अनुसरण कर सकता है। यदि मनुष्य पशु होता तो उसमें अपने आपको सुधारने की योग्यता को मानना युक्ति-संगत न होता। पशु को न तो भले-बुरे का ज्ञान है और न उसे किसी प्रकार की नैतिक जिम्मेदारी का ही है। जो मनुष्य उचित अनुचित के विषय में सोच सकता है, जिसे भले बुरे का ज्ञान होता है उसी के विषय में नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न आता है। मनुष्य के सामने भले और बुरे आदर्श रहते हैं; वह इन आदर्शों को जान सकता है और बुरे आदर्श को छोड़कर भले आदर्श को ग्रहण कर सकता है। उसकी जन्मजात योग्यताएँ चाहे जो हों और उसका वातावरण चाहे जैसा हो, उसको नैतिक उन्नति के लिये सदा अवसर रहता है। वाल्टर स्काट लँगड़ा था, पर उसका लँगड़ापन ही उसे महान् बनने की प्रेरणा पैदा करने वाला बन गया, अष्टावक्र जन्म से आठ जगह से टेढ़े थे, परन्तु उनका

रोहेछान उसके आध्यात्मिक विकास में बाधा न डाल सका, वरन् उनका शारीरिक दोष ही उनमें दार्शनिक प्रतिभा के विकास का कारण हुआ।

समाज के लोग हमें बुरा अथवा भला तब तक कहेंगे जब तक हम में अपनी योग्यताओं अथवा सुविधाओं का सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करने की शक्ति है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपनी योग्यता को भले से भले काम मे लगावे। उसमें अपनी जन्मजात कमियों से मुक्त होने की शक्ति न हो, परन्तु वह इन कमियों को अपने नैतिक विकास में बाधक बनने से रोक सकता है। इसी प्रकार वह अपनी योग्यताओं को ऊँचे से ऊँचे नैतिक आदर्श की प्राप्ति में लगा सकता है, अथवा उन्हें व्यर्थ खो सकता है। जब तक मनुष्य में यह शक्ति है उसकी अपने कृत्यों के लिये नैतिक जिम्मेदारी को तात्त्विक वस्तु मानना ठीक है। जेम्स० एस० मेकेन्जी महाशय का यह कथन सर्वथा सार्थक है कि मनुष्य की नैतिक उन्नति में बाधक अपने आपको छोड़कर कोई दूसरी वस्तु नहीं और वह अपने आपके विषय में यह नहीं कह सकता कि वह अपने आपको बदलने में असमर्थ है। वह पशुओं के समान प्राकृतिक परिस्थितियों का परिणाम मात्र नहीं है, वरन् जैसा उसने अपने आपको बनाया है वह वैसा ही है।

जहाँ तक मनुष्य का ईश्वर से सम्बन्ध है वहाँ तक उसकी जिम्मेदारी दूसरे प्रकार की ही होती है। समाज के प्रति नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न ही सामान्य विचार के द्वारा हल किया जा सकता है। ईश्वर के प्रति नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न तत्त्व-विज्ञान का प्रश्न है और इस प्रश्न को हल करने के लिये तत्त्व निरूपण की आवश्यकता होती है। सामाजिक काम करते समय अपने आपको स्वतन्त्र मानना आवश्यक है। तभी मनुष्य अपने आपको समाज की स्तुति और निन्दा का अधिकारी बनाता है। नैतिक पूर्णता अपने आप प्रयत्न करने से आती है। इस प्रयत्न की योग्यता मनुष्य में है और ऐसे प्रयत्न की प्रेरणा की अनुभूति भी उसे

होती है। जब तक मनुष्य अपने आप में पुरुषार्थ की प्रेरणा पाता है उसकी अपने आचरण के लिये नैतिक जिम्मेदारी भी है।

जब हम मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी में ईश्वर का प्रश्न ले आते हैं तो हम नैतिक प्रश्न का आध्यात्मिक प्रश्न के साथ मिश्रण कर देते हैं। यह संभव है कि मनुष्य की नैतिक पूर्णता के लिये अपने आपको स्वतन्त्र मानना आवश्यक हो और उसकी आध्यात्मिक पूर्णता के लिये अपने आपको ईश्वर की इच्छा पर निर्भर रहना अथवा सभी काम को भगवान का काम मानना आवश्यक हो। जहाँ तक उसके आचरण का समाज से सम्बन्ध रहता है वहीं तक नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न आता है। जब उसके आचरण का सम्बन्ध ईश्वर से हो जाता है अर्थात् जब वह अन्तर्मुखी हो जाता है और अपनी आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करना ही उसके जीवन का मुख्य ध्येय हो जाता है तो वह नैतिकता के स्तर से ऊँचा उठ जाता है। यहाँ नैतिक जिम्मेदारी का प्रश्न आता ही नहीं। उसके आचरण का ध्येय फिर आध्यात्मिक शुद्धि मात्र रह जाता है। वह फिर सब प्रकार की व्यक्तिगत सफलता के प्रति उदासीन हो जाता है।

छठाँ प्रकरण

नैतिक आचरण और विचार का विकास

आचरण की विभिन्न अवस्थाएँ—पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य के आचरण और पशुओं के आचरण में मौलिक भेद है। पशु के आचरण के विषय में नैतिक संज्ञाओं का प्रयोग नहीं होता, किन्तु मनुष्यों के आचरण के विषय में इनका प्रयोग होता है। मनुष्य भले और बुरे का विचार करता है, किन्तु पशुओं में विचार करने की शक्ति नहीं है। जो मनुष्य जितना ही सभ्य होता है वह उतना ही अपने प्रत्येक कार्य की भलाई और बुराई के विषय में विचार करता है। पर अपने आचरण की भलाई और बुराई, औचित्य और अनौचित्य के विषय में विचार करना मनुष्य में धीरे-धीरे आता है; अतएव पहले पहल उसका आचरण विचार की परिपक्वता को नहीं दर्शाता।

नैतिकता की दृष्टि से मनुष्यों के आचरण के विकास की निम्नलिखित तीन अवस्थाएँ मानी जाती हैं—

(१) रीति-पथ प्रदर्शन[1],

(२) नियम पथ-प्रदर्शन[2],

(३) विचार-पथ-प्रदर्शन[3]।

रीति-पथ प्रदर्शन—मानव-समाज में प्रारम्भ से ही कुछ रीतियाँ चली आई हैं। सामान्य मनुष्य इन्हीं रीतियों को देख कर चलता है। निम्न स्तर के मनुष्यों को इन रीतियों का भी ठीक से ज्ञान नहीं रहता; वे जैसा दूसरे लोग करते हैं उसी के अनुसार काम करते रहते हैं। उनकी आचरण में निर्देश और अनुकरण की प्रधानता रहती है। वे इतना ही

1 Guidance of custom, 2 Guidance of law, 3 Guidance of reason.

देखते हैं कि दूसरे लोग क्या कर रहे हैं। विचार की सर्वथा अविकसित अवस्था में साधारण मनुष्य आस-पास के बड़े समर्थ, धनी और लोगों का अन्धानुकरण करता रहता है। इस प्रकार जो काम प्रतिष्ठित अथवा अधिकारी लोग करते हैं उसे ठीक मान लिया जाता है।

इस मानसिक अवस्था से उच्च कोटि की अवस्था वह है जिसमें मनुष्य समाज की परंपराओं और रीतियों को जानने की चेष्टा करता है और उन रीतियों के अनुसार अपने आचरण को बनाता है। इस प्रकार वह एक अनिश्चित अवस्था को छोड़ एक निश्चित नियम का पालन करने लगता है।

नियम-पथ-प्रदर्शन—आचरण के विकास की दूसरी अवस्था में मनुष्य किसी नियम को अपना पथ प्रदर्शक बना लेता है। रीतियों का कभी-कभी आपस में विरोध होता है। दो विरोधी रीतियों में जब उसे किसी एक को चुनना पड़ता है तो उसे नियम की आवश्यकता होती है। समाज की विकसित अवस्था में नियमों की प्रधानता होती है। ये नियम राजनैतिक अथवा धार्मिक नियम होते हैं। समाज की रीति-रिवाजों के पालन करने में मनुष्य अपने आप में उस बाध्यता का अनुभव नहीं करता जो किसी नियम के पालन करने में करता है। अतएव जब मनुष्य अपने आचरण को नियम के अनुसार बना लेता तो वह बारबार विरोधी आचरण नहीं करता। नियम के पालन करने से वह समाज की भली रीतियों को बली बनाता है और बुरी रीतियों का अन्त कर डालता है।

विचार-पथ-प्रदर्शन—आचरण की सब से अधिक विकसित अवस्था विचार के द्वारा अपने आचरण का संचालन करना है। यह अवस्था नियमों के बन जाने पर अपने आप आ जाती है। जब समाज के मान नियम का रूप धारण कर लेते हैं तो कई प्रकार के विरोध उत्पन्न हो जाते हैं। नियमों का पहला विरोध रीति-रिवाजों से ही होता है। फिर प्रश्न आता है कि रीति-रिवाजों को मानें अथवा नियमों का पालन करें। भारतवर्ष में बाल-विवाह की प्रथा चल आई है। अब इसके विरुद्ध

राज्य का नियम बन जाता है तो स्वतन्त्र विचार करने के लिये सामग्री उपस्थित हो जाती है। फिर सोचा जाने लगता है कि पुरानी रीति को मानना उचित है अथवा राज्य के नियम को।

जिस प्रकार किसी नियम का पुरानी रीति से विरोध होता है, इसी प्रकार दो नियमों का भी आपस मे विरोध हो जाता है। कोई भी ऐसा नियम नहीं है जो सभी परिस्थितियों में एक ही तरह से लागू हो सके। ऐसी अवस्था में मनुष्य को अपने आप सोच कर अपना मार्ग निकालना पड़ता है। विकसित आचरण उस व्यक्ति का है जो अपने प्रत्येक काम में स्वतन्त्र उचितानुचित विचार से काम लेता है। जिस व्यक्ति मे स्वतन्त्र सोचने की और अपने स्वतन्त्र विचार के अनुसार काम करने की योग्यता है वही सभ्य मनुष्य है। सर्वोत्तम आचरण अपने बनाये सिद्धान्तों के अनुसार आचरण है।

आचरण और विचार—मनुष्य के साधारण आचरण में उपर्युक्त तीनों प्रकार के पथ-प्रदर्शन काम करते हैं। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो अपने प्रत्येक काम को करते समय सिद्धान्तों का विचार करे। हम जिन विचारों के अनुसार काम करते हैं वे कुछ नैतिकता के विषय में चिन्तन करने से आते हैं, कुछ अपने व्यक्तिगत अनुभव और कुछ सामाजिक अनुभव के ऊपर आधारित रहते हैं, अर्थात् हम अपने प्रतिदिन के आचरण में सामाजिक रीतियों से, समाज और राज्य के नियमों से तथा अपने स्वतन्त्र नैतिक विचार से काम लेते हैं।

नैतिक विचार[1] और नैतिकता के विचार[2]—नैतिक आचरण का आधार नैतिक विचार होते हैं और नैतिक आचरण से नैतिक विचार परिपक्व होते हैं; किन्तु नैतिकता के विचारों का सीधा सम्बन्ध नैतिक आचरण से नहीं है। नैतिक विचार व्यावहारिक विचार हैं और नैतिकता के विचार दार्शनिक हैं। यह सम्भव है कि किसी मनुष्य को पर्याप्त नैतिक विचार ज्ञात हों पर उसे नैतिकता के विचारों का ज्ञान न हो।

1 Moral Ideas, 2 Ideals about morality.

समाज का सामान्य व्यक्ति यह जानता है कि उसे चोरी, व्यभिचार, झूठ, हिंसा आदि न करना चाहिए। ये सब विचार नैतिक विचार हैं। ये विचार उसके आचरण को प्रभावित करते हैं। पर यदि उससे पूछा जाय कि उसे इन बातों को क्यों न करना चाहिए, तो वह प्रायः इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर न दे सकेगा। उसने संभवतः इस प्रश्न पर विचार ही नहीं किया। हम समाज से नैतिक विचारों को प्रायः उसी प्रकार ले लेते हैं जिस प्रकार हम अपने कपड़े पहनने और भोजन करने के ढंग को लेते हैं। समाज में कुछ बातें भली और कुछ बुरी मानी जाती हैं, इन बातों को हम भी भली अथवा बुरी मानने लगते हैं। समाज में भली समझी जाने वाली कोई बात भली क्यों है और बुरी समझी जाने वाली बात बुरी क्यों है, यह कोई दार्शनिक ही सोचता है।

जब समाज में प्रचलित नैतिक विचारों की नैतिकता पर विचार किया जाने लगता है तो अनेक प्रकार के नीति शास्त्र के वादों की सृष्टि होती है। झूठ बोलना अथवा चोरी करना क्यों बुरा है, इस प्रश्न का उत्तर अन्तः अनुभूतिवादी एक तरह से देगा, सुखवादी दूसरी तरह से और विवेकवादी तीसरी तरह से देगा। विलियम वुन्ट महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि प्रायः मनुष्य नैतिक विचारों के बारे में सहमत होते हैं, परन्तु नैतिकता के विचारों में उनकी राय बहुत कम मिलती है।

नैतिक विचार[1] की विधि का विकास

समाजिकता के भावों की वृद्धि—जिस प्रकार मनुष्य के आचरण का विकास धीरे-धीरे हुआ है इसी प्रकार उसके अपने कार्यों की नैतिकता पर विचार करने की शक्ति धीरे-धीरे आई है। जैसा पहले कहा जा चुका है, मनुष्य पहले नैतिक आचरण करना सीखता है, पीछे उसमें नैतिक विचार करने की योग्यता आती है। मनुष्य जब समाज में आता है तो वह अपना समाज के साथ ऐक्य स्थापित कर लेता है। फिर जो कुछ कार्य समाज के कल्याण के लिये होते हैं उन्हें वह अनायास

1 Moral judgment.

करता है। समाज के कल्याण के भाव ही उसकी अन्तरात्मा की आवाज बन जाते हैं। समाज के हित के लिये आचरण करने से उसे आत्म-संतोष होता है और उसके प्रतिकूल आचरण करने से उसे आत्म-भर्त्सना होती है। इस समय मनुष्य में नैतिक निर्णय करने की शक्ति नहीं होती, उसे किसी कार्य की नैतिकता के मापदण्ड का स्पष्टतः ज्ञान नहीं होता, पर उसके सामाजिक भाव ही उससे नैतिक आचरण कराते हैं।

सामाजिक रीति का माप-दण्ड—नैतिक विचार के विकास की दूसरी अवस्था सामाजिक रीतियों को नैतिकता का मापदण्ड मान लेना होती है। इस स्थिति में जो बात समाज की परम्परा में चली आई है उसे ठीक मान लिया जाता है और सामाजिक रूढ़ियों के द्वारा अपने कार्यों को नैतिकता मापी जाती है। इस अवस्था में नैतिकता के प्रति उतनी दृढ़ता का भाव नहीं रहता जितना पीछे आता है। पहले तो समाज की रीतियाँ बदलती रहती हैं और दूसरे समाज मनुष्य के बाहरी आचरण को ही देखता है। इसके कारण मनुष्य उतनी ही दूर तक अपने आपको नैतिक बनाने की चेष्टा करता है जहाँ तक समाज उसके ऊपर अप्रसन्न न हो। सामाजिक रीतियों का माप-दण्ड सन्तोषजनक नहीं होता। इसमें नियमों की अस्पष्टता रहती है और इसके कारण नैतिक जीवन ढीला रहता है। अतएव मनुष्य को दूसरे किसी माप-दण्ड की आवश्यकता पड़ती है।

राज्य-नियम का मापदण्ड—रीतियों के मापदण्ड का स्थान राज्य-नियम ले लेते हैं। राज्य के नियम बंधे रहते हैं। ये वैसे ढीले नहीं होते जैसे सामाजिक रीति-रवाज होते हैं अतएव राज्य नियम का माप-दण्ड चिन्तनशील व्यक्ति को अधिक सन्तोष देता है। इन नियमों के पालन करने से मनुष्य समाज में आदर पाता है और इनकी अवहेलना करने से वह समाज के द्वारा दण्डित होता है। इस प्रकार अपराध और फिर पाप की कल्पनाओं का जन्म होता है।

नैतिक नियम का माप-दण्ड—राज्य का नियम मनुष्य की

शरण लेनी पड़ती है। मनुष्य को किसी विशेष परिस्थिति में क्या करना चाहिए यह अन्तरात्मा की आवाज से ज्ञात होता है।

विवेचनात्मक विचार—पर सूक्ष्मदर्शी को थोड़े ही समय में इस सिद्धान्त की कमी ज्ञात हो जाती है। अन्तरात्मा की आवाज हर समय स्पष्ट नहीं रहती। एक ही परिस्थिति में मनुष्य कभी एक प्रकार का आदेश अन्तरात्मा से पाता है और कभी दूसरे प्रकार का। उसे कभी कभी स्वीकार करना पड़ता है कि उसने अन्तरात्मा की आवाज सुनने में भूल की। मनुष्य के राग द्वेष ही उसे कभी एक तरह के आचरण के लिये प्रेरित करते हैं और कभी दूसरे तरह के आचरण के लिये। इस प्रकार मनुष्य अपने आपको एक प्रकार की भूल-भुलैया में पड़ा हुआ देखता है। इस भूल-भुलैया से निकलने के लिये उसे विश्लेषणात्मक आध्यात्मिक विचार की शरण लेनी पड़ती है। उसे फिर मानना पड़ता है कि नैतिकता का माप दण्ड वैयक्तिक विचार अथवा भावना नहीं हो सकती, नैतिकता का माप-दण्ड कोई व्यापक नियम ही हो सकता है। यह विवेकयुक्त नियम है। हमारा विवेक बताता है कि हमें न केवल अपनी अन्तरात्मा की आवाज का आदर करना चाहिये, वरन् दूसरे लोगों की अन्तरात्मा की आवाज का भी आदर करना चाहिये। वही नैतिक मापदण्ड सच्चा नैतिक मापदण्ड है जिसे कोई भी व्यक्ति अपने आचरण की नैतिकता को जानने में काम में ला सके। सच्चा नैतिक मापदण्ड सभी मनुष्यों को सभी परिस्थितियों में आचरण की नैतिकता जानने में सहायता देता है।

नैतिक विचार के विकास के लक्षण—नैतिक विचार का विकास निम्नलिखित तीन प्रकार से होता है —

(१) नैतिक विचार सामाजिक रीतियों से प्रारंभ होकर किसी नियम की ओर जाता है और फिर स्वतन्त्र सिद्धान्त की ओर जाता है।

सातवाँ प्रकरण

नैतिक विचार का विषय[1]

नैतिक विचार के दो प्रश्न—नैतिक विचार मनुष्य के आचरण की भलाई अथवा बुराई से सम्बन्ध रखता है। किसी आचरण को भला अथवा बुरा कहते समय हमें दो प्रकार की बातों को सोचना पड़ता है—

(१) नैतिक विचार किसके ऊपर किया जाता है, अर्थात् उसका वास्तविक विषय क्या है?

(२) नैतिक विचार कौन करता है, अर्थात् उसका मापदण्ड क्या है?

पहले प्रश्न के बारे में विभिन्न प्रकार के उत्तर भिन्न-भिन्न विद्वानों ने दिया है; इसी तरह दूसरे प्रश्न के भी अनेक उत्तर दिये गये हैं। इन प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर जानने के लिये हमें विभिन्न प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों को जानना होगा। इस प्रकरण में हम पहले प्रश्न पर ही विचार करेंगे।

विचार का विषय इच्छित कार्य[2]—साधारणतः यह कहा जा सकता है कि नैतिक विचार का विषय मनुष्य का इच्छित कार्य होता है। नीति-शास्त्र का ध्येय मनुष्य की इच्छाशक्ति को ठीक मार्ग पर लगाना है, अतएव हमारे नैतिक विचार का विषय मनुष्य की इच्छाशक्ति ही होती है। जो काम मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करता है वही नैतिक विचार का विषय बन सकता है; जो काम वह अनिच्छा से अथवा बाध्य होकर करता है उसे भला अथवा बुरा नहीं कहा जा सकता। जो काम किसी मनुष्य के द्वारा अकस्मात् हो जाता है, उसे न तो भला और न

---

1 Object of moral judgment. 2 Voluntary action.

बुरा कहा जाता है। मान लीजिए, कोई डाक्टर रोगी के कल्याण के लिये कोई इन्जेक्शन देता है, पर इससे रोगी की मृत्यु हो जाती है, तो हम इसके काम को बुरा नहीं कहते। यदि रोगी की मृत्यु डाक्टर की असावधानी से हुई तो हम डाक्टर को कुछ दूर तक दोषी ठहराते हैं, परन्तु यदि डाक्टर ने जान बूझ कर रोगी के मारने के लिये ही उसे विशेष प्रकार का इन्जेक्शन दिया हो तो हम उसे नैतिक दृष्टि से दोषी समझते हैं, उसे हम हत्यारा कहते हैं।

उपर्युक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि उसी काम पर नैतिक विचार किया जाता है जिसके बारे में मनुष्य पहले से सोचता है और जिसे करने की वह स्वयं इच्छा करता है। कभी-कभी मनुष्य की इच्छा भली होती है, पर कार्य-फल भला नहीं होता। ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट होता है। परन्तु नैतिक विचार करते समय हमें मनुष्य के कार्य के फल को न देख कर कार्य के कारण को ही देखना पड़ता है। नैतिकता की दृष्टि से मनुष्य का वास्तविक कार्य आन्तरिक कार्य है। कार्य-फल उसके हाथ की बात नहीं है। यह कभी भला होता है कभी बुरा।

हेतु और संकल्प (ईप्सा) का स्थान—नीति-शास्त्र के सभी विद्वानों का इस बात पर एक ही मत है कि किसी कार्य का नैतिक मूल्य उसके फल के ऊपर निर्भर नहीं करता, वरन् उन विचारों और भावों के ऊपर निर्भर करता है जो कार्य के प्रेरक होते हैं। परन्तु कार्य के आन्तरिक पहलू भी अनेक हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार कार्य की नैतिकता उसके प्रेरक भावों के ऊपर निर्भर करती है, कुछ के अनुसार कार्य की नैतिकता कार्य के संकल्प के ऊपर निर्भर करती है और कुछ के अनुसार कार्य के हेतु के ऊपर यह निर्भर करती है। अन्तः अनुभूतिवादियों के अनुसार कार्य के प्रेरक भाव हैं, जिन्हें डा० मार्टीनो ने कार्य-स्रोत कहा है। इन्हीं पर कार्य की नैतिकता निर्भर करती है। मिल महाशय के कथनानुसार कार्य की नैतिकता कार्य के संकल्प (ईप्सा) के ऊपर निर्भर करती है और आदर्शवादियों के अनुसार इसकी नैतिकता उसके हेतु के ऊपर निर्भर करती है।

इन विभिन्न प्रकार के दृष्टि-बिन्दुओं को दो एक उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

मान लीजिए रामनाथ, अमृतलाल को किसी कारण वश गाली दे उठता है। यह एक साधारण सी घटना है। किन्तु यदि नैतिक विचार की दृष्टि से देखा जाय तो हम इसमें पर्याप्त चिन्तन की सामग्री पावेंगे। हम रामनाथ को, अमृतलाल को गाली देने के लिये कहाँ तक दोषी ठहरा सकते हैं। इसके जानने के लिये हमें इस घटना को एक अकस्मात् घटना नहीं मानना पड़ेगा। इस घटना के पीछे रामनाथ का अमृतलाल से सम्बन्ध, उसके इस कार्य के हेतु[1] और संकल्प[2] (ईप्सा) तथा रामनाथ के सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर विचार करना पड़ेगा। जो कार्य एक परिस्थिति में क्षम्य माना जाता है वही दूसरी परिस्थिति में अक्षम्य होता है। नैतिकता में जिस परिस्थिति पर विचार करना होता है वह वाह्य परिस्थिति नहीं, वरन् आन्तरिक परिस्थिति होती है। संभव है कि रामनाथ ने क्रोध के आवेश में आकर गाली दी हो, या संभव है उसने मनोरञ्जन के भाव से, अथवा उसे धमकाने के लिये ही गाली दी हो। ये भाव कार्यों के प्रेरक माने जाते हैं। फिर गाली देने का हेतु अमृतलाल की भलाई हो सकता है अथवा उसका अपमान करना और उसे दूसरों की दृष्टि मे गिराना हो सकता है। यदि उसका हेतु पहले प्रकार का है तो उसका काम नैतिक दृष्टि से निकृष्ट नहीं माना जायगा और यदि उसके कार्य का हेतु दूसरे प्रकार का है तो उसका कार्य निकृष्ट माना जायगा। किसी व्यक्ति को अनायास गाली दे उठना और आयोजना बना के गाली देना, दो तरह की बातें हैं। गाली देने का विचार कार्य का संकल्प अथवा ईप्सा कहा जायगा। मनुष्य का जैसा संकल्प होता है उसका कार्य भी वैसा ही होता है।

अन्तः अनुभूतिवादियों[3] का सिद्धान्त—इतना तो निश्चित है कि नैतिक विचार का विषय मनुष्य का बाहरी आचरण नहीं होता। अन्तः अनुभूतिवादियों के अनुसार नैतिकता के निर्णय में हमें कार्यों के

1 Motive. 2 Intention. 3 Intuitionists.

क्रोध अथवा प्रेरकों पर विचार करना चाहिये। ये कार्य और मनुष्य के विभिन्न प्रकार के स्वभाव अथवा संकेत होते हैं। इन प्रवृत्तियों के अनुसार दूसरा यदि किसी कार्य के प्रेरक भाव भिन्न कोटि के हैं तो हमें उन कार्यों को पृथक् मानना चाहिये और यदि वे समान कोटि के हैं तो उन्हें अभिन्न मानना चाहिये।

सुखवादियों का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के प्रतिपादक सुखवादियों का सिद्धान्त है। मिल महाशय के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य के सभी प्रकार के अपने आचरण पूर्ण कार्यों का प्रेरक एक ही भाव होता है—सुख की प्राप्ति और दुःख से बचने की इच्छा। लोभ के काम इसी इच्छा से प्रेरित होते हैं और परोपकारी तथा त्यागी के भी कार्य इसी इच्छा से प्रेरित होते हैं। अतएव यदि कार्यों की नैतिकता केवल प्रेरकों की दृष्टि से ही निर्दिष्ट की जाय तो सभी कार्य एक ही कोटि के समझे जाते हैं। कार्य प्रेरकों को अनेक प्रकार का मानना, मिल महाशय के अनुसार, एक भारी मनोवैज्ञानिक भ्रम है। अतएव किसी कार्य सम्बन्धी नैतिक विचार मनुष्य के संकल्प पर किया जाना चाहिये, क्योंकि वे भिन्न भिन्न होते हैं।

आदर्शवादी सिद्धान्त—आदर्शवादी अथवा विवेकवादी विचार के अनुसार कार्य की नैतिकता का विचार करते समय न तो कार्य के प्रेरकों पर विचार करना उतना आवश्यक है और न उसके संकल्पों पर। कार्य के हेतुओं पर ही विचार करना आवश्यक है; अर्थात् किसी काम को किस लिये किया जाता है, इस बात को जानना कार्य की नैतिकता को निश्चित करने के लिये आवश्यक है। कार्यों के प्रेरक भावों की नैतिकता भी कार्य के लक्ष्य के ऊपर निर्भर करती है। दूसरे व्यक्ति की भलाई की दृष्टि से अथवा समाज के कल्याण हेतु क्रोध का प्रदर्शन करना एक बात है और उसके अकल्याण की दृष्टि से अथवा अपने स्वार्थ-साधन के हेतु क्रोध-प्रदर्शन करना दूसरी बात है। मिल महाशय ने कार्य के केवल बाहरी पहलू पर ही विचार किया है। इसका कारण उनकी भ्रमपूर्ण मनोवैज्ञानिक

धारणा थी कि सभी कार्यों का प्रेरक एक ही तथ्य होता है। वास्तव में कार्यों के सच्चे प्रेरक अनेक होते हैं; और ये प्रेरक मनुष्य की विभिन्न प्रकार की इच्छायें होती हैं, न कि विभिन्न प्रकार के भाव अथवा उद्वेग। इच्छा का लक्ष्य ही कार्य का हेतु कहलाता है, अतएव कार्यों की नैतिकता पर विचार करते समय इस लक्ष्य को ही ध्यान में रखना पड़ता है। यदि यह लक्ष्य विवेकयुक्त है और सभी लोगों का उससे कल्याण होता है तो जो कार्य इस लक्ष्य से ही किया जाता है वही कार्य भला कहा जायगा, अन्यथा नहीं।

कानूनी[1] और नैतिक[2] दृष्टिकोण में भेद—जैसा पिछले प्रकरण में बताया जा चुका है कार्य का हेतु वह लक्ष्य है जिसको दृष्टि में रख के कोई काम किया जाता है और उसका संकल्प वह विचार है जिसके द्वारा इस हेतु की प्राप्ति की जाती है। संकल्प कार्य के बाहरी रूप से सम्बन्ध रखता है और हेतु कार्य की आत्मा है। कार्य के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये विशेष प्रकार के साधनों को काम में लाया जाता है। ये साधन कार्य के संकल्प बनते हैं। ये साधन कभी-कभी भले दिखाई देते हैं और कभी बुरे। साधारण बुद्धि के लोग किसी काम की नैतिकता का मूल्य साधनों को देखकर आँकते हैं। मिल महाशय तथा अन्य सुखवादी नीति-शास्त्रज्ञों का भी यही दृष्टिकोण है। परन्तु यह दृष्टिकोण कानूनी दृष्टिकोण है। यह दृष्टिकोण व्यवहार में उपयोगी दिखाई पड़ता है। कानून मनुष्य की बाहरी चेष्टाओं को देखकर ही उसको दोषी अथवा निर्दोष निश्चित करता है। कानून के लिये मनुष्य के आन्तरिक भावों अथवा हेतुओं को जानना अत्यन्त कठिन है। केवल हम अपने कार्यों के हेतुओं को ही ठीक से जान सकते हैं, दूसरे व्यक्ति के कार्यों के ठीक हेतु को जानना हमारे लिये असम्भव है। पर नैतिक विचार का मुख्य उद्देश्य दूसरे व्यक्ति के आचरण की नैतिकता जानना नहीं है, वरन् अपने ही कार्यों की नैतिकता जानना है। हम अपने आपको ही ठीक तरह से

1 Legal. 2 Moral.

जान सकते हैं, अर्थात् अपने वास्तविक हेतुओं का ज्ञान केवल कार्य करने वाले व्यक्ति को ही हो सकता है। नैतिकता आन्तरिक वस्तु है, अतएव दूसरों के वास्तविक हेतु न जान सकने के कारण इन कार्यों के हेतु को छोड़ हम उसके बाहरी रूप पर नैतिक विचार नहीं करने लग जायेंगे। हम अपने कार्यों के ऊपर ठीक से नैतिक विचार कर सकते हैं, इतना ही पर्याप्त है। कानूनी दृष्टि लौकिक दृष्टि है और नैतिक दृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि है। नैतिकता कार्य के बाहरी रूप से उतना सम्बन्ध नहीं रखती जितना कि वह उन विचारों से सम्बन्ध रखती जिनके कारण कोई काम किया जाता है।

जो काम कानूनी दृष्टि से अपराध समझे जाते हैं वे ही यदि भले हेतुओं से प्रेरित होकर किये गये हैं तो भले समझे जाते हैं। ब्रूटस ने रोम की स्वतन्त्रता के लिये रोम के अधिनायक जूलियस सीजर को मार डाला। कानूनी दृष्टि से ब्रूटस को जूलियस सीजर का हत्यारा कहा जायगा। उसका कार्य निन्द्य है। पर यदि नैतिक दृष्टि से देखा जाय तो उसका कार्य क्षम्य ही नहीं, वरन् स्तुत्य है। यदि कोई व्यक्ति समस्त राष्ट्र के कल्याण के हेतु किसी विशेष व्यक्ति को मार डालता है तो वह बुरा काम नहीं करता। जब ब्रूटस ने इस काम को जनता की पुकार मान कर किया तो उसने अपना कर्तव्य ही किया; और अपना कर्तव्य करना ही नीति-शास्त्र सिखाता है। अपने कर्तव्य के कारण मनुष्य की लोक में निन्दा हो अथवा स्तुति उसको करना ही चाहिये।

ब्रूटस ने जूलियस सीजर को रोम की स्वतन्त्रता के लिये मार डाला, पर जूलियस सीज़र की हत्या का षड्यंत्र कैशियस और कासका आदि लोगों ने किया था। ये लोग जूलियस सीज़र से ईर्ष्या करते थे और उसकी बढ़ती हुई कीर्ति को सह नहीं सकते थे। जूलियस सीज़र उनकी स्वार्थ सिद्धि में बाधक था, अर्थात् वह उन्हें बढ़ने नहीं देता था, अतएव अपने मार्ग का कंटक हटाने के लिये कैशियस और कासका आदि ने जूलियस सीज़र की हत्या करवाई। अब जूलियस सीज़र की हत्या को यदि व्यक्ति-

गत स्वार्थ साधन के हेतु की गई घटना माना जाय तो नैतिक दृष्टि से वह बड़ा निन्द्य कार्य था।

एक ही कार्य दो भिन्न-भिन्न हेतुओं से किये जाने के कारण भिन्न-भिन्न नैतिक मूल्य का होता है। ब्रूटस का सीज़र की हत्या का कार्य स्तुत्य है और केशियस का वही कार्य निन्द्य है। ब्रूटस का हेतु भला था अतएव उसका कार्य भला कहा जायगा और केशियस का हेतु बुरा था अतएव उसका कार्य बुरा कहा जायगा।

साधन की पवित्रता का स्थान—यहाँ प्रश्न आता है कि मनुष्य के आचरण की नैतिकता में साधन की पवित्रता का क्या स्थान है? क्या लक्ष्य की पवित्रता किसी कार्य को पवित्र बना सकती है। कितने ही नीति-शास्त्र के विद्वानों का मत है कि किसी कार्य की पवित्रता निश्चित करने के लिये अर्थात् उसका नैतिक मूल्य आँकने के लिये, न केवल हमें लक्ष्य की पवित्रता पर विचार करना चाहिये वरन् साधन की पवित्रता पर भी विचार करना चाहिये। कोई भी कार्य तब तक पवित्र नहीं कहा जा सकता जब तक उसका न केवल लक्ष्य पवित्र हो, वरन् उसके साधन भी पवित्र हों। यदि हम किसी भले लक्ष्य को किसी बुरे साधन के द्वारा प्राप्त करते हैं तो हमारा लक्ष्य ही इन साधनों के कारण दूषित हो जाता है।

मान लीजिए, हमारा देश परतन्त्र है और एक अत्याचारी राजा के हाथ में है। देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करना हमारा लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हम विदेशी राज्याधिकारियों के प्रति षड्यंत्र करते हैं और इसी लक्ष्य के हेतु कुछ अधिकारियों की हत्या कर डालते हैं। फिर अपने मित्रों को राज-दण्ड से बचाने के लिये हम झूठ बोलते हैं और उन्हें छिपाते हैं। हमारा लक्ष्य पवित्र है पर हमारे साधन अपवित्र माने जाते हैं। क्या हमें देश की स्वतन्त्रता के लिये झूठ बोलना और अत्याचारी लोगों की हत्या करना चाहिये? क्या हमें अपने लक्ष्य की

प्राप्ति के लिये सदा उन्हीं साधनों से काम लेना चाहिये जो नैतिक दृष्टि से उचित माने गये हैं।

उक्त प्रश्न के उत्तर अन्ततः अनुभूतिवादियों और आदर्शवादियों के दो भिन्न-भिन्न हैं। अन्तः अनुभूतिवादियों के कथनानुसार मनुष्य को पवित्र लक्ष्य भी अपवित्र साधनों के द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करना चाहिये। यदि साधन अपवित्र है तो प्रायः लक्ष्य भी अपवित्र हो रहता है और यदि साधन पवित्र है तो लक्ष्य भी पवित्र है। हम किस स्थान पर पहुँचेंगे, यह हमारे मार्ग पर निर्भर करता है। गलत मार्ग पर चल कर कोई भी व्यक्ति ठीक स्थान पर नहीं पहुँच सकता। अतएव ठीक लक्ष्य पर पहुँचने के लिये हमें ठीक मार्ग को ही ग्रहण करना चाहिये। लक्ष्य की प्राप्ति मार्ग पर चलने का स्वाभाविक परिणाम है। जिस प्रकार मार्ग और लक्ष्य का अनिवार्य सम्बन्ध है, इसी प्रकार साधन और साध्य का अनिवार्य सम्बन्ध है। अतएव जो मनुष्य किसी भले स्थान पर पहुँचना चाहता है उसे ऐसे काम करना चाहिये जो संसार में भले कहे जाते हैं। चोरी, डकैती, षड्यंत्र और हत्या के द्वारा यदि किसी देश को स्वतन्त्रता मिले भी, तो भी वह उपादेय वस्तु नहीं। इस प्रकार प्राप्त की गई स्वतन्त्रता एक दूषित वस्तु होगी, जिससे समाज का कल्याण न होकर हानि ही होगी।

उक्त विचार से भिन्न दूसरे प्रकार के विचार हैं। आदर्शवादी विचार के अनुसार मनुष्य के कार्य की नैतिकता "लक्ष्य पर ही निर्भर करती है। यदि किसी मनुष्य का लक्ष्य ठीक नहीं है तो वह गलत मार्ग को ग्रहण करता है। पर एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के अनेक मार्ग होते हैं। वही मार्ग ठीक समझा जाना चाहिये जिसके द्वारा मनुष्य शीघ्रातिशीघ्र अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर सके। नैतिकता में हमें सदा मनुष्य के हेतु पर ही विचार करना चाहिये, उसके बाह्य कार्य पर अथवा उस कार्य के संकल्प पर विचार करना भूल है। नैतिकता की दृष्टि से [मनुष्य का आन्तरिक कार्य ही सच्चा कार्य है। यह कार्य मनुष्य की इच्छाओं के ऊपर निर्भर

करता है फिर मनुष्य की इच्छायें भी उसके चरित्र के ऊपर निर्भर करती हैं। नैतिक विचार अन्त में मनुष्य के चरित्र के ऊपर होता है। यदि कोई मनुष्य सदा उच्च आदर्श से प्रेरित होकर अपने जीवन के सभी काम करता है तो हम उसके लौकिक दृष्टि से निन्द्य कार्यों को भी भला कार्य ही कहेंगे। मनुष्य को सदा अपने आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करते रहना चाहिये। आदर्श स्वत्व की प्राप्ति के लिये उसे अपनी योग्यता के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। कोई व्यक्ति अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति विद्या के अध्ययन और अध्यापन के कार्य से करता है, कोई वाणिज्य-व्यवसाय द्वारा और कोई राष्ट्र की पुलिस और सेना में भरती होकर। राष्ट्र को पुलिस और सेना की उसी प्रकार आवश्यकता है जिस प्रकार उसे अध्यापकों की आवश्यकता है। पर ऊपरी दृष्टि से पुलिस और सेना के लोगों का काम उतना पवित्र नहीं जितना अध्यापन का कार्य है। पुलिस को चोरों, डाकुओं और राष्ट्र-द्रोहियों का पता लगाने के लिये झूठ बोलना पड़ता है और छल से काम लेना पड़ता है, और सेना को देश पर आक्रमण के समय आक्रमण-कारियों की हत्या करनी पड़ती है। पर उनका कर्तव्य यही है। जो खुफिया पुलिस का अधिकारी आवश्यकता पड़ने पर झूठ बोलने से हिचकता है, अथवा जो सेनानायक राष्ट्र के दुश्मनों के प्रति दया दिखा-कर उनको नहीं मारता वह अपने राष्ट्र के प्रति विश्वासघात करता है। वह इस तरह अपने आदर्श स्वत्व के प्रतिकूल चलता है।*

जहाँ पर लक्ष्य की प्राप्ति में साधन की पवित्रता का विचार किया जाता है, वहाँ पर वास्तव में मनुष्य के समक्ष कोई निश्चित लक्ष्य नहीं

* भगवान् कृष्ण ने महाभारत युद्ध में झूठ बोलकर द्रोणाचार्य को मरवा डाला, पर उनका कार्य निन्द्य नहीं माना जाता। इसका कारण यही है कि उन्होंने यह काम अपने मतलब के लिये नहीं किया, वरन् लोक-हित के लिये किया था। दुर्योधन ने समाज के सभी नैतिक मूल्यों की अवहेलना की थी। यदि दुर्योधन को महाभारत युद्ध में विजय होती

रहता। पर यदि साधन और लक्ष्य के सम्बन्ध पर विचार किया जाय तो हमें कहना पड़ेगा कि लक्ष्य की स्पष्ट कल्पना के अभाव में साधन की पवित्रता अथवा अपवित्रता का विचार अर्थहीन हो जाता है। आदर्शवादी की दृष्टि से वह साधन पवित्र है जिसका लक्ष्य भला हो। यदि हमें कोई नैतिक दोष निकालना है तो लक्ष्य में ही निकालना चाहिये।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि नैतिक विचार का प्रधान विषय हेतु है न कि संकल्प। हेतु कार्य के लक्ष्य से सम्बन्ध रखता है और संकल्प साधन से। परन्तु अन्त में नैतिक विचार का विषय मनुष्य का चरित्र ही होता है। किसी भी व्यक्ति के आचरण पर तब तक हम ठीक निर्णय नहीं कर सकते जब तक हम उसके पूर्व मानसिक संस्कारों, आदतों और उसके विभिन्न व्यक्तियों से सम्बन्ध को नहीं जान लेते। आचरण मनुष्य के चरित्र का प्रकाशन मात्र है, चरित्र स्थायी वस्तु है। इसी के आधार पर किसी विशेष प्रकार के आचरण को भला अथवा बुरा कहा जा सकता है।

तो संसार में "शक्ति ही नीति है" का सिद्धान्त प्रचलित हो जाता। फिर मनुष्य में किसी के अधिकार पर विचार करने की प्रेरणा भी न होती; जिसके मन में जो कुछ आता वह वही करने लग जाता। इस प्रकार समाज से नैतिक प्रतिबंध उठ जाने से समाज का विनाश हो जाता। इस विनाश से समाज को बचाने के लिये ही कृष्ण ने महाभारत युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर को विजयी बनाने की पूरी चेष्टा की। उनका हेतु पवित्र था, अतएव उनके झूठ बोलने के कार्य को भी हम नैतिक दृष्टि से बुरा नहीं कहते।

आठवाँ प्रकरण

नैतिकता के मापदण्ड

मनुष्य का नैतिक स्वत्व[1]

पिछले प्रकरण में बताया गया है कि मनुष्य के आचरण और नैतिक विचार का विकास धीरे-धीरे होता है। नैतिक विचार और आचरण के परिणाम स्वरूप मनुष्य अपने आप में दो प्रकार के स्वत्वों की उपस्थिति का अनुभव करता है—एक उसका वास्तविक स्वत्व[2] और दूसरा उसका आदर्श स्वत्व[3]। उसका वास्तविक स्वत्व काम करता है और किसी काम के भले अथवा बुरे के लिये प्रशंसा अथवा निन्दा का भागी होता है। उसका आदर्श स्वत्व उसके काम की भलाई अथवा बुराई का निर्णायक होता है। यह स्वत्व उसी प्रकार मनुष्य के निजी कामों पर विचार करता है जिस प्रकार वह दूसरे व्यक्ति के कामों पर विचार करता है।

मनुष्य पहले-पहल अपने से भिन्न व्यक्तियों के कामों पर नैतिक विचार करता है। इस प्रकार विचार करना उसका अभ्यास हो जाता है। पीछे उसे विचार आता है कि जिस तरह वह दूसरे लोगों के आचरण पर विचार करता है उसी प्रकार दूसरे लोग भी उसके आचरण पर विचार करते होंगे। यह विचार उसे अपने ही कामों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने के लिए बाध्य करता है। यह आलोचनात्मक दृष्टि ही उसका आदर्श स्वत्व बन जाता है। एडम स्मिथ महाशय ने इसे निरपेक्ष साक्षी* कहा है। यह साक्षी एक ओर व्यक्ति के कामों पर नैतिक विचार करता है और दूसरी ओर वह नैतिकता का मापदण्ड भी उपस्थित करता है।

---

1 Moral Self. 2 Actual Self. 3 Ideal Self. * Impartial Spectator,

नैतिकता के माप दण्डों का वर्गीकरण[1]

नैतिकता के माप दण्डों का वर्गीकरण भिन्न भिन्न नीति शास्त्र भिन्न भिन्न प्रकार से किया है। म्योरहेड महाशय ने नीति शास्त्रों को प्रकार का बताया है। वे निम्नलिखित तीन विभिन्न प्रकार के नैतिक माप दण्डों को मानते हैं—

(१) ऐसे नीति शास्त्र जो किसी बाहरी नियम के पालन नैतिकता देखते हैं, (२) ऐसे नीति शास्त्र जो आन्तरिक नि नैतिकता के निर्णय में प्रधान स्थान देते हैं और (३) ऐसे नीति शास्त्र किसी लक्ष्य की प्राप्ति में नैतिकता का सार देखते हैं।

इस प्रकार शास्त्रवादी[2], स्वतः अनुभूतिवादी[3] और लक्ष्यवादी[4] प्रकार के नैतिकता के विचार होते हैं। शास्त्रवादी नैतिकता के वि दो प्रकार के होते हैं। एक में लौकिक नीति और अनीति के विचारों प्रधानता रहती है और दूसरे में धार्मिकता की प्रधानता रहती है। प्रकार स्वतः अनुभूतिवाद के भी कई प्रकार हैं। एक में वैयक्तिक अनुभ ओर दिया जाता है और दूसरी में समष्टि स्वतः अनुभूति अर्थात् वि युक्त स्वतः अनुभूति पर जोर दिया जाता है। इसी प्रकार लक्ष्य सिद्धान्त कई प्रकार के हैं। किन्तु हम इन्हें दो विभागों में विभक्त सकते हैं। एक में बाहरी लक्ष्य को प्रधानता रहती है और दूसरे आन्तरिक लक्ष्य की। बाहरी लक्ष्य को महत्त्व देने वाले सुखवाद प्रकृतिवाद हैं और आन्तरिक लक्ष्य को महत्त्व देने वाले पूर्णतावाद आदर्शवाद हैं। कुछ नैतिकता के मापदण्ड ऐसे हैं जो इस वर्गीकरण नहीं आते। वे एक ओर किसी लक्ष्य को मानते हैं और दूसरी किसी नियम को भी, इन्हें मिश्रित माप दण्ड कहा जाता है।

उपर्युक्त तीन प्रकार के माप-दण्डों को निम्नाङ्कित तालिका दर्शाया गया है—

---

1 Classification. 2 Authoritarian. 3 Intuitionist.
4 Standard as End.

नैतिकता के माप-दण्ड*
बाह्य नियमवादी
आन्तरिक नियमवादी
लक्ष्यवादी
लोकमतवादी
धर्म-शास्त्रवादी
विशेषानुभूतिवादी
सामान्यानुभूतिवादी
प्रकृतिवाद
सुखवाद
आदर्शवाद
*Moral Standard
External law
Internal law
End
Political or Social law
Religious Law
Intuitive law
Rational law
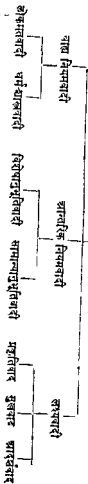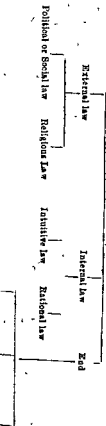
बाह्य नियमवाद[1]—म्योरहेड महाशय के अनुसार शास्त्रवा अपेक्षा अन्तः अनुभूतिवाद अधिक विकसित नैतिक विचार है। प्रकार लक्ष्यवाद अन्तः अनुभूतिवाद की अपेक्षा अधिक उन्नत विचार दूसरे नीति-शास्त्र के विद्वान् उक्त विचार से सहमत नहीं हैं। अमेरि प्रसिद्ध नीति-शास्त्रज्ञ हील राइट महाशय ने प्रकृतिवाद और सुखवा अन्तः अनुभूतिवाद से निम्नकोटि का माना है। प्रकृतिवाद और सुख बाहरी लक्ष्य को जीवन के समक्ष रखते हैं। अतएव इन्हें निम्नकोटि नैतिक विचार मानना ठीक ही है।

सभी प्राणियों को सुख की इच्छा रहती है और सभी प्राणी से बचना चाहते हैं। इसी दृष्टि से सभी प्राणियों के काम होते हैं। सुख के लिए कभी प्राणी दूसरे को दुःख देता है, इससे फिर उसको दुःख सहना पड़ता है। मनुष्य में दूसरों को दुःख देने अथवा सुख देने शक्ति दूसरे प्राणियों से कहीं अधिक है। यदि मनुष्य के ऊपर किसी प्र का नियन्त्रण न हो तो वह पशु से भी अधिक बुरा आचरण करे। मानव-समाज की स्थिति सम्भव ही न हो। मानव समाज की स्थिति तक सम्भव है जब तक समाज के अधिक लोगों में दूसरे लोगों को देने की नहीं वरन्, उन्हें सुखी बनाने की इच्छा रहती है। समाज अगुआ मनुष्य-समाज को बनाए रखने के लिए ही अनेक प्रकार के नै नियमों का समाज में प्रचलन करते हैं। इसी प्रकार धर्म-शास्त्र या रा राज्य नियमों का प्रचार होता है। राज्य के नियम और धर्म शास्त्र मनु को अपने सुख के लिए दूसरों को कष्ट देने से रोकते हैं। वे अनेक प्र के पुरस्कार के विचारों के द्वारा मनुष्य को भले कामों में भी लगाते है राज्य नियम अधिकतर नकारात्मक होते हैं। इसी प्रकार धार्मिक नि भी अधिकतर नकारात्मक होते हैं, अर्थात् वे बुरे कामों से मनुष्य रोकते हैं। कुछ धार्मिक नियम भले काम में भी मनुष्य को लगाते हैं करने से दूसरे जन्म में किसी-न किसी प्रका

का दण्ड मिलता है, अथवा मरने के उपरान्त नरक में जाना पड़ता है। इस प्रकार पुनर्जन्म के भय और नरक की यन्त्रणा के भय मनुष्य को अनैतिक आचरण से रोकते रहते हैं, और समाजव्यवस्था को सुदृढ़ बनाये रखते हैं।

परन्तु, किसी धर्म-शास्त्र के अनुसार नैतिक आचरण करना एक बाहरी सत्ता को धर्माधर्म, नीति और अनीति का निर्णायक मान लेना है। इसके अतिरिक्त नैतिक आचरण के लिए किसी बाह्य सत्ता के ऊपर निर्भर कर देना है। बाह्यसत्ता के भय से जो आचरण किया जाता है उससे मनुष्य की इच्छाशक्ति दृढ़ न होकर निर्बल होती है। इससे मनुष्य का आध्यात्मिक विकास नहीं होता। मनुष्य के आध्यात्मिक विकास का लक्ष्य उसे स्वावलम्बी और निर्भीक बनाना है। जब तक मनुष्य किसी बाहरी सत्ता के भय अथवा प्रलोभन के कारण नैतिक आचरण करता है उसमें वास्तविक नैतिकता का उदय नहीं होता। वास्तविक नैतिकता में मनुष्य को कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय के लिए अपने स्वतन्त्र विवेक पर निर्भर करना होता है और नैतिक आचरण के लिए प्रेरक अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ नहीं होता। इस दृष्टि से धर्म-शास्त्र की आज्ञा को बिना समझे-बूझे पालन करना निम्नकोटि का नैतिक आचरण है।

फिर संसार में अनेक धर्म हैं और उनके धर्म-शास्त्र भी भिन्न-भिन्न हैं। जो एक धर्म की पुस्तक के अनुसार कर्तव्य माना जाता है वही किसी दूसरे धर्म की पुस्तक के अनुसार अकर्तव्य माना जाता है। प्राचीन काल में भिन्न-भिन्न धर्म के लोग भिन्न-भिन्न प्रदेशों में रहते थे। उस समय न पुस्तकें थीं और न विभिन्न धर्मों के विचारों के जानने का साधारण व्यक्ति के पास कोई साधन था। अधिक जनता अपढ़ रहती थी। ऐसी अवस्था में धर्म-पुस्तक की कही हुई बातों पर किसी प्रकार शंका नहीं उत्पन्न होती थी। परन्तु अब परिस्थिति बदल गई है। सभी धर्मों के विचार अब साधारण व्यक्ति को भी सुलभ हैं। ऐसी अवस्था

में धर्म की कही हुई बातों को ही नैतिकता का प्रमाण मान लेना नहीं होता है। दूसरे धर्म की बुराइयाँ देखना सहज होता है। जहाँ हमारे समाज के कल्याण के विरुद्ध जो बातें रहती हैं उन पर हमारी दृष्टि तुरन्त चली जाती है। फिर जब एक धर्म की बातों के हम दोष देखने लगते हैं तो दूसरे धर्म और अपने ही धर्म की बातों में भी दोष दिखाई देने लगते हैं। जब मनुष्य में एक बार आलोचनात्मक बुद्धि जाग्रत हो जाती है तो वह दूसरे समाज और धर्मों की आलोचना तक ही सीमित नहीं रहती। जिन दोषों को वह दूसरे धर्मों में देखती है वह अपने धर्म में भी देखने लगती है। इस प्रकार धर्मशास्त्र के अतिरिक्त नैतिकता के किसी दूसरे प्रमाण को खोजने की आवश्यकता पड़ जाती है।

फिर विभिन्न धर्मों के झगड़े, धर्म शास्त्रों की महत्ता को ओर भी गिरा देते हैं। प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपनी ही धर्म-पुस्तक को ईश-वाक्य मानते हैं और उसकी बातों में किसी प्रकार का सन्देह करना महान् पाप समझते हैं। अपने धर्म के प्रचार करने के लिए, सीधे-सादे अनेक लोगों की हत्या भी ऐसे लोग कर डालते हैं। धर्मान्धता के कारण मनुष्य-मनुष्य के प्रति आधुनिक काल में जितनी निर्दयता का व्यवहार करता है उतनी निर्दयता का व्यवहार वह अन्यथा नहीं करता है। धर्मान्धता मनुष्य के विवेक की विनाशक है। विवेक के उदय के साथ साथ धर्मान्धता का अन्त होना स्वाभाविक है।

जब मनुष्य में विवेक का उदय होता है वह धर्म-शास्त्र की सभी बातों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है। वह सोचता है कि प्रत्येक धर्म अपने-आप को सब से ऊँचा मानता है और धर्म-पुस्तक में कही गई बातों को वह ईश्वर की बात मानता है। ईश्वर एक है, फिर वह विभिन्न धर्मों में विभिन्न बातें क्यों कहता है। यदि इन धर्म-पुस्तकों में भेद है तो उसकी कही हुई बात एकही सत्ता की आज्ञाएँ नहीं हैं, अर्थात् धर्म-शास्त्रों के भेदों की उपस्थिति उनके मिथ्यात्व को सिद्ध करती है। ऐसी स्थिति में मनुष्य को अपने आचरण की नैतिकता का निर्णायक धर्म-

पुस्तक अर्थात् उसके नियमों को मान लेना एक बड़ी भूल है। इस विचार के आते ही उसे आवश्यकता होती है कि वह किसी दूसरे अधिक विश्वसनीय नैतिकता के प्रमाण को खोजे।

जब हम एक ही धर्म को देखते हैं तो भी उसकी धर्म-पुस्तक मे बताये हुए नैतिक नियमों को अपने आचरण के लिए पर्याप्त पथ-प्रदर्शक नहीं पाते। कभी-कभी धर्म-शास्त्र में बताए हुए एक कर्तव्य का दूसरे कर्तव्य से विरोध हो जाता है। मान लीजिए, धर्म-शास्त्र सच बोलने को धर्म कहता है और दूसरे की प्राण-रक्षा को भी धर्म कहता है। कोई परिस्थिति ऐसी आ सकती है जिसमें सच बोलने से जीव की रक्षा नहीं होती, वरन् उसका विनाश होता है। ऐसी स्थिति में हमें किस धर्म का पालन करना चाहिये। सत्य बोलने का अथवा अहिंसा या जीवरक्षा का। फिर, जीवरक्षा के विषय में भी कठिनाई आ जाती है। सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा करने से मनुष्य का जीना भी असम्भव हो जाता है। साँप, बिच्छू आदि जब घर मे घुस जाते हैं तब उन्हें मारना ही पड़ता है। इसी प्रकार चोर, डाकू और हत्यारों के प्रति यदि उसी प्रकार का अहिंसा का बर्ताव किया जाय जैसा कि सामान्य व्यक्तियों के प्रति किया जाता है तो समाज-व्यवस्था का अन्त हो जाता है।

उपर्युक्त कठिनाइयों का हल धर्म-शास्त्र मुख्य नियमों के उपनियम बनाकर करता है। ये उपनियम नैतिकता के मुख्य नियम की व्याख्या करते हैं। ये बताते हैं कि किसी नियम को किसी विशेष परिस्थिति में कहाँ तक पालन करना चाहिए और जब दो नियमों का आपस मे विरोध हो जाय तो फिर किस नियम को मानना चाहिए। पर, इस प्रकार नियम के उपनियम बनते बनते नीति-शास्त्र का एक बड़ा ढाँचा उपस्थित हो जाता है। फिर इन सम्पूर्ण नियमों और उपनियमों को जानना एक साधारण व्यक्ति के लिए बड़ा कठिन हो जाता है। उसे धर्म शास्त्र के पंडित की शरण लेनी पड़ती है। वह अब यह निर्णय नहीं कर सकता कि उसे किसी विशेष परिस्थिति में कौन सा काम करना चाहिए और

कौन सा काम नहीं करना चाहिए। उसी को धर्मगुरु आदेश देते हैं उसे ही वह सब मानकर आचरण करता है। धर्मशास्त्र के अनुसार निर्णय करने में असमर्थता के कारण अथवा धर्माधर्म पर विचार करने के परिश्रम से बचने के कारण साधारण मनुष्य किसी पण्डित, मुल्ला और पादरी की शरण में चला जाता है और फिर वह धर्मपुस्तक की ओर भी न देखकर सीधी मुल्ला के हुक्म को बिना तर्क के मानने लगता है।

किन्तु, विवेकशील पुरुष इस प्रकार अपने आचरणों अपने आनन्द के विषय में दूसरों के ऊपर सर्वथा निर्भर कदापि न रहना चाहेगा। वह किसी ऐसे नैतिकता के माप-दण्ड को खोजने की चेष्टा करेगा जो उसे अपने विवेक को त्याग करने के लिए बाध्य न कर उससे काम लेने के लिए उसे प्रेरित करे। मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता नहीं खोना चाहता और अपने आचरण की नैतिकता के विषय में अपने को दूसरों पर निर्भर करने में उसे कभी शांति नहीं मिलती। इसी कारण वह नैतिकता के बाहरी माप दण्ड को छोड़कर किसी आन्तरिक माप-दण्ड की खोज करने की चेष्टा करता है और इस प्रकार अन्तः अनुभूतिवाद का जन्म होता है।

आन्तरिक नियमवाद —बाहरी नियम को नैतिकता का मापदण्ड मानने से जो कठिनाइयाँ होती हैं उसके कारण यह आवश्यक हो गया कि मनुष्य किसी भीतरी नैतिक नियम को धर्माधर्म का मापदण्ड माने और बाहरी सत्ता को सर्वोच्च सत्ता न मानकर किसी भीतरी सत्ता की खोज करे। नैतिकता का प्रारम्भ धार्मिक भावों की वृद्धि से होता है और प्रत्येक धर्म में किसी बाहरी देवी-देवता को माना जाता है जो मनुष्य के ऊपर शासन करता है। बौद्ध धर्म में ईश्वर की कल्पना नहीं की गयी है, परन्तु उसमें बुद्ध भगवान् को ही उसी दृष्टि से देखा जाता है जिस दृष्टि से अन्य धर्मवाले लोग ईश्वर को देखते हैं। जो श्रद्धा-भाव दूसरे धर्मों में अपने-अपने धर्मग्रन्थों के प्रति है, वही श्रद्धाभाव बौद्ध धर्म में भी बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के प्रति है और जिस प्रकार अन्य धर्म में

धर्म-गुरु होते हैं उसी प्रकार बौद्ध-धर्म में भी धर्मगुरु होते हैं। पर विकासात्मक मनोवृत्ति का मनुष्य इस स्थिति में संतुष्ट नहीं रहता। नैतिकता की दृष्टि से संसार के विभिन्न धर्म समाज के सामान्य लोगों की उसी प्रकार सेवा करते हैं जिस प्रकार बालक के अभिभावक बालक की सेवा करते हैं। परन्तु अभिभावकों की आवश्यकता मनुष्य के बचपन में ही होती है। उसकी प्रौढ़ावस्था में अभिभावकों की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार समाज में ज्ञानवृद्धि के साथ-साथ मनुष्य के नैतिक आचरण के लिए बाहरी नियम की आवश्यकता नहीं होती। बाह्य नियम और बाह्य सत्ता का स्थान आन्तरिक नियम और आन्तरिक सत्ता ले लेते हैं। इस प्रकार अन्तः अनुभूतिवाद का विकास होता है।

मनुष्य पहले-पहल अपने आचरण के नियामक की कल्पना अपने से बाहर करता है। किन्तु जब उसके विचार की वृद्धि होती है तो उसे अपने से बाहर किसी नियामक की उपस्थिति नहीं दिखाई देती। ऐसी स्थिति में या तो मनुष्य प्रकृतिवादी अथवा सुखवादी बन जाता है अथवा अन्तः अनुभूतिवादी बन जाता है। जिन लोगों की बुद्धि स्थूल पदार्थों पर जाती है वे प्रकृति को ही सर्वोपरि सत्ता मानने लगते हैं और उसके नियमों को नैतिक नियम मानते हैं। जिस प्रकार पशुओं के जीवन का नियन्त्रण प्रकृति करती है, इसी प्रकार मनुष्य के जीवन का भी नियन्त्रण प्रकृति ही करती है; और जिस तरह प्रकृति के नियमों के विरुद्ध चलने से संसार के दूसरे प्राणियों का नाश हो जाता है इसी प्रकार मनुष्य का भी विनाश प्रकृति के नियमों के विरुद्ध चलने से हो जाता है। फिर, मनुष्य के जीवन का ध्येय हो जाता है कि वह अपने आपको वातावरण के अनुकूल बनावे अथवा प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त करे। प्रकृतिवादियों के नीति-शास्त्रों में प्रकृति ही ईश्वर का स्थान प्राप्त कर लेती है, और धर्म शास्त्र का स्थान प्रकृति के नियम प्राप्त कर लेते हैं। नैतिकता का नियामक सुखवादी सुख को मान लेते हैं। सभी मनुष्य के आचरण का नियामक फिर सुखों की प्राप्ति हो जाता है।

सूक्ष्म विचारक जब शास्त्रों में बताए हुए नियमों का आधार अपने से बाहर नहीं देखते और जब वे ईश्वर, देवी-देवता आदि किसी ऐसी सत्ता को अपने से बाहर नहीं पाते तो वे उसकी खोज अपने भीतर ही करते हैं। वे कल्पना करते हैं कि यदि हमारे कार्यों का नियामक हमारे बाहर नहीं है तो हमारे भीतर ही होगा। इस प्रकार तर्क-बुद्धि के जाग्रत होने पर मनुष्य एक ओर विज्ञानवादी[1] बनता है और दूसरी ओर दार्शनिक[2]। विज्ञानवाद, प्रकृतिवाद और सुखवाद का निर्माण करता है, और दार्शनिक विचार अन्तः अनुभूतिवाद और आदर्शवाद का। दार्शनिक दृष्टिकोण के आते ही मनुष्य अपने आचरण के नियामक की खोज अपने से बाहर न करके अपने भीतर ही करता है। मनुष्य के आचरण का नियामक उसकी गहरी से गहरी-अनुभूति है। यही उसका आत्मा है। इस गहरी अनुभूति का स्वरूप क्या है, इसके विषय में भिन्न भिन्न प्रकार के मत हैं। कुछ लोग इस अनुभूति को तार्किक विचार से भिन्न मानते हैं और कुछ इसका तार्किक विचार से ऐक्य कर देते हैं। साधारणतः अन्तः अनुभूतिवाद के प्रमुख पण्डित आत्मा को आचरण का नियामक मानते हैं। वे आत्मा को तर्क के परे मानते हैं। तार्किक विचार आत्मा की आवाज को प्रकाशित कर सकता है, परन्तु तार्किक विचार ही स्वयं अन्तरात्मा की आवाज नहीं है।

अन्तः अनुभूतिवादी कुछ नीति शास्त्र के विद्वानों ने तार्किक विचार और अन्तः अनुभूति का सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। सर्वोत्कृष्ट तार्किक विचार ही मनुष्य का विवेक कहलाता है। विवेक किसी व्यापक नियम को देता है। विवेक हमें दूसरे लोगों के साथ उसी प्रकार के व्यवहार को करने की प्रेरणा करता है जिस प्रकार का व्यवहार हम उनसे चाहते हैं। मनुष्य की अन्तरात्मा विवेकशील है, अतएव ऐसी किसी बात को अन्तरात्मा की आवाज नहीं माना जा सकता जो विवेक के प्रतिकूल हो। मनुष्य की अन्तरात्मा स्वतन्त्र है। अतएव जिस किसी

1 Scientist. 2 Philosopher.

आचरण में अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता नहीं देखी जाती, जो राग-द्वेष के वशीभूत होकर किया जाता है वह अन्तरात्मा की आज्ञानुसार नहीं हो सकता। राग-द्वेषवश किये गये काम अन्तरात्मा की आवाज के विरुद्ध होते हैं। वास्तव में अन्तरात्मा की आवाज उन्हीं लोगों को सुनाई देती है जो सांसारिक प्रलोभनों से मुक्त हो गये हैं और जिनके मन किसी प्रकार के उद्वेगों से विचलित नहीं होते। ऐसे व्यक्ति स्वभावतः ही उस नियम का पालन करते हैं जिस नियम को वे संसार भर के लिए व्यापक बनाने की इच्छा करते हैं।

कठोर अन्तः अनुभूतिवादी सभी प्रकार की इच्छाओं का अथवा राग द्वेष के त्याग का सिद्धान्त प्रचलित करते हैं। जब तक मनुष्य इच्छाओं के जाल में पड़ा हुआ है, जब तक उसके मन में किसी न किसी प्रकार के राग-द्वेष उत्पन्न होते रहते हैं, तब तक उसकी दृष्टि शुद्ध नहीं हो सकती और उसको सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। वह अपने वास्तविक धर्म अथवा कर्तव्य को नहीं जान सकता। अतएव धर्म पथ जानने के लिए और धर्माचरण करने के लिए पहली आवश्यकता यह है कि मनुष्य अपने-आपको सब राग-द्वेषों से मुक्त करे और अपनी सभी इच्छाओं का त्याग करे। ऐसी ही अवस्था में मनुष्य अपने ही प्रति निरपेक्ष भाव धारण कर सकता है। निरपेक्ष साक्षी भाव के धारण करने पर ही मनुष्य को सत्य का दर्शन होता है। अतएव कठोर अन्तः अनुभूतिवादी आत्म विजय प्राप्त करने को ही अन्तरात्मा की आवाज सुनने का प्रमुख साधन मानते हैं। उस आचरण को वे नैतिक आचरण नहीं मानते जिसमें आत्म-विजय की किसी प्रकार की अवहेलना पाई जाय। आत्म-विजय के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य में वह शक्ति रह ही नहीं जाती जिसकी सहायता से वह सत्यासत्य का निर्णय कर सके अथवा सत्य जानकर उसके ऊपर चल सके।

अन्तः अनुभूतिवाद की कठिनाइयाँ—अन्तः अनुभूतिवाद नैतिकता में स्वतन्त्र विचार का मूल्य करता है। पर अन्तः अनुभूति-

वाद की कुछ विशेष कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई यह है कि कभी-कभी मनुष्य का विवेक उसे एक ओर ले जाता है और उसका हृदय उसे दूसरी ओर ले जाता है। जब मनुष्य अपने हृदय और बुद्धि में संघर्ष देखे तो उसे किसके अनुसार आचरण करना चाहिए? यदि वह अपने विवेक को मानता है तो उसका आचरण न्याययुक्त होता है। परन्तु कभी-कभी उसका हृदय इस प्रकार के आचरण को वांछनीय नहीं समझता। ऐसी अवस्था में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि मनुष्य अपने हृदय की बात न माने तो उसे विक्षिप्तता आने की सम्भावना रहती है, और यदि हृदय की बात माने तो उसका आचरण विवेक के प्रतिकूल हो जाता है। पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि हृदय की बात मानना भूल है। वास्तव में अन्तः अनुभूतिवाद नैतिक निर्णयों में बुद्धि को प्रधानता न देकर हृदय को ही प्रधानता देता है। बुद्धि उपस्थित प्रश्नों के आधार पर विचार करती है और हृदय कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय सीधे करता है। अतएव हृदय के निर्णयों को ऊँचे स्तर का माना जाता है। परन्तु हम जानते हैं कि मनुष्य का हृदय उसे उन्हीं भावनाओं की ओर ले जाता है जिनका मनुष्य को अभ्यास है। जिन बातों को कोई मनुष्य कई दिनों से ठीक समझता आया है उनके विरुद्ध किसी प्रकार के प्रमाण को उसका हृदय ग्रहण नहीं करता। अभ्यस्त नैतिक विचार ही उसकी अन्तरात्मा की आवाज बन जाते हैं और मनुष्य साधारणतः अपने अभ्यास के औचित्य को ही बौद्धिक प्रमाणों से सिद्ध करता रहता है। पर प्रश्न यह है कि हृदय और बुद्धि के विरोध की अवस्था में किसकी बात को सत्य समझा जाय। यहीं अन्तः अनुभूतिवाद की कमी स्पष्टतः दिखाई देने लगती है। दूसरी कठिनाई अन्तः अनुभूतिवाद में अन्तः अनुभूति की वैयक्तिकता की है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अन्तः अनुभूति, हृदय अथवा अन्तरात्मा की आवाज एक ही परिस्थिति में विभिन्न प्रकार की बातों का आदेश देती है। ऐसी अवस्था में किस व्यक्ति की अन्तः अनुभूति को प्रमाण माना जाय।

विरोधावस्था में सभी व्यक्तियों की अन्तः अनुभूति को प्रमाणित नहीं माना जा सकता और यदि सभी लोगों को अपनी-अपनी अन्तः अनुभूति के अनुसार आचरण करने की समाज स्वतन्त्रता दे दे तो समाज का संगठन ही नष्ट हो जाय। फिर अन्तः अनुभूति के अनुसार आचरण में बुरे से बुरे आचरण का उसी प्रकार समावेश हो जावेगा जिस प्रकार भले से भले आचरण का उसमे समावेश होता है। चोर, डाकू, व्यभिचारी भी कह सकते हैं कि वे अपनी अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार आचरण कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में सभी स्वार्थी लोग अपने आचरण की नैतिकता दर्शाने के लिए अन्तरात्मा की आवाज की दुहाई दे सकते हैं।

पर, यदि यह कहा जाय कि अन्तरात्मा की आवाज सभी लोगों को नहीं सुनाई देती, वरन् किसी विशेष व्यक्ति को ही सुनाई देती है, और जब विभिन्न व्यक्तियों की अन्तरात्मा की आवाज में विरोध हो तो हमें उस व्यक्ति की अन्तरात्मा की आवाज को सच्चा मानना चाहिए जो सदाचारी हो तो प्रश्न उठता है कि यह सदाचार है ही क्या? सदाचार नैतिक आचरण है और नैतिकता का निर्णायक अन्तरात्मा की आवाज है। यहाँ विचारों का गोल मोल होना प्रत्यक्ष है—सदाचार अन्तरात्मा की आवाज पर निर्भर करता है और अन्तरात्मा की आवाज सदाचार पर। इस प्रकार के गोल-मोल विचार से कोई विवेकशील व्यक्ति सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

वास्तव में अन्तरात्मा की आवाज का सिद्धान्त हमें नैतिकता में अराजकता की ओर ले जाता है। अन्तरात्मा की आवाज का सिद्धान्त वहीं सफल होता है जहाँ हम यह मान लेते हैं कि किसी एक व्यक्ति को ही अन्तरात्मा की आवाज सुनाई देती है और दूसरे व्यक्तियों को अन्तरात्मा की आवाज नहीं सुनाई देती। इस बात को जब साधारण जन समुदाय मान लेता है कि वह अन्तरात्मा की आवाज को नहीं सुनता तो वह अन्तरात्मा की आवाज सुनने वाले व्यक्ति का आज्ञाकारी भक्त बन जाता है और अपना आत्म-समर्पण उसके प्रति कर देता है।

कर लेने से उसे किसी प्रकार की पूर्णता प्राप्त हो जाती है; उससे उसे स्थायी आत्मसन्तोष होता। इस तरह मनुष्य पहले सुखवाद एवं पूर्णता अथवा स्थायी आत्मसंतोष के प्राप्त करने की चेष्टा करता है। पहले वह इसकी खोज विषय सुख अथवा सांसारिक सफलता में करता है। पीछे पर इसकी कमियों का ज्ञान होता है और आध्यात्मिक पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करने लगता है। इस प्रकार मनुष्य का विवेक उसे अपनी बहिर्मुखता को छोड़ने के लिए बाध्य करता है और अन्तर्मुखी होने के लिए प्रेरित करता है। विवेकी पुरुष के आचरण का लक्ष्य आध्यात्मिक पूर्णता अथवा निर्वाण की प्राप्ति होती है। सर्वोत्तम स्वपरवाद के अनुसार किसी भी प्रकार के आचरण की नैतिकता इसी बात से मानी जाती है कि वह विवेक के द्वारा निश्चित किये हुए लक्ष्य की प्राप्ति में कहाँ तक सहायक है।

मनुष्य का विवेक उसे विश्वात्मा की ओर ले जाता है। विवेकवान् व्यक्ति अपने वैयक्तिक सुख से सुखी नहीं होता, वह सबका सुख चाहता है। जिस प्रकार वह अपने वैयक्तिक विचार को एक मत मात्र मानता है और उसी विचार को सद्विचार अथवा सिद्धान्त मानता है, जिसे वह सर्वग्राही पाता है, अर्थात् जिसकी उसे सत्यता सभी विवेकशील व्यक्तियों को प्रत्यक्ष दिखाई देती है, इसी प्रकार वह ऐसे आचरण को नैतिक आचरण नहीं मानता जो किसी वैयक्तिक अनुभूति के ऊपर आधारित हो और जिसका समर्थन सभी विवेकशील मनुष्यों के द्वारा न होता हो। उसके जीवन का लक्ष्य केवल अपनी ही पूर्णता प्राप्त करना नहीं होता वरन् सभी की पूर्णता प्राप्त करना होता है। वास्तव में पूर्णता कोई वैयक्तिक वस्तु नहीं है, यह व्यापक वस्तु है। जो व्यक्ति अपनी ही पूर्णता की खोज करता है वह इस खोज करने की क्रिया से ही उसका विनाश कर देता है। वह पूर्णता ही कैसी जो किसी व्यक्ति विशेष से सीमित हो।

नवाँ प्रकरण

अन्तः अनुभूतिवाद[1]

अन्तः अनुभूतिवाद की आवश्यकता—हमने पिछले प्रकरण में दिखलाया है कि पहले-पहल मनुष्य नैतिकता की कसौटी की खोज अपने से बाहर करता है, पीछे वह जब इस कसौटी की त्रुटियों को जान लेता है तो वह अपने भीतर ही नैतिकता की कसौटी की खोज करता है। धर्म की अविकसित अवस्था में ईश्वर की आज्ञा को धर्म अथवा कर्तव्य मान लिया जाता है। ईश्वर की आज्ञा को हम धर्म-ग्रन्थों से पहचानते हैं। यह मान लिया जाता है कि धर्म-ग्रन्थों को या तो ईश्वर ने ही बनाया है अथवा ईश्वर के किसी अवतार ने, एकलौते पुत्र ने, उसके दूत अथवा नौकर ने बनाया है। धर्म-ग्रन्थों का अधिकार और सत्ता मनुष्यों के उक्त विश्वास पर निर्भर करता है। जब मनुष्यों में विचार का विकास होता है तो वह ईश्वर की खोज अपने से बाहर न करके अपने भीतर ही करता है। इस प्रकार ईश्वर का विचार परमात्मा, अन्तर्यामी, साक्षी, कूटस्थ आदि विचारों का जनक होता है। जब मनुष्य संसार के महाप्रभु को अपने भीतर ही देखने लगता है तो उसकी आज्ञा को ही सर्वोच्च धर्म मानने लगता है। इस प्रकार जब तार्किक विचार गम्भीर होता है तो वह मनुष्य को स्वतः ही अन्तः अनुभूति की ओर ले जाता है। अन्तः अनुभूतिवाद के सभी बड़े बड़े पण्डित गम्भीर दार्शनिक भी थे और किसी न किसी धर्म के मानने वाले थे। कितने ही अन्तः अनुभूतिवादियों को बचपन में अच्छी धार्मिक शिक्षा मिली थी। जब एक बार मनुष्य धार्मिक बन जाता है तो वह अपनी धार्मिक मनोवृत्ति को वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त करने पर भी नहीं छोड़ता। वैज्ञानिक विचार बाहरी

1. Intuitionism.

ईश्वर की सत्ता में अविश्वास उत्पन्न कर सकता है, परन्तु यदि मनुष्य में श्रद्धा की मनोवृत्ति है तो वह अपने भीतर ही उस सत्ता को देखने लगेगा जिसकी कल्पना वह अपने से बाहर करता है। बहिर्मुखी बुद्धि लौकिक अनुभव और वैज्ञानिक विचारों में लगन उत्पन्न करती है और अन्तर्मुखी बुद्धि मनुष्य को अन्तर्यामी की ओर ले जाती है।

अन्तः अनुभूति क्या है ?—मनुष्य का अनुभव दो प्रकार का होता है, एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। बाह्य अनुभव वाह्येन्द्रियों के द्वारा होता है और आन्तरिक अनुभव मनुष्य को उसकी अन्तर्मुखी बुद्धि अथवा हृदय के द्वारा होता है। इस प्रकार ज्ञान के दो प्रकार के साधन होते हैं - बाह्य करण अर्थात् इन्द्रिय और अन्तः करण। अन्तः अनुभूति अन्तः करण के द्वारा प्राप्त ज्ञान है। इसे अंग्रेजी में इन्ट्यूशन अर्थात् आन्तरिक आदेश कहते हैं। जो शक्ति इस ज्ञान को देती है उसे अंग्रेजी में कान्शन्स अर्थात् अन्तरात्मा कहा जाता है। कभी-कभी कान्शन्स को अन्तरात्मा की आवाज अर्थात् अन्तर्ध्वनि भी कहा जाता है। अन्तः अनुभूति को भारतीय दर्शन में प्रज्ञान कहते हैं। अन्तः अनुभूति एक ओर मनुष्य को आत्म-तत्त्व का ज्ञान कराती है और दूसरी ओर यह मनुष्य को अपने कर्तव्य का ज्ञान कराती है। जब इसका कार्य ज्ञानोत्पादन होता है तब इसे दिव्य दृष्टि भी कहते हैं और जब यह क्रिया का काम करती है तब इसे कान्सन्स अथवा अन्तरात्मा की आवाज अथवा अन्तर्प्रेरणा, अन्तर्ध्वनि आदि नामों से पुकारा जाता है। नीति शास्त्र में हमारा प्रयोजन अन्तः अनुभूति के क्रियात्मक पहलू से अधिक रहता है।

अन्तर्ध्वनि का स्वरूप—अन्तः अनुभूतिवाद के अनुसार अन्तर्ध्वनि ही कर्तव्याकर्तव्य की निर्णायक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह मनुष्य की क्रिया से सम्बन्ध रखती है। यह मनुष्य को उसकी भूल बताती है और सन्मार्ग पर चलने के लिए उसे प्रेरणा प्रदान करती है। अन्तर्ध्वनि का स्वरूप और उसके कार्य भिन्न भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के माने हैं। कितने ही विद्वानों ने इसे मनुष्य की छठवीं

इन्द्रिय कहा है, जिसका मुख्य कार्य यही है कि वह धर्माधर्म का विवेचन करे। कुछ विद्वानों के अनुसार यह धर्माधर्म का ज्ञान उसी प्रकार प्राप्त करती है जिस प्रकार आँख रंग का और कान शब्द का ज्ञान करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति की अलग अलग होती है। किन्तु जिन लोगों को अच्छी शिक्षा मिली हो उन सभी लोगों की अन्तर्ध्वनि एक ही बात कहती है। दूसरे लोग इसकी ज्ञान-शक्ति को दूसरे प्रकार का मानते हैं जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

अन्तर्ध्वनि न केवल कर्तव्य और अकर्तव्य को तथा आचरण में उचित और अनुचित की पहचान करती है, वरन् वह मनुष्यों के हृदय में प्रेरणा उत्पन्न करती है कि वे भले काम करें और बुरे काम से अपने-आप को रोकें। जब मनुष्य कोई बुरा काम कर बैठता है तो उसकी अन्तरात्मा से आत्म ग्लानि के रूप में उसे दण्ड भी मिलता है। जब वह ठीक काम करता है तो उसके मन में आत्म-प्रसाद उत्पन्न होता है। यह आत्म-प्रसाद ठीक काम करने का पुरस्कार है। इस तरह अन्तर्ध्वनि कई काम करती है। वह नैतिकता के माप दण्ड को निश्चित करती है, अर्थात् उसके नियम को बनाती है, वह मनुष्य में भले काम करने के लिए प्रेरणा उत्पन्न करती है, और बुरे काम करने पर वह दोषारोपण करती है, वह साक्षी भाव से न्यायाधीश का काम करती है और यदि कोई काम उसकी दृष्टि में अनुचित ठहरा तो उसके लिये दण्ड भी देती है। किन्तु उसका प्रधान कार्य नैतिकता के विषय में निर्णय करने का है। यही नैतिकता की कसौटी है और उसका निर्णायक भी है।*

*Conscience is knowledge or *judgment*. This, we have seen is not merely logical judgment. It is not a mere judgment of fact. It is also judicial. It is judgment upon fact This judicial attitude of of conscience is a prominent characteristic of it. Concience in its usual manifestation seems to be engaged in a species of judicial investigations. Older writers delight in this metaphor which they

अन्तर्ध्वनि तार्किक बुद्धि से स्वतन्त्र वस्तु है। यह हमें ऊँचे स्तर का ज्ञान देती है। अन्तर्ध्वनि से प्राप्त हुए ज्ञान की सत्यता और उसकी आज्ञा का औचित्य तर्क बुद्धि के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु अन्तर्ध्वनि स्वयं तर्क से उत्पन्न नहीं होती। यह अन्तर्ध्वनि निश्चयात्मक बुद्धि को देती है। तार्किक विचार मनुष्य को सदा डाँवाडोल अवस्था में रखता है। यह कभी एक पक्ष को ठीक सिद्ध करता है और कभी दूसरे को। निश्चयात्मक विचार अन्तर्ध्वनि से प्राप्त होता है। मनुष्य को क्योंकि जितना ही कम अन्तर्ध्वनि की आवाज सुनने का अभ्यास है वह उतना ही अपने निश्चय में डाँवाडोल रहता है, और जो जितना ही अधिक अन्तर्ध्वनि पर अपने आप को आश्रित कर देता है वह अपने निश्चयों में उतना ही दृढ़ होता है। जिन लोगों को धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक बड़े बड़े महत्व के निर्णय करने पड़ते हैं उन्हें अन्तर्ध्वनि की आवाज पर निर्भर होने की उतनी ही अधिक आवश्यकता होती है। जब वे एक निर्णय पर पहुँच जाते हैं तो वे अपने निश्चय से सामान्य विरोधी विचारों के कारण चलायमान नहीं होते।

अन्तर्ध्वनिवाद के प्रकार

अन्तर्ध्वनिवाद की कई शाखाएँ हैं। अन्तर्ध्वनि को मानने वाले विद्वानों ने अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार अन्तर्ध्वनि की भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना की है। कुछ विद्वानों ने इसकी तुलना हमारी साधारण ज्ञानेन्द्रियों से की है और इसे विशेष प्रकार की इन्द्रिय माना है, दूसरे विद्वानों ने इसे ईश्वर की आवाज माना है और कुछ ने इसे विवेकात्मक विचार माना है। इस तरह हम तीन प्रकार के प्रधान मतों को पाते हैं। ये मत तीन प्रकार के अन्तः अनुभूतिवाद कहे जाते हैं—

---

worked out to show that, as common language seems to imply, conscience is at once law giver, accuser, witness and judge; conscience, it is said, "commands", conscience "accuses", conscience, "bears witness", conscience "acquits" or "condemns". Muirhead: Elements of Ethics, P.

(१) अन्तः करणवाद अथवा नैतिक प्रज्ञावाद,[1]
(२) विवेकात्मक अन्तः अनुभूतिवाद,[2] और
(३) धार्मिक अन्तः अनुभूतिवाद[3]

पहले मत के प्रवर्तक शेफ्टसबरी और हचिन्सन महाशय हैं, दूसरे मत के प्रधान प्रवर्तक कडवर्थ, वालस्टेन और इयेनुअल कान्ट महाशय हैं, और तीसरे मत के प्रवर्तक मार्टिनो, बिशपबटलर और न्यूमन महाशय हैं। इन सब मतों का परिचय करना अन्तः अनुभूति को भली-भाँति समझने के लिए आवश्यक है। अतः हम आगे के पृष्ठों में उक्त मतों का संक्षेप में परिचय कराने की चेष्टा करेंगे।

नैतिक-प्रज्ञा वाद[1]—नैतिक प्रज्ञावाद के प्रवर्तक शेफ्टसबरी और हचिनसन महाशय हैं। उनके मत का समर्थन जान रस्किन के लेखों में भी पाया जाता है। नैतिक प्रज्ञावाद के अनुसार हम किसी प्रकार के आचरण की नैतिकता हमारी एक विशेष इन्द्रिय के द्वारा जानते हैं। इस इन्द्रिय को अन्तर्ध्वनि अथवा नैतिक प्रज्ञा कहते हैं। नैतिक प्रज्ञा से उसी प्रकार भले और बुरे का ज्ञान होता है जिस प्रकार हमारी बाहरी इन्द्रियों के द्वारा बाहरी पदार्थों के विभिन्न प्रकार के गुणों का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के लिये विचार की आवश्यकता नहीं होती। रंग का ज्ञान आँख से होता है, ध्वनि का कान से, इसी प्रकार भलाई और बुराई का ज्ञान सीधे नैतिक प्रज्ञा से होता है।

सुशिक्षित व्यक्ति आचरण की भलाई और बुराई को तुरन्त पहचान जाता है और उसे भला आचरण अच्छा लगता है। सुन्दरता से प्रेम करने वाले व्यक्ति का दुराचारी होना सम्भव नहीं। मनुष्य में सुन्दरता का प्रेम जन्मजात है, शिक्षा के द्वारा उसकी वृद्धि की जाती है। इसी तरह उसमें सदाचार की प्रवृत्ति जन्म जात है, इसे शिक्षा के द्वारा बढ़ाया जा सकता है।

---

1 Moral Sense School. 2 Rationalistic Intuitionism.
3 Religious Intuitionism.

नैतिक प्रत्यक्षवाद की समालोचना—नैतिक प्रत्यक्षवाद के अनुसार नैतिकता का ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान के सदृश सहज निर्विकल्प ज्ञान है। इसके लिये विचार की आवश्यकता नहीं होती। पर बात ऐसी नहीं है। किसी विशेष कार्य की नैतिकता जानने के लिये काफी चिन्तन करना पड़ता है। जब मनुष्य किसी धर्म संकट में पड़ जाता है तो उसका मन कभी एक काम को करने को कहता है और कभी दूसरे काम को। यदि नैतिकता को जानने वाली शक्ति आंख और कान के सदृश ज्ञान देती तो जिस प्रकार रंग और ध्वनि का ज्ञान हम एकाएक कर लेते हैं उसी प्रकार हम नैतिकता का ज्ञान भी एकाएक कर लेते और हमें आचरण की नैतिकता के विषय में अधिक सोचना ही न पड़ता।

फिर दो व्यक्ति कभी कभी महत्व पूर्ण कामों की नैतिकता के विषय में भिन्न भिन्न राय रखते हैं। यदि अन्तर्ध्वनि का ज्ञान आंख के ज्ञान के सदृश होता तो इस प्रकार मत भेद होना असम्भव होता। ऐसा मत भेद शिक्षित व्यक्तियों में उसी प्रकार होता है जिस प्रकार अशिक्षित व्यक्तियों में होता है। यदि हम किसी काम की नैतिकता के निर्णय में तार्किक विचार को स्थान न दें तो दो व्यक्तियों के भिन्न भिन्न मतों में से यह कैसे न जान सकेंगे कि कौनसा मत ठीक है और कौनसा गलत। अतः हम अपने विचार से ही निर्णय करते हैं कि दो सच्चे व्यक्तियों में से किसकी राय मानना चाहिये।

साधारणतः अन्तरात्मा की आवाज सुनने वाले लोग दूसरे लोगों की अन्तरात्मा की आवाज को महत्त्व नहीं देते वे अपनी ही अन्तरात्मा की आवाज को सच्चा मान लेते हैं। दूसरे लोग उनका अन्ध अनुकरण मात्र करते हैं।

नैतिक प्रत्यक्षवादियों का कथन है कि भली शिक्षा से अन्तर्ध्वनि की आवाज सुनाई देती है। पर हम किस शिक्षा को भली और किस को बुरी कहेंगे? यदि इसका उत्तर यह हो कि जो शिक्षा सद्विचार के अनुसार हो वह भली मानी जाय, तो सद्विचार नैतिकता का निर्णायक हो जायगा,

और यदि कहा जाय कि अन्तर्ध्वनि के अनुसार प्राप्त शिक्षा भली शिक्षा है तो अन्तर्ध्वनि का स्वरूप फिर भी स्पष्ट न होगा। इस प्रकार की युक्ति अन्योन्याश्रय दोषयुक्त है।

अन्तर्ध्वनि के ज्ञान को सौंदर्य के ज्ञान की सदृश्यता देकर उसे तार्किक' विचार के परे बनाना सम्भव नहीं। तार्किक विचार वस्तुओं की सुन्दरता के निर्णय में काम करता है। किसी पदार्थ की सुन्दरता उस पर विचार किये बिना नहीं निश्चित होती। इसी प्रकार बिना विचार किये आचरण की नैतिकता का निर्णय करना सम्भव नहीं। फिर सुन्दरता के विषय में अपने-अपने संस्कारों के अनुसार दो व्यक्ति दो प्रकार के निर्णय देते हैं। इन लोगों के विचारों में समन्वय स्थापित करने की, अथवा उनके विषय में सदासत् जानने की उतनी आवश्यकता नहीं होती जितनी नैतिक विचारों के विषय में जानने की आवश्यकता होती है। कोई भी मनुष्य सुन्दरता का वास्तविक रूप बिना जाने अपने जीवन को समाजोपयोगी बना सकता है; पर वह नैतिकता का ठीक-ठीक निर्णय कर सकने की योग्यता के बिना अपना जीवन सफल नहीं बना सकता और न समाज उपयोगी काम कर सकता है। अतएव नैतिकता के विचार जीवन में जितना महत्त्व रखते हैं सौन्दर्य के विचार उतना महत्व नहीं रखते।

सुन्दरता और नैतिकता का ऐक्य करना एक भारी भूल है। मनुष्य के अनेक काम ऐसे होते हैं जो देखने में असुन्दर होते है पर नैतिकता की दृष्टि से ऊँचे होते हैं। किसी रोगी की सेवा करना, उसका मल-मूत्र साफ करना असुन्दर काम दिखाई देते हैं, पर नैतिकता की दृष्टि से ये ऊँचे काम हैं। फिर कितने सुन्दर पुरुष और सुन्दरता के प्रेमी व्यभिचारी होते हैं, अर्थात् उनका आचरण अनैतिक होता है और कितने ही रूप में असुन्दर पुरुष तथा सुन्दरता से उदासीन व्यक्तियों का आचरण उच्च कोटि होता है। यूनान देश में किसी समय सुन्दरता के उपासकों की वृद्धि हो गई थी। इन उपसकों को महात्मा सुकरात को विष पिलाने में इस लिये हिचक न हुई कि वे सोचते थे कि वे एक दुरात्मा को मार रहे हैं। महात्मा

सुकरात रूप में असुन्दर थे और अपनी गरीबी के कारण सुन्दर-सुन्दर वस्त्र भी धारण नहीं कर सकते थे। यूनानियों का विचार था कि जो व्यक्ति रूप में असुन्दर है वह आत्मा में भी असुन्दर होगा, अतएव ऐसे व्यक्ति की मृत्यु हो जाना ही अच्छा है। आज हम जानते हैं कि उनका इस प्रकार का विचार भूल था।

कितने ही विलासी नवयुवक और नवयुवतियाँ अपने आपको आकर्षक बनाने के लिये अनेक प्रकार का शृंगार करती हैं। प्रति दिन नये धुले कपड़े पहनना, प्रति दिन साड़ी बदलना, चमकीला चेहरा बनाने के लिये पाउडर और स्नोक्रीम लगाना सुन्दरता की अति उपासना का ही परिणाम है। यदि ये लोग अपनी विलासता की सामग्री को कम करके, शरीर शृङ्गार की चीजों से पैसा बचा कर भूखे मरते गरीबों को खाने को देते तो उनका रूप कुछ अनाकर्षक अवश्य हो जाता, पर नैतिक दृष्टि से वे अपने आपको ऊँचा उठा लेते। जब किसी राष्ट्र में सुन्दरता की उपासना की अत्यधिक वृद्धि होती है तो उसका पतन होता है और जब नैतिकता की वृद्धि होती है तो उसका उत्थान होता है। प्राचीनकाल में यूनान और भारतवर्ष की सौन्दर्य-उपासना उन्हें रसातल को ले गई, वर्तमानकाल में भारतवर्ष में नवजीवन नैतिकता के जागरण के साथ साथ आया है।

विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद[1]

विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद के मुख्य तत्त्व-विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद न्याय शास्त्र को नीति-शास्त्र में प्रधानता देता है। इसके अनुसार मनुष्य की अन्तरात्मा जिस कार्य की ओर हमें प्रेरित करती है वह विवेक के प्रतिकूल नहीं होता। जब कभी हमें अन्तरात्मा से कोई ऐसे काम करने का आदेश मिले जो हमारे विवेक के प्रतिकूल है तो हमें समझना चाहिये कि वह अन्तरात्मा

1. Rational Intuitionism.

का आदेश ही नहीं हैं। अन्तरात्मा के आदेश तर्क बुद्धि के द्वारा ठीक माने जाते हैं। इंग्लैंड के प्रसिद्ध नीति शास्त्र के विद्वान् कडवर्थ और क्लार्क महाशय का कथन है कि नैतिक निर्णय तर्क-शास्त्र के निर्णय के समान है। जिस प्रकार सौन्दर्यवादी कहा करते थे कि अनैतिक काम वह है जो सुन्दरता के विरुद्ध हो, अर्थात् अनैतिक कार्य असुन्दर कार्य है, इसी प्रकार विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद के प्रवर्तकों ने कहा है कि जो कार्य तर्कयुक्त न हो वह अनैतिक है। उन्होंने आचरण की भूल को विचार की ही भूल माना है। जिस प्रकार विचार में मनुष्य को अविरोध का नियम[1] पालन करना पड़ता है, इसी प्रकार नैतिक आचरण मे भी उसे अविरोध का नियम पालन करना पड़ता है। जो व्यक्ति अपने आचरण को कभी कैसा और कभी वैसा बनाता है, अर्थात् जिसके आचरण में एकता और साम्य नहीं रहता वह सदाचारी नहीं कहा जा सकता है। अपने पूर्व कृत्य के विरुद्ध आचरण करना अनैतिक आचरण है, जिस तरह कि अपने पूर्व विचार के प्रतिकूल किसी विचार को लाना विचार में भूल मानी जाती है। जिस तरह पारस्परिक विरोधी विचार सही नहीं होता, इसी तरह पारस्परिक विरोधी आचरण भी सही नहीं होता।

वालस्टेन का मत—विवेकात्मक अन्तर्ज्ञानवाद के एक मुख्य प्रवर्तक विलियम वालस्टेन महाशय थे। उनके कथनानुसार अनैतिक आचरण वह है जिसमें मनुष्य अपने आचरण को झूठा बनाता है। वालस्टेन महाशय ने नैतिकता के आधारभूत निम्न चार सिद्धान्तों का निरूपण किया है—

(१) जिन कार्यों को नैतिक अथवा अनैतिक कहा जा सकता है वे विवेक युक्त और स्वतन्त्र कर्त्ता के होते हैं, अर्थात् कर्त्ता में उन्हें पहचानने की, चुनाव करने की, और भले समझे जाने वाले काम को करने की योग्यता होती है।

(२) वे विचार सही हैं जिनके द्वारा जैसी वस्तु स्थिति है वैसी ही

1. Law of Noncontradiction.

कहलाने जितना हम उसे दुराचरण के लिए दोषी ठहराते हैं। यदि कोई व्यक्ति भूख को शान्त और प्यास को तृप्त मान ले तो हम उसे केवल मूर्ख मानकर रह जाते हैं, उसे हम दण्ड देने के लिये उद्यत नहीं होते। पर यदि कोई व्यक्ति दुराचरण करता है तो समाज उसे दण्ड देता है, उसके प्रति उदासीनता दिखाना समाज व्यवस्था के लिये हानिकारक है। इस प्रकार आचरण की बुराई को विचार की भूल मात्र नहीं कहा जा सकता। वास्तव में जब हम किसी व्यक्ति के आचरण की बुराई को उसके विचार की भूल के रूप में देखने लगते हैं तो उसके बुरे आचरण को क्षम्य मान लेते हैं।

धार्मिक अन्तरनुभूतिवाद[1]

न्यूमेन का मत—धार्मिक अन्तरनुभूतिवाद के सबसे अच्छे समर्थक कार्डिनल न्यूमेन महाशय हैं। इन्होंने अपने सिद्धान्तों को अपनी पुस्तक "ग्रामर आफ असेन्ट" में लिखा है। कार्डिनल न्यूमेन महाशय के अनुसार मनुष्य के विचार में दो प्रकार की शक्तियाँ काम करती हैं, एक युक्तियों को खोजती और दूसरी निर्णय देती है तथा विश्वास को उत्पन्न करती है। पहली प्रकार की शक्ति को तर्कबुद्धि और दूसरी को निश्चयात्मक बुद्धि कह सकते हैं। न्यूमेन महाशय ने इसे "इलेटिव फेकल्टी"[2] कहा है। निश्चयात्मक बुद्धि ही अन्तर्ध्वनि है। यह मनुष्य के नैतिक और धार्मिक दोनों प्रकार के विचारों में काम करती है।

न्यूमेन महाशय का कथन है कि हमारे प्रत्येक विचार में तर्क के परे एक विलक्षण शक्ति कार्य करती है। इसे "स्वीकार शक्ति" कह सकते हैं। न तो अनुभव और न तार्किक प्रमाण मन को किसी निश्चय के लिये पर्याप्त होते हैं। जब तक हम किसी बात को मानने को तैयार नहीं तब तक कोई भी व्यक्ति हमें उसे तर्क द्वारा अथवा अनुभव के प्रमाण द्वारा मनवा नहीं सकता। यदि मनुष्य केवल

---

1 Religious intuitionism, 2. Illative Faculty.

तर्क के आधार पर ही अपना निर्णय करे तो वह किसी निर्णय को न कर सके। उसका मन सदा डवांडोल अवस्था में ही बना रहे। एक प्रमाण दूसरे विरोधी प्रमाण को काट देता है, इस प्रकार वह बुद्धि को अस्थिर कर देता है। फिर यदि हम प्रमाणों के आधार पर ही अपने निश्चय को बनाने लग जायें तो हम सदा संदिग्ध मन ही रहेंगे, क्योंकि प्रत्येक प्रमाण का विरोधी प्रमाण आज नहीं तो भविष्य में मिल ही सकता है। मनुष्य ऐसी स्थिति में सदा सन्देह की मनोवृत्ति में ही बना रहेगा। अतएव किसी भी निश्चय का आधार तार्किक प्रमाण मात्र नहीं होता, वरन् श्रद्धा और विश्वास होते हैं। विश्वास की मनोवृत्ति ही एक प्रकार के प्रमाण को स्वीकार करती है और दूसरे प्रकार के प्रमाण को अस्वीकार करती है। जब तक यह मनोवृत्ति अपना काम नहीं करती मनुष्य सदा सन्दिग्ध मन बना रहता है।

न्यूमैन का कथन है कि निश्चय पर पहुँचाने वाली बुद्धि विश्लेषणात्मक[1] नहीं है, यह बुद्धि सभी बातों को एक साथ देखने की योग्यता रखती है अर्थात् यह संश्लेषणात्मक[2] बुद्धि है। जब यह बुद्धि नैतिक निर्णयों में काम करती है तो यह अन्तर्ध्वनि कहलाती है। यह तर्क बुद्धि से सहायता लेती है किन्तु यह उसके परे है। दूसरे लोगों की अपेक्षा धार्मिक मनोवृत्ति के लोगों में यह अधिक प्रबल होती है।

उक्त मत की आलोचना—धार्मिक अन्तर्ध्वनि वाद एक महत्व के सत्य को प्रदर्शित करता है। मनुष्य किसी निर्णय पर आने के लिये केवल अपनी तर्क बुद्धि से ही काम नहीं लेता, वरन् सम्पूर्ण बुद्धि और अपनी अचेतन भावनाओं से भी काम लेता है। पर इस निर्णय की शक्ति को युक्तसंगत विचार अथवा तर्क बुद्धि से पृथक वस्तु मानना अनावश्यक है। यह बात सत्य है कि हम बहुत सी बातों को बिना तार्किक बुद्धि के काम में लाये ठीक ठीक से समझ जाते हैं और हमारे बहुत से ऐसे निर्णय होते हैं जिनकी सभी युक्तियां हम तर्क के रूप में दूसरों के समक्ष नहीं रख सकते। हम

1. Analytic, 2. Synthetic,

कभी किसी व्यक्ति को देखते हैं और एकाएक उससे किसी प्रकार के नुकसान की आशा करने लगते हैं, और कभी हम दूसरे व्यक्ति को देखते हैं और उससे लाभ की आशा करने लगते हैं। यह हमारी संश्लेषणात्मक बुद्धि का काम है। इसी प्रकार जिस व्यक्ति को नैतिक कार्य करने का अभ्यास है वह किसी भी कार्य की नैतिकता को उसपर तार्किक विचार किये बिना तुरन्त ही समझ जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी निर्णय पर आने के लिए तर्क के अतिरिक्त दूसरी शक्ति भी सहायता करती है।

पर इस शक्ति को तर्क-शक्ति के ऊपर की शक्ति मानना अथवा उससे भिन्न मानना अथवा उसे किसी एक प्रकार के व्यक्ति की विशेषता मानना युक्ति संगत नहीं हैं। जिस निर्णय पर हम एकाएक आजाते हैं, उसके विषय में जब हम विचार करते हैं, तो युक्तियों को भी जान लेते हैं। ये युक्तियां हमारे अचेतन मन में वर्तमान रहती हैं, पर यत्न करने पर ये चेतना को स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगती हैं। मनुष्य की समझ के इस प्रकार दो अंग हैं, एक तार्किक विचार[3] और दूसरे अज्ञात समझ[4]। यह समझ सभी लोगों को होती है। इसके लिये धार्मिक साधनाओं की विशेष आवश्यकता नहीं। जिन लोगों को धार्मिक जीवन का अभ्यास हैं, वे धार्मिक निर्णयों में प्रवीण होते हैं और जिन लोगों का मन राजनैतिक बातों में विचरण करता है वे राजनैतिक बातों के निर्णय करने में प्रवीण होते हैं। यहाँ मनुष्य का अभ्यास ही उसकी विशेष प्रकार की शक्ति की वृद्धि का कारण होता है।

धार्मिक अन्तर्ध्यनिवाद के मानने वाले लोग अन्तरात्मा की आवाज में विश्वास करते हैं। ऐसे लोग संसार के दूसरे लोगों के धर्म गुरु बनते है। धार्मिक पैगम्बरों के बारे में प्रसिद्ध है कि वे अपनी अन्तरात्मा में भगवान की आवाज सुनते थे। इसी प्रकार आधुनिक काल में भी कुछ लोग ईश्वर की आवाज अपने हृदय में सुनते हैं और इस आवाज के आधार पर वे

3 Rational thoughts, 4 Apperceptive power.

अपना सारा कार्य-क्रम बनाते हैं। ईश्वर की आवाज सुनने वाले लोग दृढ़ इच्छा-शक्ति के होते हैं। वे समाज के नेता होते हैं, वे अपने निश्चय के प्रतिकूल किसी प्रकार की युक्तियों को नहीं सुनते। वे दृढ़व्रती होते हैं, अतएव वे बहुत कुछ समाज का उपकार करने में समर्थ होते हैं। परन्तु यदि वे कोई भूल करें तो उसका सुधारना भी कठिन होता है। वे दूसरे लोगों की अन्तरात्मा की आवाज की परवाह नहीं करते, जो उनसे भिन्न राय रखता है उसे वे गुमराह मान लेते हैं। इसके कारण कभी-कभी समाज की भारी क्षति भी हो जाती है।

अन्तर्ध्वनि को मानने वाले लोगों का जिस प्रकार प्रबल व्यक्तित्व होता है, इसी प्रकार उनके अनुयायियों का व्यक्तित्व निर्बल होता है। मनुष्य की इच्छा-शक्ति अपने ही निर्णय के अनुसार काम करने से दृढ़ होती है, चाहे यह निर्णय तर्क बुद्धि का निर्णय हो अथवा किसी दूसरी शक्ति का। जो लोग अन्तरात्मा की आवाज सुनने वाले व्यक्ति को आप्त पुरुष मान कर बिना तार्किक विचार के उसका अनुकरण करते हैं वे अपनी स्वतन्त्र निश्चय करने की शक्ति को खो देते हैं। इस प्रकार महान् पुरुषों के व्यक्तित्व की प्रबलता ही दूसरे लोगों की नैतिक दुर्बलता का कारण बन जाती है। अपनी ही निश्चयात्मक बुद्धि की प्रबलता से व्यक्तित्व की महानता आती है; दूसरे व्यक्ति की निश्चयात्मक बुद्धि के अनुसार चलने से व्यक्तित्व की दुर्बलता उत्पन्न होती है।

मार्टीनो महाशय का अन्तः अनुभूतिवाद—डाक्टर मार्टीनो के कथनानुसार किसी काम की भलाई अथवा बुराई उस कार्य के प्रेरक पर निर्भर रहती है। डाक्टर मार्टीनो ने मनुष्य के विभिन्न प्रकार के कार्यों के भिन्न भिन्न प्रेरक माने हैं। इन प्रेरकों को उन्होंने "कार्य स्रोत"[1] कहा है। हम पिछले एक प्रकरण में कार्य स्रोत की कुछ चर्चा कर चुके हैं। यहाँ पर इन कार्य-स्रोतों का मनोवैज्ञानिक वर्णन किया गया है। ये कार्य-स्रोत मनुष्य की कुछ जन्मजात् और कुछ

1. Springs of action

अर्जित प्रवृत्तियाँ हैं। इन्हें चार प्रकार का बताया गया है अर्थात् वेग[1], द्वेष[2], प्रेम[3] और स्थायी भाव[4]। इन्हें मार्टीनो महाशय ने उनके नैतिक मूल्य के अनुसार तेरह विभागों में विभक्त किया है। इनमें से जिसकी नैतिकता की दृष्टि से सब से कम कीमत है उसे इस तालिका के ऊपर लिखा है और फिर क्रमशः अधिकाधिक कीमतवाले कार्य-स्रोतों को उनके नीचे लिखा है। इस प्रकार जो सब से अधिक मूल्यवान् कार्य-स्रोत है उसे तालिका में सब से नीचा स्थान मिला है। यह तालिका निम्नलिखित है*—

(१) हिंसा, प्रतिशोध और सन्देह।
(२) आलस्य और विलासिता।
(३) खाने की और विषय भोग की भूख।
(४) सहज चंचलता।
(५) लोभ।
(६) करुणा-उपासन।
(७) विद्रोह, भय और क्रोध।
(८) शक्ति का प्यार और स्वतंत्रता।
(९) संस्कृतिरमण।
(१०) आश्चर्य और प्रशंसा का भाव।

---

1. Propension, 2. Passion, 3. Affections, 4. Sentiments.

*1. Censoriousness, vindictiveness, suspiciousness
2. Love of ease, Love of seosual pleasure
3. Appetites for food and sex
4. Spontanious activity (unselective)
5. Love of gain
6. Sentimental indulgence of sypathetic feeling
7. Antipathy, fear, resentment
8. Love of power, Love of liberty
9. Love of culture

(११) मातृभाव, मैत्रीभाव, दया और कृतज्ञता का भाव।

(१२) सहृदयता।

(१३) श्रद्धा।

उपर्युक्त तालिका में हिंसा, प्रति क्रोध के भाव और सन्देह को मार्टीनो महाशय ने सब से ऊपर लिखा है और श्रद्धा के भाव को सब से नीचे लिखा है। इसका अर्थ यह है कि नैतिकता की दृष्टि से हिंसा, प्रतिक्रोध और संशय के भाव निकृष्टतम है और श्रद्धा का भाव उच्चतम है। अतएव जिन कार्यों के प्रेरक हिंसा, प्रतिक्रोध और संदेह के भाव होते है वे नैतिकता की दृष्टि से नीची कोटिके हैं और जिन कार्यों का प्रेरक श्रद्धा का भाव है वे नैतिकता की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। इस प्रकार किसी कार्य की नैतिकता को जानने के लिये हमें इतना ही जानना होता है कि उस कार्य का प्रेरक अर्थात् कार्य-श्रोत क्या है। जब हमने इसे जान लिया तो उसका नैतिक मूल्य आसन्न कठिन नहीं होता। हमें केवल यही देखना रह जाता है कि वह प्रेरक उपर्युक्त तालिका में कौनसा स्थान रखता है। यदि उसका स्थान उच्चतम प्रेरक के नजदीक है तो वह अच्छा है और यदि वह उससे दूर है तो वह बुरा है।

मार्टीनो महाशय का कथन है कि दो कार्य-श्रोतों की तुलना के समय ही हमें यह ज्ञात होता है कि कौनसा कार्य-श्रोत ऊँची श्रेणी का है और कौनसा नीची श्रेणी का; अर्थात् प्रत्येक कार्य-श्रोत की महत्ता दूसरे कार्य श्रोतों के पारस्परिक तुलना पर ही निर्भर करती है। जब दो कार्य-श्रोत एक साथ हमारे विचार के सामने आते हैं तभी उनके मूल्य का हमें ज्ञान होता है।

अब प्रश्न यह है कि किसी कार्य-श्रोत को निकृष्ट और किसी को उच्च क्यों माना जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में मार्टीनो महाशय का

11. Parental love, social friendship, generosity, gratitude
12. Primary affection of compassion
13. Primary sentiment of reverence.

कथन है कि हमारी अन्तरात्मा की आवाज (अन्तर्दृष्टि) ही यह बताती है कि कौन सा कार्य स्रोत अधिक मूल्य रखता है और कौन सा कम। इसके लिए तार्किक विचार की आवश्यकता नहीं होती। मार्टीनों महाशय के कथनानुसार हमारी अन्तर्दृष्टि अथवा अन्तर्दर्शन की शक्ति एक दर्पण के समान है। जिस प्रकार दर्पण उसके सामने के पदार्थ को प्रतिबिम्बित करता है इसी प्रकार हमारी अन्तर्दर्शन की शक्ति भी किसी भी कार्य-स्रोत के नैतिक मूल्य को प्रतिबिम्बित करती है। स्वयं कार्य स्रोत में ही नैतिक मूल्य निहित है। हमारी अन्तरात्मा इस मूल्य का ज्ञान मात्र करती है, नैतिक मूल्य का तब तक ज्ञान नहीं होता जब तक कम से कम दो कार्य-स्रोत एक साथ उसके सामने नहीं आते।

मार्टीनों महाशय के सिद्धान्तों की समालोचना—मार्टीनो महाशय ने कार्यस्रोत का नैतिक मूल्य कार्य-स्रोत के स्वभाव पर ही निर्भर कर दिया है। उनके कथनानुसार इसका ज्ञान हमें बिना तार्किक विचार के होता है। परन्तु उनका यह कथन वस्तु-स्थिति से दूर है। हम जब किसी कार्य स्रोत का मूल्य आँकते हैं तो दो अथवा दो से अधिक कार्य-स्रोतों की आपस में ही तुलना नहीं करते, वरन् उन कार्य-स्रोतों को एक नैतिक लक्ष्य की दृष्टि से देखने की चेष्टा करते हैं। फिर जिस प्रकार मार्टीनो महाशय ने कार्य स्रोतों के नैतिक मूल्य को बताया है वह सर्वमान्य नहीं है। सम्भव है कि जिन कार्य स्रोतों को मार्टीनो महाशय ने अपेक्षाकृत निकृष्ट माना है उन्हें कोई दूसरा विद्वान् अधिक उत्तम माने। वास्तव में यदि ऐसे किसी व्यक्ति को, जिसे मार्टीनो महाशय के कार्य-स्रोतों के क्रम का ज्ञान नहीं है, सब कार्य-स्रोतों के नाम लिखकर दे दिया जाय और उसे कहा जाय कि वह अपने बुद्धि के अनुसार उनके नैतिक मूल्य को क्रमानुगत लिख दे, तो हम देखेंगे कि वह मार्टीनो महाशय के क्रम के अनुसार लिखने में सर्वथा असमर्थ रहेगा। इससे यह स्पष्ट है कि जो क्रम मार्टीनो महाशय ने कार्य-स्रोतों का बताया है वह उनके व्यक्तिगत विचार के अनुसार है; यह क्रम सर्वमान्य नहीं हो सकता। परन्तु जो

नैतिक मापदण्ड केवल वैयक्तिक विचार के अनुसार होता है वह सच्चा मापदण्ड नहीं माना जा सकता।

मार्टीनो महाशय ने प्रत्येक कार्य-स्रोत का नैतिक मूल्य हर समय के लिये एक तालिका बनाकर निश्चित कर दिया है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी कार्य-स्रोत का नैतिक मूल्य सब समय के लिए निश्चित है। किसी भी कार्य-स्रोत का मूल्य उन परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है जिनमें वे क्रियमाण होते हैं। यदि हम गाली खाने पर अथवा बुरी तरह अपमानित होने पर क्रुद्ध होते हैं तो यह नैतिकता की दृष्टि से इतना बुरा नहीं है जितना कि किसी सामान्य भूल के लिये किसी व्यक्ति पर क्रुद्ध होना बुरा होता है।

यही बात दया और सहृदयता के भावों के विषय में सत्य है; यदि हम कुपात्र के प्रति दया और सहृदयता का भाव दर्शावें तो हम बड़ी भूल करेंगे। नैतिकता की दृष्टि से दूसरों के प्रति अत्याचार करने वाले व्यक्ति के प्रति क्रोध प्रदर्शन करना दया दिखाने की अपेक्षा अधिक श्रेय-स्कर है। यह विचार प्रत्येक सामान्य बुद्धिके व्यक्ति को मान्य होगा, परन्तु मार्टीनो महाशय के सिद्धान्त के मानने पर उक्त विचार को हमें एक भूल मानना पड़ेगा।

नैतिक लक्ष्य के अभाव में मार्टीनो महाशय के बताये हुए कार्य स्रोतों का क्रम अर्थहीन हो जाता है। जब तक हम नैतिकता के अन्तिम लक्ष्य को नहीं जानते तब तक किसी कार्य-स्रोत को उच्च अथवा निम्न कोटि का कैसे कह सकते हैं। किसी भी प्रकार के मूल्य के आँकते समय हमें एक ऐसे माप-दण्ड को स्वीकार कर लेना पड़ता है जो कि मूल्य आँकी गई वस्तुओं से भिन्न होता है। यदि मार्टीनो महाशय ने कार्य स्रोतों का मूल्य आँका है तो वे अनजाने ही किसी ऐसे मापदण्ड को अवश्य ही काम में लाये हैं जो कार्य-स्रोतों से भिन्न है और जो स्वतः ही नैतिक जीवन का आदर्श प्रदर्शित करता है।

नीतिशास्त्र की दृष्टि से मार्टीनो महाशय की कार्य स्रोतों की तालिका

बिल्कुल व्यर्थ है। नीति-शास्त्र केवल यह कहकर सन्तोष नहीं कर लेता कि अमुक कार्य-स्रोत ऊँचा है और अमुक नीचा, वरन् उसे किसी भी कार्य-स्रोत के ऊँचे अथवा नीचे समझे जाने का कारण बताना पड़ता है। जहाँ तक मार्टीनो महाशय ने अपने नैतिक सिद्धान्त में यह नहीं किया वहाँ तक उन्होंने अपने विचार को नीति-शास्त्र की दृष्टि से व्यर्थ कर दिया है। हम न केवल व्यक्तिगत राय से सन्तोष कर सकते हैं और न एक बनी-बनाई तालिका से सन्तोष कर सकते हैं। हमें नीति-शास्त्र में किसी ऐसे सिद्धान्त की खोज करनी पड़ती है जो विवेकयुक्त हो, जिसमें संसार की बदलती हुई परिस्थितियों का ध्यान रखा जाता हो और जो संसार के प्रत्येक विवेकी व्यक्ति को मान्य हो; अर्थात जो व्यक्तिगत सिद्धान्त न होकर व्यापक नैतिक सिद्धान्त हो।

दसवाँ प्रकरण

विवेकवाद[1]

विवेकवाद की विशेषता

विवेकवाद का कथन है कि हम कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय विवेक अर्थात् सद्विचार के द्वारा ही कर सकते हैं। अन्तरात्मा का आदेश भ्रमात्मक हो सकता है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का अन्तरात्मा उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार से आदेश कर सकता है। यदि राम का अन्तरात्मा कहता है कि चोरी करना सभी समय पाप है और श्याम का अन्तरात्मा कहता है कि चोरी करना कभी कभी बुरा नहीं होता, तो किसकी अन्तरात्मा की आवाज ठीक मानी जाय। यदि दोनों व्यक्ति अपने अन्तरात्मा के आदेशों को उचित और अनुचित मानने के लिए किसी तीसरे निर्णायक को नहीं मानेंगे तो वे आपस में लड़ते रहेंगे। अतएव यहाँ यह आवश्यक होता है कि मनुष्य दो विभिन्न विरोधी पक्षों में उचित और अनुचित का निर्णय करने के लिए एक तीसरे सर्वग्राह्य सिद्धान्त को स्वीकार करे।

यह सर्वग्राह्य सिद्धान्त क्या हो सकता है? यह सर्वग्राह्य सिद्धान्त विवेक ही हो सकता है। मनुष्य की विशेषता यह है कि वह विवेकशील प्राणी है, अतएव अपने विशेष गुण के आधार पर उसे सत्य और असत्य तथा उचित और अनुचित का विवेचन करना चाहिए।

विवेक के लक्षण—यदि हम विवेक को अन्तरात्मा के विरोधी आदेशों के बीच निर्णायक बनाते हैं तो यह आवश्यक है कि हम उसके स्वरूप और लक्षण को भली प्रकार से जानें। प्रत्येक मनुष्य में विचार की शक्ति होती है किन्तु इसका विकास भिन्न-भिन्न

---

1 Rationalism.

ऐन्टेस्थनीज़ का चेला डाइओजीनीज़ था। जो उपदेश ऐन्टेस्थनीज़ ने दिया था उसे डाइओजीनीज़ ने अपने जीवन में चरितार्थ किया। वह अपने शुरू से ही बड़ा त्यागी था। उसका जीवन बड़ा ही विचित्र था। वह शीत और ताप दोनों प्रकार की अवस्था में एक ही तरह से एक ही स्थान पर रहता था। लोग कहते हैं कि उसका घर एक टब या नाद था। उसी में बैठे-बैठे वह अध्यात्म-चिन्तन किया करता था। उदर-पोषण करने के लिए भीख माँग कर खाता था, किन्तु वह बड़ा आत्माभिमानी था। वह जब किसी से भीख माँगता था तो बड़े दीन भाव से नहीं माँगता था, किन्तु उसके भीख माँगने से ऐसा ज्ञात पड़ता था कि मानों उसको दूसरों से भीख लेने का अधिकार है। एक दिन वह एक धनी व्यक्ति के यहाँ भीख माँगने गया। इस धनी व्यक्ति को भीख देने में देरी हो गई। डाइओजीनीज़ कहने लगा "अरे भाई मुझे भोजन के लिए भीख चाहिए कफ़न के लिए फीस नहीं चाहिये।"

डायजोनीज़ अपने मन को वश में करने के लिए अनेक प्रकार की साधनाओं को किया करता था। एक बार देखा गया कि वह एक पत्थर की मूर्ति के सामने खड़ा होकर भीख माँग रहा है। जब लोगों ने पूछा—"यह क्या कर रहे हो!" तो उसने जवाब दिया "मैं इस पत्थर की मूर्ति से भीख माँग रहा हूँ।" जब पूछा गया कि क्या तुम आशा करते हो कि यह मूर्ति भीख दे देगी। उसने उत्तर दिया "मैं भीख इन्कार कर दिए जाने का अभ्यास कर रहा हूँ।"

एक समय बादशाह सिकन्दर डायजोनीज़ का नाम सुन कर उसके पास गया। डायजोनीज़ अपने टब में बैठा-बैठा धूप ले रहा था। बादशाह सिकन्दर ने अपने घोड़े की लगाम उसके टब के सामने खींची। वहाँ पर जो वार्तालाप हुआ है वह बड़ा मनोरञ्जक है—

सिकन्दर—मैं सिकन्दर हूँ, इस देश का का राजा।

डायजोनीज़—और मैं डायजोनीज़ हूँ, कुत्ता।

सिकन्दर—तो क्या तुम मुझसे डरते नहीं!

डायोजनीज़—क्यों! तुम क्या कोई अच्छी चीज हो या बुरी?

सिकन्दर—ज़रूर मैं कोई अच्छी चीज हूँ।

डायजोनीज़—तो भला कौन आदमी ऐसा मूर्ख होगा जो अच्छी चीज से डरेगा?

सिकन्दर इस उत्तर को पाकर बड़ा प्रसन्न हो गया और उसने डायजोनीज़ से कहा "आप मुझसे कोई वरदान माँगिए; मैं उसे तुरन्त पूरा कर दूँगा।" तब डायजोनीज़ ने उससे कहा, "कृपा करके आप यहाँ से अपनी तशरीफ ले जाइए और मुझे मेरी धूप लेने दीजिए।"

डायजोनीज़ का सिद्धान्त—डायजोनीज के अनुसार मनुष्य को स्वाभाविक जीवन व्यतीत करना चाहिए। हमें प्रकृति से शिक्षा लेनी चाहिए कि हम किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करें। स्वयम् डायजोनीज़ इस प्रकार के जीवन में रहता था। वह प्रकृति की छोटी छोटी बातों से शिक्षा ग्रहण करता था। कहा जाता है कि एक बार उसने चूहों को इधर-उधर दौड़ते हुए देखा। चूहा अपने लिए रहने को कोई विशेष स्थान नहीं बनाता है और न अन्धकार में जाने से डरता ही है। वह अपने शारीरिक आराम के लिए सुविधा को नहीं खोजता। इससे डायजोनीज़ ने शिक्षा ग्रहण की, और कहा कि मनुष्य को भी इसी प्रकार का अपना जीवन बनाना चाहिए, उसे किसी प्रकार के आराम की सामग्री को नहीं बटोरना चाहिए। जैसी भी परिस्थिति उसके सामने आये उसमें उसे संतुष्ट रहना चाहिए।

इस प्रकार की शिक्षा ग्रहण करने की प्रवृत्ति का उदाहरण हम अपने पुराने ऋषि गुरु दत्तात्रेय से पाते हैं। दत्तात्रेय ऋषि के चौबीस गुरु थे, जिनमें से एक गुरु सर्प भी था। सर्प अपने लिए रहने को घर नहीं बनाता। इसे देख गुरु दत्तात्रेय ने कहा मुझे अपने निवास के लिए घर न बनाना चाहिए।

डायजोनीज़ का सिद्धान्त उस समय के एथेन्स निवासियों को अप्रिय था। वे डायजोनीज़ की हँसी उड़ाया करते थे। एथेन्स निवासी कला और

साहित्य प्रेमी थे। एथेन्स में उस समय अनेक प्रकार की सुख की सामग्री सरलता से प्राप्त थी। अतएव वे डायजोनीज़ के सिद्धान्त को एक गलत पन मानते थे। डायजोनीज़ के जीवन में अत्युक्ति अवश्य थी। किन्तु उसका यह सिद्धान्त कि सत्य खोजने वाले व्यक्ति को सुख और दुःख में समभाव रखना चाहिए, युक्तिसंगत न था। जब तक मनुष्य शीतोष्ण, सुख-दुःख पर विजय नहीं प्राप्त करता, तब तक वह एक मन होकर अध्यात्म-चिन्तन नहीं कर सकता और उसे सत्यासत्य का ज्ञान नहीं हो सकता; इसी तरह वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विषय में विवेचना नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति से अपने कर्त्तव्य के विषय में भूल हो जाना सम्भव है।

स्टोइसिज़म (स्टोइकवाद)—विवेकवाद का एक विशेष मत स्टोइसिज़म है। स्टोइसिज़्म साइप्रस द्वीप के निवासी ज़ेनो का चलाया हुआ मत है। वह एथेन्स में लगभग ३०० वर्ष हजरत ईसा से पहले आया अर्थात् महात्मा सुकरात के मृत्यु के समय ही उसका एथेन्स में आगमन हुआ। एथेन्स में आकर उसने एक विशेष स्थान लिया जिसको ग्रीक भाषा में स्टोआ कहते हैं। इसी स्थान के नाम से उसके मत का नाम स्टोइसिज़म या स्टोइकवाद पड़ा। स्टोइसिज़्म के अनुसार संसार की घटनाओं के अन्तस्तल मे विवेक कार्य करता है। कोई भी घटना अकारण अथवा निर्लक्ष्य नहीं होती। उनका कथन था कि संसार में जो कुछ है वह सब ठीक है और सुव्यवस्थित रूप से रक्खा हुआ है। संसार में कोई पदार्थ बुरा नहीं है। किसी घटना मे बुराई देखना हमारा भ्रम मात्र है। मनुष्य के जीवन का आदर्श यह होना चाहिए कि वह प्रत्येक परिस्थिति में शांति और सन्तोष से रहे और जो कुछ उसे सुख-दुःख पड़े उसे प्रसन्नता के साथ सहन करे। इसी तरह से ही हम अविच्छिन्न शांति का उपभोग कर सकते हैं। संसार की घटनाएं हमारे वश की नहीं हैं। जो कुछ होना है वह अवश्य होकर ही रहेगा। अतएव घटना के विषय में चिन्ता करना मूर्खता है। हमें घटना को बदल देने की शक्ति नहीं है;

हम केवल घटना के प्रति अपने रुख को बदल सकते हैं। जिस घटना को हम बुरी समझते हैं उसको हम विवेक द्वारा भली समझ सकते हैं और ऐसी घटना से उद्विग्न न होकर प्रसन्न चित्त रह सकते हैं, क्योंकि इस संसार को बनाने वाला विवेक ही है और सब घटनाएं विवेक द्वारा ही संचालित होती हैं। अतएव ज्ञानी पुरुष को किसी प्रकार घटना से उद्विग्न मन न होना चाहिए। सब लोग अपने स्वभाव के अनुसार ही अपना-अपना कार्य करते हैं। इसलिए ज्ञानी को यह भी चाहिए कि वह दूसरों के कार्यों की नुक्ताचीनी न करे। किसी के स्वभाव में परिवर्तन करना सम्भव नहीं।

हमें अपने कर्तव्यों का निर्णय विवेक या सद्विचार से करना चाहिए। मनुष्य को संवेगों के वश में न होना चाहिये, उसे इन्द्रियों के वश में न होना चाहिए। मनुष्य का ऐसा ही आचरण अच्छा कहा जा सकता है जो विवेक के नियन्त्रण में किया गया हो। विवेकी पुरुष किसी भी काम को अनासक्ति बुद्धि के साथ करता है। वह अपने कर्तव्य मात्र की ओर देखता है; वह किसी लाभ की आशा नहीं करता। उसका न तो कोई विशेष प्रिय ही है और न कोई विशेष अप्रिय ही। सब लोगों को एक दृष्टि से देखना उसके जीवन का सिद्धान्त रहता है।

इस प्रकार के जीवन का उदाहरण हम रोम के प्रसिद्ध दार्शनिक बादशाह मारकस आरलियस में पाते हैं। मारकस आरलियस अपने दुश्मनों के साथ लड़ता तो था किन्तु उन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देखता था। अपने राज्य का सब कार्य करता था किन्तु उसमें उसको सफलता और असफलता का विचार नहीं रहता था। मारकस आरलियस जिस समय समर के मैदान में अपने खेमे में पड़ा रहता था उस समय भी अध्यात्म-चिन्तन किया करता था। ऐसे समय के उसके मौलिक विचार अभी तक हमें उपलब्ध हैं। इन्हें हम "मारकस आरलियस के चिन्तन" (मेडिटेशन आफ मारकस आरलियस) नामक पुस्तक में पाते हैं।

स्टोइक लोग सब चीजों की भलाई में इतना दृढ़ विश्वास करते थे

कि सच्चे स्टोइक का मन दुःख से कभी विचलित नहीं होता था। जब रोम के पोसीडोनियस नामक एक प्रसिद्ध स्टोइक एक भयानक बीमारी से ग्रस्त था तो उसने कहा "ऐ दुःख तू मुझे खूब त्रास दे ले, जितनी चाहे उतनी पीड़ा दे ले, किन्तु मुझसे यह कभी नहीं स्वीकार करा सकता कि तू बुरा है।"

स्टोइसिज़्म के अनुसार मनुष्यों को आवेश का निराकरण करना चाहिए। किसी प्रकार के आवेश या संवेग शुद्ध विचार में बाधक होते हैं। अतएव जो मनुष्य जितना ही आवेशों से मुक्त रहेगा वह उतना ही सद्विचार कर सकता है। जिन संवेगों या आवेशों को हम भला समझते हैं उन्हें भी स्टोइक लोग बुरा समझते थे। किसी परिस्थिति में दया के आवेश में आना भी बुरा है। मनुष्य दया के आवेश में आकर भी अपने विवेक को भूल जाता है और न्याय न करके समाज का अहित कर देता है। दया के स्थान पर स्टोइक लोग प्रशान्त मन रहने और सद्भाव लाने का आदेश करते हैं। सब प्राणी में आत्मीयता स्थापित करना चाहिए। आत्मीयता उपादेय है, दया नहीं। सब का शुभ चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार की मनोवृत्ति मनुष्य की अपनी निराली सम्पत्ति है। यह कर्तव्य करने से ही प्राप्त होती है। स्टोइक लोग दूसरे के आचरण को बुरा-भला नहीं कहते थे। जिन लोगों का आचरण स्टोइक आदर्श से विरुद्ध भी रहा हो उन्हें भी वे घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे।

स्टोइक सिद्धान्त की जब हम ठीक से विवेचना करते हैं तो देखते हैं कि उसके अनुसार चल कर मनुष्य अपने आपको यदि सुखी न बना पावे तो कम से कम दूसरों को दुःखी नहीं बनाता है। स्टोइक जो कुछ भी सुख की अवहेलना करते हैं वे अपने लिए करते हैं, दूसरों के लिए नहीं। इतना ही नहीं, स्टोइसिज़्म कर्तव्य को जीवन में प्रथम स्थान देता है। जो व्यक्ति कर्तव्यपरायण हैं वे अविचलित शान्ति प्राप्त करते हैं। यह प्रत्येक मनुष्य का अनुभव है और संसार के सभी महात्माओं ने इस सिद्धान्त का आदेश दिया है।

स्टोइक लोगों की कुछ बातें ऐसी अवश्य हैं जो हमारे साधारण तर्क को ग्राह्य नहीं हैं। स्टोइक लोगों के कथनानुसार संसार की सभी घटनाएँ अपने-आप ही होती हैं। उनमें कोई परिवर्तन होना संभव नहीं है। कृष्ण भगवान् ने गीता में भी इसी प्रकार के सिद्धान्त का प्रवर्त्तन किया है। किन्तु यदि सब घटनाओं का स्वभाव पहले से ही निश्चित है तो कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य किस बात में रह जाता है, यह साधारण मनुष्य के समझ के बाहर है। हम प्रायः कर्त्तव्य का अर्थ यही लगाते हैं कि हम कुछ उचित कार्य करें। किन्तु जब यह बताया जाता है कि संसार की सभी क्रियाएँ पहले से ही निश्चित हैं तो हमारे कर्त्तव्य के लिए स्थान कहाँ रहा? जब तक मनुष्य को अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य में स्वतन्त्र मान लिया जाता तब तक कर्त्तव्य के लिए कोई स्थान नहीं रहता। इस शंका का समाधान स्टोइक मत वाले यह कह कर करते हैं कि स्वतन्त्रता दो प्रकार की होती है एक बाह्य और दूसरी आंतरिक। मनुष्य को बाह्य स्वतन्त्रता नहीं है, अर्थात् वह संसार की घटनाओं में परिवर्तन नहीं कर सकता है, पर उसे आन्तरिक स्वतन्त्रता अवश्य है, अर्थात् वह यह निश्चय कर सकता है कि हमें अपनी अन्तरात्मा से किसी घटना के प्रति सहयोग करना चाहिए अथवा नहीं।

ग्यारहवाँ प्रकरण

इमैनुअल कान्ट का अध्यात्मवाद

कान्ट के दार्शनिक विचार की विशेषता—यूरुप में जितने तत्व वेत्ता हुए हैं उनमें सबसे गम्भीर कान्ट माने जाते हैं। कान्ट महाशय जर्मनी के कानिग्वर्ग विश्व विद्यालय में प्रोफेसर थे। उनका जीवन बड़ा सादा और नियमित था। वे जीवन भर अविवाहित रहे और बड़ी पवित्रता से उन्होंने अपना जीवन निबाहा। कान्ट महाशय किसी विचार के प्रकाशित करने के पूर्व उसपर बड़ी गम्भीरतापूर्वक चिन्तन करते थे। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक "दी क्रिटिक आफ प्योर रीजन" छप्पन वर्ष की अवस्था में प्रकाशित की। उन्होंने इस पुस्तक में विचार शक्ति की सिमाएँ बताई हैं। मनुष्य अपने तार्किक विचारों द्वारा जीवन के अन्तिम तत्वों के विषय में कुछ भी नहीं जान सकता। जितना दार्शनिक समस्याओं को हल करने की यह चेष्टा करता है वे उतनी ही जटिल होती जाती हैं इन समस्या को हल करना उसकी बुद्धि के परे की बात है। आत्मा और परमात्मा का ज्ञान करना, अमरत्व को जानना, किसी वस्तु के तत्व का समझना—ये सभी बातें बुद्धि के द्वारा नहीं जानी जा सकतीं। बुद्धि हमारे सामान्य लौकिक अनुभव को समझने का एक साधन मात्र है। इस साधन को हम लौकिक अनुभव के परे की बातों को समझने के प्रयोग में नहीं ला सकते। यही सिद्धान्त कान्ट महाशय ने 'अपनी क्रिटिक आफ प्योर रीजन' नामक पुस्तक में स्थिर किया है। कान्ट महाशय ने उक्त सिद्धान्त को स्थिर करके अर्थात् बुद्धि की सीमा बताकर उस समय के दार्शनिक विवादों को बन्द कर दिया। इस प्रकार का कान्ट निषेधात्मक कार्य बड़े ही महत्व का है।

पर, अब प्रश्न आता है कि क्या हम जिन अन्तिम तत्वों का अनुसन्धान कर रहे हैं उन्हें अनुभवगम्य करने के लिए तार्किक विचार के अतिरिक्त दूसरा मार्ग उपलब्ध है? कान्ट के कथनानुसार यह मार्ग आचरण अर्थात् व्यावहारिक विचार का मार्ग है। प्रत्येक व्यक्ति में सदाचरण की प्रवृत्ति रहती है और वह अपने आप में निःश्रेय की प्राप्ति करने की प्रबल प्रेरणा पाता है। इस प्रबल प्रेरणा के आधार पर ही कहा जा सकता है कि निःश्रेय कोई वस्तु है। इसी के आधार पर आत्मा का अमरत्व सिद्ध होता है।

नैतिकता का आधार—कान्ट के कथनानुसार नैतिकता का आधार एक आन्तरिक अनुभूति है। इस अनुभूति का नाम उन्होंने "कैटीगोरिकल इम्परेटिव" अर्थात् "अनिवार्य आज्ञा" रखा है। यह अनिवार्य आज्ञा मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा से मिलती है। मनुष्य का स्वभाव दो प्रकार के तत्वों का बना हुआ है। एक तत्व के अनुसार वह सुख की इच्छा करता है और दूसरे तत्व के अनुसार वह अपने-आप में आत्म-नियन्त्रण की अनुभूति करता है। एक तत्त्व रागात्मक[1] है और दूसरा विवेकात्मक[2] है। रागात्मक तत्त्व मनुष्य को विषय-भोग की ओर ले जाती है और विवेकात्मक तत्त्व उनसे मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा हममें उत्पन्न करता है। रागात्मक तत्व मनुष्य को स्वार्थी बनाता है और विवेकात्मक तत्त्व उसे परमार्थी और न्यायप्रिय बनाता है। मनुष्य की अन्तरात्मा विवेकात्मक है। इस अन्तरात्मा से उसे वही अनिवार्य आज्ञा मिलती है जो विवेकानुसार है। अन्तरात्मा की आज्ञा और विवेक की आज्ञा वास्तव में एक ही आज्ञा है।

कान्ट महाशय का कथन है कि नैतिकता के नियम अकाट्य[3] हैं। वे अन्तरात्मा की अनिवार्य आज्ञा[4] हैं। वे सदा एक से ही रहते हैं। परिस्थितियों का कैसा ही परिवर्तन क्यों न हो विवेक अथवा अन्तरात्मा

1. Sensibility. 2. Rationality. 3. Uncontradictable. 4. Categorical imperative.

उसका एक मात्र साधन अन्तरात्मा की अनिवार्य आज्ञा के अनुसार अर्थात् नैतिक नियम के अनुसार आचरण करना है। इसमें परावलम्बन नहीं है। जहाँ तक मनुष्य के जीवन में परावलम्बन आता है अर्थात् वह किसी बाहरी सत्ता के भय अथवा उसके दिये प्रलोभन वश कोई कार्य करता है वहाँ तक वह नैतिकता के उच्च स्तर से गिर जाता है।

नैतिक विचार में हेतु[1] की प्रधानता—कान्ट का कथन है कि जब हम किसी व्यक्ति के आचरण की नैतिकता के ऊपर विचार करें तो हमें उसके किसी काम के फल को न देखकर उसके हेतु की ओर देखना चाहिए। यदि किसी काम की प्रेरणा करने वाला हेतु ऊँचा है तो वह काम ऊँचा है और यदि काम की प्रेरणा करने वाला हेतु नीचा है तो काम नीचा है। सुखवादी नैतिक विचार-धारा में किसी काम की नैतिकता का निर्णय करने में काम के फल को महत्त्व दिया जाता है। कान्ट का कथन है कि अपने काम के फल उसकी नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी कार्य की नैतिकता में उसी बात पर विचार किया जाना चाहिए जो मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के नियन्त्रण में है। जिन बातों पर मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नियन्त्रण नहीं है, अर्थात् जो उसकी वश की बातें नहीं हैं उन्हें नैतिक विचार में कोई स्थान नहीं होना चाहिए। बाह्य जगत् की घटनाएँ अनेक प्रकार के कारणों की परिणाम होती हैं। उन घटनाओं को पैदा करने में हमारी इच्छाशक्ति ही एक मात्र कारण नहीं होती। अतएव यदि कोई घटना वैसी घटित न हो जिस प्रकार मनुष्य चाहता है कि वह घटित हो, तो इसमें अपने-आपको ही दोषी समझ लेना विवेकहीनता है। मनुष्य वहीं तक किसी घटना के अवांछनीय परिणाम के लिए दोषी है जहाँ तक कि उस अवांछनीय परिणाम को रोक सकना उसकी शक्ति के भीतर हो। मनुष्य को चाहिए कि वह किसी प्रकार के अवांछनीय परिणाम के प्रति पूरी सावधानी रखे। परन्तु यदि इस सावधानी के होते हुए भी

1. Motive.

वातावरणजन्य किसी विशेष परिस्थिति के कारण जैसा वह इच्छा करता है उसके प्रतिकूल फल हो तो उसे आत्म भर्त्सना करना उचित नहीं।

किसी भी कार्य के दो प्रकार के परिणाम होते हैं—एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य। आन्तरिक परिणाम मनुष्य की चित्तवृत्ति का सुधार और हृदय की शुद्धता है, और बाह्य परिणाम विशेष प्रकार की घटनाओं का घटित होना है। आन्तरिक परिणाम मनुष्य के वश की चीज है, बाह्य परिणाम उसके वश की चीज नहीं है। बाह्य परिणाम प्रकृति की इच्छा के ऊपर निर्भर करता है; आन्तरिक परिणाम मनुष्य की स्वेच्छा पर निर्भर करता है। अतएव नैतिकता का विचार करते समय हमें मनुष्य के आचरण के बाह्य परिणाम पर विचार न करके उसके आन्तरिक परिणाम पर ही विचार करना चाहिए। प्रत्येक भला हेतु भला ही आन्तरिक परिणाम उत्पन्न करता है। उसका बाह्य परिणाम भला अथवा बुरा हो सकता है। इसी तरह प्रत्येक बुरा हेतु बुरा ही आन्तरिक परिणाम उत्पन्न करता है; उसका बाह्य परिणाम भला अथवा बुरा हो सकता है।

मान लीजिए, एक मनुष्य के ऊपर एक शेर आक्रमण कर रहा है। हम आक्रमण करते हुए शेर को देखते हैं। हम मनुष्य को बचाने के लिए शेर के ऊपर गोली दाग देते हैं। परन्तु हमारा निशाना चूक जाता है; शेर और मनुष्य के बहुत निकट होने के कारण गोली शेर को न लगकर मनुष्य को लग जाती है। इससे उसकी मृत्यु हो जाती है। सम्भव है यदि हम मनुष्य के रक्षार्थ गोली न चलाते तो वह किसी प्रकार शेर के आक्रमण से बच जाता। शेर उसकी थोड़ी बहुत क्षति करके छोड़ दे सकता था। पर हमने उसको बचाने के प्रयत्न में मार ही डाला। अब प्रश्न आता है कि हमें इस प्रकार शेर के मुँह में जाने से उस व्यक्ति को बचाना था या नहीं। फल को देखते हुए हमारा काम बुरा रहा। किन्तु क्या हमारा काम सचमुच में नैतिक दृष्टि से बुरा था!

हम एक और उदाहरण दे सकते हैं। एक रोगी, डाक्टर, के पास

जाता है। उसकी आँत में कोई खराबी हो गई है, इसके लिए एक बड़े आपरेशन की आवश्यकता है। डाक्टर सोचता है कि यदि वह रोगी के पेट का आपरेशन नहीं करता तो उसकी पूरी आँत सड़ जायगी और उसकी मृत्यु हो जायगी, यदि वह आपरेशन करके दूषित भाग को निकाल दे तो सम्भवतः वह बहुत दिन तक जीवे। डाक्टर रोगी के स्वास्थ्य-लाभ के हेतु उसके पेट की चीर-फाड़ करता है। किन्तु उस चीर-फाड़ के परिणाम स्वरूप उसके पेट में एक नया फोड़ा तैयार हो जाता है जिसके बढ़ने पर उसकी मृत्यु हो जाती है। अब हमें देखना है कि नैतिकता की दृष्टि से डाक्टर का काम कैसा रहा, भला अथवा बुरा।

उक्त प्रश्नों का कान्ट महाशय का एक ही उत्तर है कि काम की भलाई अथवा बुराई को देखने के लिए हमको उसके परिणाम को न देखकर उसके हेतु को देखना चाहिए। हेतु की शुद्धता पर कार्य की पवित्रता निर्भर करती है। जिस कार्य का हेतु पवित्र है, उसका फल चाहे जो कुछ हो, वह पवित्र ही कार्य है। फल का होना मनुष्य की इच्छा शक्ति पर नहीं निर्भर करता है। प्रकृति में कई एक बातें ऐसी होती हैं जिनके कारण हम जैसी इच्छा करते हैं उसके अनुसार कार्य-फल नहीं होता। मनुष्य कितनी ही अपने हेतु की शुद्धता रखे और वह संसार का चाहे जितना कल्याण करने का अपना ध्येय रखे उसके कामों के फल को बिगाड़ने के लिए कुछ आकस्मिक घटनाएँ हो जाती हैं और कुछ का कुछ परिणाम हो जाता है। कान्ट ने प्रकृति के इस प्रकार के कर्म-फल में बाधा डालने को सौतेली माँ के कार्य के समान माना है। अतएव मनुष्य को कर्मफल से अपने काम की नैतिकता पर विचार न करना चाहिए।

कितने ही लोगों के काम का हेतु भला नहीं होता, किन्तु काम का आकस्मिक भला हो जाता है। मान लीजिए, कोई भिखारी सामने आता है और वह भीख के लिए हाथ पसारता है। हम में आकर एक ताँबे का सिक्का उसके सिर पर फेंककर मारते हैं।

सिक्का उसके सिर पर न लगकर नीचे गिर जाता है। भिखारी उस सिक्के को उठा लेता है और उससे रोटी खरीद लेता है। इससे उसकी क्षुधा शान्त हो जाती है। यहाँ हमारे काम का हेतु बुरा था परन्तु फल अच्छा ही हुआ। क्या फिर हमें इस काम को नैतिक दृष्टि से अच्छा कहना चाहिए या बुरा?

यदि हम कान्ट की विचार-धारा को मानें तो भिखारी के ऊपर सिक्का फेंकने के काम को हमें बुरा ही कहना पड़ेगा, उस काम का बाहरी परिणाम चाहे जो कुछ हो। कान्ट का यह विचार सर्वथा युक्ति-संगत है। मनुष्य का हेतु ही उसके चरित्र का तथा स्वभाव को भला अथवा बुरा बनाता है। नैतिक आचरण का लक्ष्य बाह्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करना नहीं है, वरन् आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करना है। नैतिक प्रयत्न द्वारा मनुष्य बाहरी पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता, वरन् आन्तरिक पूर्णता प्राप्त करने की चेष्टा करता है और यह पूर्णता हेतु की पवित्रता से ही आती है, बाह्य सफलता से नहीं।

कान्ट का नैतिकतता का ध्येय[1]—कान्ट का नैतिकता का ध्येय किसी प्रकार के लक्ष्य के प्राप्त करने की चेष्टा नहीं है। कान्ट महाशय के कथनानुसार नैतिकता का ध्येय अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के बनाये हुए नैतिक नियम का पालन करना है। यह ध्येय अपने ही भीतर है। कान्ट अपने से बाहर किसी प्रकार के आदर्श की कल्पना नहीं करते थे। दूसरे नीति-शास्त्र के विद्वान् किसी ऐसे आदर्श की कल्पना करते हैं जो इस समय आचरणकर्ता को अप्राप्य है और जिसे उसे आगे चलकर अपने भले कामों के द्वारा प्राप्त करना है। भौतिकवादियों और सुखवादियों ने अपना आदर्श बाहरी सफलता को बना रखा है और आदर्शवादियों ने आन्तरिक सफलता में अपने आदर्श की कल्पना की है। दोनों प्रकार की विचार-धाराएँ अपने आप से पृथक् किसी विशेष प्रकार के लक्ष्य की कल्पनाएँ करती हैं। यही लक्ष्य उनका निःश्रेय

1. Aim

है। जहाँ तक किसी प्रकार का आचरण इस निःश्रेयस की प्राप्ति में सहायक होता है वहाँ तक उस आचरण को भला कहा जाता है और जहाँ तक उसकी प्राप्ति में वह बाधा डालता है वहाँ तक उसे बुरा कहा जाता है। दोनों प्रकार की विचारधाराओं में अपने से पृथक् किसी सर्वोत्तम तत्त्व के प्राप्त करने का निर्देश है। काण्ट महाशय के विचारानुसार यह सर्वोत्तम तत्त्व अपना-आप ही है। दुनियाँ में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो कि स्वयं अपने-आप में भली हो। किसी वस्तु का भला अथवा बुरा होना यह मनुष्य की भली इच्छाशक्ति पर निर्भर करता है। मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति ही अपने-आप में भली वस्तु है।

मनुष्य अनेक प्रकार के बाहरी पदार्थों को भला समझ कर उनको प्राप्त करने की चेष्टा करता है। कोई धन को भला समझता है, कोई मान-मर्यादा को और कोई दान-पुण्य को भला समझता है। परन्तु वास्तव में इनमें से कोई भी वस्तु अपने आप में भली नहीं है। वह भली यहीं तक है जहाँ तक यह भली इच्छा से सम्बन्धित है या उसका प्रकाशन करती है। यह भली इच्छाशक्ति अपने-आप से बाहर नहीं है, यह आप में ही है। भली इच्छाशक्ति के नियम को मानना ही अपने-आप का अथवा अपनी आत्मा का नियम मानना है। जिस काम में हम जहाँ तक इस भली इच्छाशक्ति के काम को देखते हैं वहाँ तक वह काम भला है और जहाँ तक इस इच्छाशक्ति के काम में किसी दूसरे प्रकार के हेतुओं का अथवा प्रेरकों का मिश्रण हो जाता है, वहाँ तक वह काम बुरा हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की इच्छाशक्ति स्वतन्त्र न रह कर परतन्त्र हो जाती है। जहाँ तक इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता है वहीं तक नैतिकता है; जहाँ इच्छाशक्ति की परतन्त्रता आई नैतिकता का वहाँ अन्त हुआ और अनैतिक आचरण आरम्भ हुआ।

इस स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का विरोध मनुष्य के भाव, उद्वेग अथवा रागात्मक वृत्तियों के द्वारा होता है। जो व्यक्ति जितनी दूर तक राग-द्वेष के वश में आता है वह उतनी दूर तक नैतिक आचरण करने में

असमर्थ रहता है। उद्वेगों[1] का गुलाम बनकर कोई भी व्यक्ति नैतिक आचरण नहीं कर सकता। नैतिक आचरण ऐसा ही आचरण है जिसका हेतु स्वयं स्वतन्त्र इच्छाशक्ति में हो। जिस आचरण का हेतु स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के बाहर हो वह नैतिक आचरण नहीं कहा जा सकता। अतएव किसी बाहरी प्रलोभन अथवा भय के कारण जो कुछ काम मनुष्य करता है वह कान्ट महाशय के कथनानुसार अनैतिक ही है। कान्ट महाशय प्रेम, दया और श्रद्धा आदि मनोभावों को भी अपने आप में भले नहीं मानते। यदि ये मनोभाव मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की प्रेरणा के विरुद्ध मनुष्य को आचरण कराते हैं तो ये बुरे कहे जायँगे। दया अथवा मोह से प्रेरित होकर स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के विरुद्ध काम करने को कान्ट महाशय ने मानसिक बिमारी का लक्षण माना है।

कान्ट का नैतिक नियम मनुष्य को अपने आप पर विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है। अन्तरात्मा की 'अनिवार्य आज्ञा' का यही लक्ष्य है। वही व्यक्ति पूर्णतः नैतिक आचरण कर सकता है जिसकी इच्छाशक्ति पूर्णतः स्वतन्त्र है, और यह स्वतन्त्रता उस व्यक्ति को सम्भव नहीं, जिसने आत्म-विजय को प्राप्त नहीं किया, अर्थात् जिसने अपने प्रबल उद्वेगों को अपने नियन्त्रण में नहीं कर लिया। प्रबल काम, क्रोध, लोभ, मोह, शोक, इत्यादि के आवेश को रोकने की जिसमें शक्ति है वही सच्चा नैतिक व्यक्ति है। जो इनके आवेश में आकर किसी ओर बह जाता है वह अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता को खो देता है। ऐसे व्यक्ति का आचरण कदापि नैतिक आचरण नहीं हो सकता। आत्म-विजय[2] आत्म-संयम और शांत भाव से किया गया आचरण ही कान्ट के अनुसार नैतिक आचरण है।

कान्ट का नैतिक नियम—हमने ऊपर कान्ट के बताए नैतिक नियम के बारे में कुछ चर्चा की है। यह कहा गया है कि यह नियम स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नियम है। यह नियम अन्तरात्मा की आवाज है

1. Emotions. 2. Self-conquest

का समान होना स्वाभाविक है। नैतिक आचरण वही आचरण है जो विवेकयुक्त अथवा सिद्धान्तयुक्त हो।

काण्ट महाशय का कथन है कि हमें प्रत्येक व्यक्ति को लक्ष्य मानना चाहिए, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति के सुख का साधन नहीं बनाना चाहिए।* प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए जीता है न कि दूसरे के लिए। जिस प्रकार हम अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सब काम करते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सब काम करता है। अतएव जिस व्यक्ति के सम्पर्क में हम अपने आचरण में हमें उसके हित का उसी प्रकार ध्यान रखना चाहिये, जिस प्रकार हम अपने हित का ध्यान रखते हैं। अपने हित के लिए दूसरे व्यक्ति के हित को भूल जाना अन्याय है और यही अनैतिकता है। मान लीजिए, एक कारखाने का मालिक अपने नौकरों से दिन भर काम लेता है और अपना लाभ बढ़ाने के लिए वह उन्हें पर्याप्त वेतन नहीं देता। उसका यह कार्य अनैतिक है, क्योंकि वह भूल जाता है कि उसके नौकर लोग उसके लाभ को बढ़ाने के लिए काम नहीं कर रहे हैं, वरन् अपनी आजीविका उपार्जन करने के लिए काम करते हैं। जो मालिक मजदूरों के हित का उतना ही ध्यान रखता है जितना वह अपने हित का ध्यान रखता है वह नैतिक है। प्राणिमात्र के सुख के लिए मनुष्य को काम करना चाहिए।

उक्त कथन से हम काण्ट के नैतिक नियम के बारे में तीन प्रकार की बातें पाते हैं—(१) यह नियम व्यापक नियम है, (२) यह नियम स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का नियम है, और (३) इसका लक्ष्य मनुष्य मात्र का कल्याण है। नैतिक नियम के पहले गुण से यह स्पष्ट होता है कि इस नियम में किसी प्रकार के अपवाद को स्थान नहीं है। दूसरी विशेषता से स्पष्ट है कि इस नियम में किसी प्रकार के उद्वेगों अर्थात् राग-द्वेषात्मक वृत्तियों को स्थान नहीं है, और तीसरे नियम का लक्ष्य सभी

* Regard humanity as an end and never as a means
1. Universal. 2. Autonomous. 3. Humanity

मनुष्यों को अन्तिम भलाई प्रदान करता है। जिस आचरण के द्वारा अपवादों को महत्ता मिलती है, जिसमें रागात्मक वृत्तियों को स्थान दिया जाता है अथवा जो मनुष्य के कल्याण और भलाई के प्रतिकूल है, वह अनैतिक आचरण है।

कान्ट महाशय के नैतिक नियम की समालोचना

कान्ट महाशय के नैतिकता सम्बन्धी विचार बहुत ही गम्भीर हैं। ये विचार सभी देशों के नैतिकता सम्बन्धी विचारों के आधार भूत हैं। उनके विचारों को संसार के प्रमुख विद्वानों ने माना है और जो लोग उनके विचारों की आलोचना भी करते हैं वे उनकी गम्भीरता को मानते हैं। कान्ट के नैतिक नियम की आलोचना निम्नलिखित कारणों से की जाती है—

(१) कान्ट का नैतिक नियम निरी सामान्यता पर जोर डालता है

(२) उसका नैतिक नियम बड़ा कठोर है।

(३) इस नैतिक नियम में तपवाद की प्रधानता है।

इन तीनों प्रकार की आलोचनाओं का स्पष्ट करके एक-एक पर विचार करना आवश्यक है।†

कान्ट के आलोचकों का कथन है कि कान्ट के नैतिक नियम में कोई ऐसी बात नहीं बतायी गयी जो हमारे व्यावहारिक जीवन में काम में आवे उनका नियम सामान्य नियम[1] है। वह नैतिक नियम के बाहरी ढांचे[2] को ही केवल बताता है उसके भीतर की वस्तु[3] को नहीं। आचरण के कौन-कौन से व्यावहारिक नियम हों वह इन बातों को स्पष्ट नहीं करता। कान्ट ने कहा है कि उस नियम को अपने जीवन का नियम बनाओ जिसको तुम व्यापक नियम बनाने की इच्छा कर सकते हो। पर प्रश्न यह है कि ऐसा कौन सा नियम हो सकता है जिसको हम व्यापक नियम बना सकते हैं। इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया गया है। स्वयं कान्ट

† (i) Kant's law is formal (ii) It is stringent (iii) It is ascetic

1. Formal law, 2. Form 3. Matter

का कथन¹ है कि व्यावहारिक नियम देश-काल पर निर्भर रहते। अतएव उनमें वे [illegible] नहीं हो सकते हैं जिनका नैतिकता के नियम में होना आवश्यक है। नैतिकता का नियम अन्तरात्मा¹ का नियम है। इस नियम का रूप परिस्थितियों पर निर्भर नहीं करता। यदि उसका रूप परिस्थितियों पर निर्भर करने लगे तो वह नैतिक नियम अपरिवर्तनीय नहीं होगा और परिवर्तनशील नैतिक नियम सब समय और काल के लिए और सब मनुष्यों में व्यापक न होगा। जो नियम मनुष्य के अनुभव पर आधारित रहता है वह अन्तरात्मा का नियम नहीं हो सकता। अन्तरात्मा का नियम सांसारिक अनुभवों के ऊपर स्थिर नहीं रहता, वरन् वह अन्तरात्मा के स्वरूप को ही प्रगट करता है। यदि कान्ट की इस बात को मानकर नैतिक नियम को बनावें तो वह नैतिक नियम के ढांचे के अतिरिक्त और कुछ न होगा। वह हमारे व्यावहारिक जीवन में काम में नहीं आ सकता, क्योंकि उनमें व्यावहारिक जीवन के लिए पथ प्रदर्शन का संकेत ही नहीं रहता। अतएव कान्ट के कुछ आलोचकों ने कहा है कि कान्ट महाशय की इच्छा-शक्ति वास्तव में कुछ इच्छा ही नहीं करती, अर्थात् उसकी अन्तरात्मा की आवाज से वास्तव में कुछ निर्देश ही नहीं मिलता।

कान्ट के नैतिक नियम की दूसरी आलोचना यह है कि वह बड़ा कठोर है। उसमें किसी प्रकार अपवाद को स्थान ही नहीं है। परन्तु प्रत्येक नैतिक नियम का कभी न कभी अपवाद होना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणार्थ, वचन पालने के नियम को ही लीजिए। मान लीजिए किसी व्यक्ति को वचन दिया कि ठीक ५ बजे संध्या को हम उसके पास पहुंचेंगे। परन्तु जब हम ५ बजे उसके पास जाने की तैयारी करते हैं तो हमको सूचना मिलती है कि हमारा एक मित्र अचानक बीमार हो गया है और उसके लिए हमें तुरन्त चिकित्सक को बुलाना है। यदि हम को ५ बजे न बुलावें तो सम्भव है कि उसके प्राण चले जावें।

1. Conscience

ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि हमारा कर्तव्य अपने वचन-भंग की परवाह न करके मित्र की सेवा-सुश्रूषा में लगना ही है। झूठ बोलना साधारणतः बुरा है; परन्तु रोगी से, आततायी से और मूर्ख से सभी बातें सच्ची-सच्ची कह देना अपने और दूसरों के लिए घातक है। अतएव ऐसे लोगों से परिस्थिति के अनुसार सत्य कहना होगा अथवा सत्य को उनसे छिपाना होगा। किसी-किसी परिस्थिति में झूठ बोलना ही मनुष्य का कर्तव्य हो जाता है। परन्तु हम यह इच्छा नहीं कर सकते कि सभी लोग सब परिस्थितियों में झूठ बोलें, अर्थात् झूठ बोलने के नियम को व्यापक नियम बनाने की इच्छा न रहते हुये भी कभी-कभी हम उससे काम ले सकते हैं। झूठ बोलने की नैतिकता झूठ बोलने के व्यापकत्व पर निर्भर नहीं करती, वरन् उसकी नैतिकता किसी दूसरी बात पर निर्भर करती है।

अब यदि कहा जाय कि प्रत्येक व्यक्ति को यह निर्णय करने का अधिकार हो कि किस परिस्थिति में झूठ बोले और किस परिस्थिति में झूठ न बोले; और जिस प्रकार की परिस्थिति में वह झूठ बोलता है उसी प्रकार की परिस्थिति में सभी लोगों को झूठ बोलने की छूट दे दे तो इस प्रकार के नियम से चोर और डाकू लोग भी लाभ उठावेंगे। वे यह सोच सकते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को हमारी परिस्थिति में झूठ ही बोलना चाहिए। किन्तु उनके इस प्रकार के सोचने से उनका झूठ बोलने का कार्य नैतिक कार्य नहीं हो जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न तो अन्तरात्मा का सिद्धान्त ही और न नैतिक नियम के व्यापकत्व का सिद्धान्त ही सामान्य व्यवहार में हमारे काम आता है। वास्तव में यहाँ पर किसी ऐसी नैतिक कसौटी की आवश्यकता है जो व्यापक और अव्यापक दोनों प्रकार के नियमों का औचित्य अथवा अनौचित्य दर्शा सके। आदर्शवादियों के अनुसार यह नैतिकता की कसौटी अपने ऊँचे से ऊँचे स्वत्व की प्राप्ति है। इस स्वत्व की प्राप्ति में लोक-कल्याण की भावना निहित है।

बुद्धिवाद समाज में संघर्ष का कारण बन रहा था, उसी प्रकार अन्तः अनुभूतिवाद भी कुछ धार्मिक लोगों के अत्याचार का कारण हो रहा था। बुद्धिवाद का नियन्त्रण होना आवश्यक है और यह नियन्त्रण अन्तः अनुभूतिवाद ने किया। परन्तु अन्तः अनुभूतिवाद ने वैयक्तिक अनुभूति को प्रधानता देकर मनुष्य के विवेक को तुच्छ बना दिया था। अन्तः अनुभूतिवाद का व्यावहारिक रूप धार्मिक विचारों और एकतन्त्रतात्मक विचारों को प्रधानता देना हो जाता है। जो लोग अन्तः अनुभूति में विश्वास करते हैं वे उसी प्रकार कट्टर विचार के होते हैं जिस प्रकार धार्मिक पुस्तकों के विचारों को ईश्वर वाक्य मानने वाले होते हैं। यदि अन्तः अनुभूतिवादी किसी व्यक्ति विशेष की अन्तः अनुभूति को ही मुख्य वस्तु न मानें, पर सभी लोगों की अन्तः अनुभूति को बराबर का स्थान दें तो उनका विचार उपादेय हो। परन्तु फिर यह विचार निरा अन्तः अनुभूतिवाद न रह जायगा, यह विवेकवाद हो जायेगा। कांट महाशय ने यही किया।

कान्ट महाशय एक ओर अन्तः अनुभूतिवादी थे और दूसरी ओर विवेकवादी भी थे। विवेकवाद और अन्तः अनुभूतिवाद का जिस प्रकार का समन्वय कांट के विचारों में पाया जाता है किसी दूसरे दार्शनिक के विचारों में नहीं पाया जाता। कांट महाशय ने अन्तः अनुभूति को ही नैतिक निर्णयों में प्रधानता दी है। उनके कथनानुसार नैतिकता में उचित अनुचित का निर्णय करने वाली शक्ति अन्तः अनुभूति ही है। पर यह अन्तः अनुभूति अथवा ईश्वर की आवाज एक व्यापक वस्तु है। इससे भूल कभी नहीं होती। यह देश काल आदि से परे है। अर्थात् जिस प्रकार का निर्णय किसी विशेष नैतिक संकट में पड़ने पर आज हमारी अन्तरात्मा देगी, ठीक उसी प्रकार का निर्णय वह दूसरी बार कई वर्षों के बाद भी देगी। इतना ही नहीं यही निर्णय दूसरे देशों और दूसरे काल के लोगों का भी होगा। यदि इस प्रकार की विचार की समानता और ऐक्य मानव जाति में न

हो तो नैतिकता अर्थ हीन वस्तु हो जावेगी। इसी नैतिकता के आधार पर ही मानव समाज में एकता आ सकती है।

कांट महाशय ने दर्शाया कि सभी मनुष्यों की विचार करने की प्रक्रिया एक ही प्रकार की होती है। बुद्धि जिस प्रकार एक व्यक्ति में काम करती है, उसी प्रकार वह दूसरे व्यक्ति में भी काम करती है और यदि एक ही प्रकार के प्रदत्त किन्हीं दो बुद्धिमान व्यक्तियों को दे दिये जायँ और उन प्रदत्तों पर आधारित किसी निर्णय पर पहुँचने को उनसे कहा जाय तो वे एक ही निर्णय पर पहुँचेंगे। इसी प्रकार यदि दो नैतिक व्यक्तियों को किसी नैतिक समस्या पर विचार करने को कहा जाय तो उनके निष्कर्ष एक से ही होंगे। यह इसलिये होता है कि मनुष्य को नैतिक निर्णयों में उसका विवेक काम करता है और यह विवेक वैयक्तिक वस्तु नहीं है वरन एक सामान्य वस्तु है। सभी का विवेक एक सा ही होता है।

कान्ट महाशय का कथन है कि मनुष्य की अन्तरात्मा भूल कभी नहीं करती। यदि मनुष्य कोई नैतिक भूल करता है तो वह अन्तरात्मा की आवाज न सुनने के कारण अर्थात् उस आवाज की अवहेलना करने के कारण ही करता है। किसी नैतिक भूल के हो जाने के पश्चात् मनुष्य की अन्तरात्मा उसे भर्त्सना देती रहती है, इसीलिये जिन व्यक्तियों को नैतिकता के अनुसार चलने का अभ्यास हो गया है वे किसी अपवित्र काम को करने के बाद पश्चाताप का अनुभव करते हैं। भूल करने वाली अन्तरात्मा एक कल्पना मात्र है*। किसी नैतिक भूल को अन्तरात्मा के सिर मढ़ना अपने आप को धोखा देना है।

मनुष्य की अन्तरात्मा सदा उसे यही प्रेरणा देती है कि वह ऐसा काम करे जिससे सभी की भलाई हो, केवल उसी की भलाई मात्र न हो। उसका नैतिक नियम है कि उसी सिद्धान्त के अनुसार

* An erring conscience is a chemera

वह नैतिक नहीं है वह अनैतिक व्यक्ति है। यदि कोई अपराध करने पर किसी गरीब मनुष्य को सजा होती है तो वैसी ही सजा उसी अपराध के करने पर धनी व्यक्ति को भी होनी चाहिये। जब राजा गरीब को तो किसी अपराध के करने पर सजा देता है पर धनी को बचा देता है तो वह एक अनैतिक नियम से काम लेता है।

यह संभव है कि मनुष्य अपने आचरण को ऐसा न बना सके कि उसमें अपवाद का सर्वथा अभाव रहे। पर इसके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि अपवाद के अभाव का आदर्श बनाना ही बुरा है। आदर्श के रहने पर मनुष्य प्रयत्न करता रहेगा। वह जब कभी भूल करेगा तो उसे ज्ञात हो जायेगा कि उसने भूल कहाँ तक की। धनी लोग अपने पक्ष की बात को ठीक मान लेते हैं और अपने संबन्धी को विशेष स्थान देने की चेष्टा करते हैं। यह नैतिक नियम का अपवाद है और जहाँ तक नैतिक नियम का अपवाद होता है वहाँ तक व्यक्ति के जीवन में अनैतिकता ही आती है।

कांट महाशय की तीसरी आलोचना उसके उपवाद की है। कांट महाशय का कथन है कि जहाँ तक हम अपने आचरण में उद्वेगों और भावों को स्थान देते हैं वहाँ तक हमारा आचरण नैतिक नहीं होता। नैतिक आचरण वह आचरण है जो केवल विवेक मात्र के द्वारा संचालित है। यदि उसमें थोड़ा भी भाव (उद्वेग) को स्थान दिया गया तो उस आचरण को नैतिक आचरण नहीं कहा जायगा। जो लोग अपने सभी कामों में भाव से प्रेरित रहते हैं उन्हें यह नियम बड़ा ही कठोर नियम दिखाई देगा। यदि भावों से प्रेरित होकर नहीं वरन् केवल कर्तव्य की दृष्टि से ही कोई काम किया जाय तो वह काम निरस हो जावेगा। ऐसे काम में भला मनुष्य का मन कैसे लगेगा? कर्तव्य को सरस बनाकर क्यों न किया जाय?

कांट महाशय के भाव सम्बन्धी नैतिकता के विचारों की इस प्रकार की आलोचना करना कर्तव्य की महत्ता और उसके सच्चे

स्वरूप को भुला देना है। कर्तव्य और अकर्तव्य का प्रश्न वहीं आता है जहां मनुष्य का विवेक उसे एक ओर ले जाता है और उसके भाव, उद्वेग अथवा स्वार्थ उसे दूसरी ओर ले जाते हैं। इन दोनों के संघर्ष में मनुष्य के मनुष्यत्व की परख होती है। मनुष्य की विशेषता उसकी धर्म परायणता, अर्थात् विवेक के अनुसार काम करने में है। विवेकी पुरुष अनुद्विग्न मन होकर अपने सभी आवेशों को जीतकर काम करता है। पर यह तभी होता है जब वह अपने प्रतिदिन के काम में अपने भावों का नियंत्रण करता रहे। मनुष्य का मन अभ्यास का दास है। जैसा मनुष्य का अभ्यास होता है, वह संकट काल में उसी प्रकार का आचरण करता है।

जिस व्यक्ति ने अपने प्रतिदिन के कार्य में अपने मानसिक वेगों का नियंत्रण करना नहीं सीखा, वह प्रबल भय, क्रोध, लोभ, शोक, ईर्ष्या आदि के आने पर उनके प्रवाह में बहने से अपने आपको कैसे बचा सकेगा? अतएव अपने आचरण में कर्तव्य बुद्धि के प्रतिकूल तनिक भी आवेशों का स्थान देना अनैतिकता है। अपने आवेशों को इस प्रकार नियंत्रण में रखने से मनुष्य की इच्छा शक्ति बलवान होती है। इच्छाशक्ति का बलवान होना ही नैतिक आचरण का सर्वश्रेष्ठ परिणाम है। जिस मनुष्य की इच्छा-शक्ति बलवान होती है उसे वे संशय और भय व्यर्थ नहीं सताते जो निर्बल इच्छाशक्ति के व्यक्तियों को सताते हैं। दृढ़ इच्छाशक्ति वाला व्यक्ति मौत का भी प्रसन्नता से स्वागत करता है। उसे मौत की परवाह ही नहीं रहती और निर्बल इच्छाशक्ति का व्यक्ति सदा अधमरी अवस्था में रहा करता है। वह उन आपत्तियों के विषय में चिन्ता करता रहता है जो उसके सामने आईं ही नहीं। उसकी कल्पना ही उसे त्रास देती रहती है।

जब मनुष्य किसी प्रकार का अभ्यास करता है तो जो काम पहले पहल अप्रिय और कठिन लगता है वही पीछे प्रिय और सरल लगने लगता है। जो कुछ मनुष्य करता है उसमें उसकी रुचि होने

सकती है। कर्तव्य कर्म करने से उचित लगता है, क्योंकि वही नित्य कर्म कर सकता है। कर्तव्य करने से मनुष्य को स्वातन्त्र्य होता है, पर इन बातों के करने का सबसे बड़ा पुरस्कार है। मनुष्य का पुरुषार्थ इसी में है कि वह अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्त करे। मनुष्य की प्रकृति उसे सभी से बड़ा बनाती है। जब वह कर्तव्य के प्रतिकूल चलता है और विवेक को त्याग कर [illegible] होता है तो वह उस आत्मिक शक्ति की अनुभूति करता है जो सर्वत्र जानने के परे है।

कांट महाशय के विचार भारतीय दार्शनिकों के विचारों से समानता रखते हैं। उपनिषद् और गीता में नैतिकता के विषय में वही बातें बताई गई हैं जो कांट महाशय ने बताया है। अपने कर्तव्य को पैदा करना किसी भी लोगों का कर्तव्य है, अपने लिये किसी अधिकार का प्रयत्न न करना और अपने कर्मों को विवेक के नियन्त्रण में रखना—ये तीनों बातें उपनिषद् में मिलती हैं। कठोपनिषद् में परम पद प्राप्ति का मार्ग वही बताया गया है जो कांट महाशय ने बताया है। अतएव भारतीय विद्वानों के लिये कांट महाशय के विचारों को जानना और उन पर मनन करना अत्यन्त लाभकारी है। यदि दो भिन्न भिन्न स्थान के चिन्तक एक ही सत्य को कहें तो उस सत्य की प्रामाणिकता बढ़ जाती है। फिर उपनिषद् और गीता का काल बहुत दूर का काल है। हमारे पास जो बातें उस समय की आती हैं वे अनेक प्रकार से विकृत होकर आती हैं। वर्तमान समय में तो लोग रटकर ही उन विचारों को अपने मस्तिष्क में रखते हैं। यदि कोई व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति को दार्शनिक विषय के काम में लावे तो हम उसे प्रोत्साहित न करके उसकी भर्त्सना करते हैं। अतएव हमारे देश के पुराने दार्शनिक विचार जो ऋषियों की स्वतन्त्र आत्म-स्फूर्ति से उत्पन्न हुए थे और जिसमें स्वतन्त्रबुद्धि को खेलने का पूरा अवकाश मिला था हमारे

लिए जड़ता के प्रतीक बन जाते हैं। वे हमारे पास रहकर भी हमारे काम नहीं आते। हमारी बुद्धि की स्वतन्त्रता का अपहरण करने के निमित्त वे काम में लाये जाते हैं, फिर उनके भाष्यों से तो उनका रूप कुछ का कुछ हो जाता है। ऐसी अवस्था में हमसे हजारों मील की दूरी पर रहनेवाले विद्वान् के स्वतन्त्र विचार हमारे लिये बड़ा मूल्य रखते हैं, वे एक ओर हमें सत्य का दर्शन कराते हैं और दूसरी ओर वे स्वतन्त्र चिन्तन की कीमत भी बताते हैं। कांट महाशय के नैतिक तथा दार्शनिक विचारों के अध्ययन से यह निश्चित हो जाता है कि जिस व्यक्ति की बुद्धि स्वतन्त्र है वही तत्त्व का वास्तविक दर्शन कर सकता है। बुद्धि की स्वतन्त्रता का जहां अपहरण हुआ वहां विचारों में भी जड़ता आ जाती है और वहाँ सत्य विचार भी असत्य का प्रतीक बन जाता है।

—•—

सुखवाद क...

सुखवाद[1]—आधुनिक काल का एक व्यापक नैतिक सिद्धान्त है। सुखवाद के अनुसार मनुष्य के जीवन का अन्तिम लक्ष्य सुख-प्राप्ति है। सुख-प्राप्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है, इसी में ही उसकी वास्तविक भलाई है। अतएव जिन कामों से मन्तव्यों से अथवा हेतुओं से अधिक सुख की उत्पत्ति होती है वे अच्छे हैं और जिनके द्वारा कम सुख की उत्पत्ति और अधिक दुःख की उत्पत्ति होती है वे बुरे हैं। सुखवादी सुख को एक विशेष प्रकार की अनुभूति[2] अथवा संवेदना मानते हैं। उनके विचारानुसार विभिन्न प्रकार के सुख की संवेदनाओं को उसी प्रकार नापा जा सकता है जिस प्रकार हम किसी भौतिक पदार्थ को माप लेते हैं। दो भिन्न-भिन्न कामों में वह काम नैतिक दृष्टि से अधिक अच्छा है जिसके द्वारा अधिक परिमाण में सुख की संवेदना हमारे मन में उत्पन्न हो और कम-से-कम दुःख की अनुभूति हो। ऐसे काम के हेतु और मन्तव्य भी अच्छे समझे जाते हैं।

सुखवाद के मुख्य दो प्रकार हैं एक स्वार्थ[3] सुखवाद और दूसरा परार्थ[4]। स्वार्थ सुखवाद के अनुसार मनुष्य की सबसे बड़ी भलाई अपने आप के सुख का उपार्जन करने में है। जो व्यक्ति अपने वैयक्तिक जीवन को जितना सुखी बना सकता है वह उतना भला है। इसके विरुद्ध परार्थ सुखवाद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को अपने सुख के लिये ही यत्न नहीं करना चाहिये वरन दूसरे लोगों के सुख के लिये भी यत्न करना चाहिए।

---

1. Hedonism, 2. Feeling, 3. Egoistic hedonism,
4. Altruistic hedonism.

इस सिद्धान्त के अनुसार वे काम नैतिक दृष्टि से अच्छे कहे जायँगे जिनसे संसार में अधिक सुख की उत्पत्ति होती है। यह सुख अपना ही नहीं वरन् दूसरों का भी होता है। इस सिद्धान्त को उपयोगितावाद[1] है या लाभवाद भी कहते हैं। आधुनिक काल में स्वार्थ-सुखवाद के समर्थक बहुत कम लोग हैं। सुखवाद जहाँ भी प्रचलित है परार्थ सुखवाद के रूप प्रचलित हैं। दोनों प्रकार के सुखवादों का दार्शनिक आधार जड़वाद[2] है इनमें शरीर के अतिरिक्त दूसरे किसी तत्त्व की कामना नहीं की गई। शरीर नष्ट हो जाने पर मनुष्य का सर्वस्व नष्ट हो जाता है, यह सुखवाद और जड़वाद की पूर्वमान्यता है। अब यहाँ दोनों सुखवादों का एक एक करके विवेचन करेंगे।

स्वार्थसुखवाद

संसार में सभी जगह स्वार्थ सुखवाद के प्रवर्तक पाये जाते हैं। यूनान देश में इस सुखवाद के प्रवर्तक अरस्टीपस और इपीक्यूरस थे और भारतवर्ष में इस वाद के प्रवर्तक वृहस्पति, भारद्वाज और चारवाक आदि थे। भारतवर्ष में स्वार्थ सुखवाद के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। उनके मतों के विरोधी मतावलम्बियों के ग्रन्थों में खण्डन-मात्र पाया जाता है। विरोधियों ने उनके मत को बड़े वीभत्स और हास्यास्पद रूप में प्रकट किया है। चारवाक का निम्नलिखित सिद्धान्त हँसी उड़ाने के लिये अक्सर उद्धृत किया जाता है—'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणंकृत्वा घृतं पिवेत्, भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।'

अर्थात् जब तक जीते हो सुख से खाओ पिओ मौज उड़ाओ। यदि पास में पैसा न भी हो तो दूसरों से उधार ले लो। जब मनुष्य मर जाता है तो उसका शरीर धूल में मिल जाता है और फिर इस संसार में आगमन कभी नहीं होता। जब पुनर्जन्म होता ही नहीं तो मनुष्य को अपने आप को इसी जीवन में अधिक से अधिक सुखी बनाने के

1. Utilitarianism. 2. Materialism.

तथा त्याग और तप के जीवन को मूर्खता का परिणाम माना। इस प्रकार आधुनिक जगत् में भोगवादी, समाजवादी तथा पूँजीवादी लोग सुख की सामग्रियों का संग्रह करने और उपभोग करने में ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ देखते हैं। इन सब विचारधाराओं में पुनर्जन्म अथवा आदर्श तत्त्व की कहीं कल्पना नहीं पाई जाती। कोई कोई पूँजीवादी सैद्धान्तिक रूप से यदि पुनर्जन्म और आदर्शवादिता को मानते भी हैं तो अपने आचरण के द्वारा वे उसका खण्डन करते हैं।

यूरोप के पुराने सुखवादी सिरेनिक थे। ये अरस्टीपस महाशय के अनुयायी थे। अरस्टीपस महाशय का सुखवाद का सिद्धान्त चार्वाक के सिद्धान्त के समान था। उनके कथनानुसार सुख-प्राप्ति ही जीवन का परम पुरुषार्थ है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने आप को जितना सुखी बना सके उतना सुखी बनावे। यदि उसके कारण उसे किसी प्रकार का अपमान सहना पड़े तो इसमें कोई क्षति नहीं है। अरस्टीपस प्रत्येक क्षण के सुख की प्राप्ति पर जोर देता है। यदि प्रत्येक क्षण का सुख अधिक रहा तो जीवन भर में अधिक सुख रहेगा।

उक्त सिद्धान्त से भिन्न ईपीक्यूरस महाशय का सिद्धान्त है। परन्तु उनका आदेश है कि मनुष्य को जीवन भर अपने आप को

सुखी बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि वह विवेकहीन होकर अपने आप को भोग विलास में न खो दे। ऐसा करने से उसे सुख की प्राप्ति न होकर दुःख की ही प्राप्ति होती है। जब मनुष्य अपने आप को सदा नये प्रकार के सुखों के उपभोग में लगाये रहता है तो उसकी इन्द्रियाँ थोथी हो जाती हैं और उनमें सुख को ग्रहण करने की शक्ति ही नहीं रह जाती। अधिक सुख और भोग विलास के जीवन में मनुष्य थोड़े दिन के बाद मानसिक बेचैनी का अनुभव करने लगता है। उसके समीप सुख की सामग्री रहने पर भी वह सुख का आस्वादन नहीं कर सकता। उसकी सुखों के उपभोग की शक्ति ही नष्ट हो जाती है। इतना ही नहीं अधिक सुख और ऐश आराम के जीवन से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों के कारण मनुष्य सुखी न होकर दुःखी ही होता है। अतएव ईपीक्यूरस महाशय का आदेश है कि मनुष्य को अपने आप को जीवन भर सुखी बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि वह संयम का जीवन व्यतीत करे। जीवन में न अधिक भोग विलास की वृद्धि हो और न तप अर्थात् शारीरिक कष्ट ही। मनुष्य को चाहिये कि वह अपने जीवन से सब प्रकार अतिक्रम को निकाल दे। वही जीवन सर्वश्रेष्ठ है जिससे मनुष्य झूठे विचारों को त्याग करके गंभीर चिन्तन से काम लेता है और विवेक द्वारा अपने आप को संचालित करता है। ईपीक्यूरस महाशय का कथन है कि भला आदमी वही है जो दार्शनिक है। दर्शन के बिना मनुष्य के मन में समता और शान्ति नहीं आती। दर्शन की सहायता से मनुष्य अपने आप को विलासिता से बचाता है और अनेक प्रकार के निरर्थकभावों से अपने जीवन को मुक्त कर लेता है। दर्शन के द्वारा मनुष्य मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है, उसमें गंभीरता और सहनशक्ति आ जाती है।

ईपीक्यूरस के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि उसका मत चारवाक के सिद्धान्त से पृथक् है। पर साधारणतः ईपीक्यूरस के 'मत' का

परार्थ सुखवाद

वर्तमान काल के सुखवाद के प्रवर्तक बेन्थम और जान स्टुवर्ट मिल महाशय हैं। ये दोनों विद्वान् अन्वेषक थे। ये दोनों नास्तिक थे। न ये ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे और न किसी आध्यात्मिक शक्ति में। मरने के बाद शरीर नष्ट हो जाता है और फिर कोई वस्तु नहीं रह जाती, यह उनका निश्चित मत था। अतएव सांसारिक जीवन को अधिक से अधिक सुखी बनाने में ही जीवन की सार्थकता वे देखते थे।

ये महापुरुष वैयक्तिक सुखवाद के समर्थक नहीं थे। उनके कथनानुसार आदर्श जीवन वह है जिसमें समाज के अधिक से अधिक लोग सुख प्राप्त करें। अधिक सुख की प्राप्ति करना उनके कथनानुसार नैतिक जीवन का आदर्श होना चाहिये। यह सुख किसी व्यक्ति विशेष का न होकर समाज का होने से ही उसकी उपलब्धि हो सकती है। जब मनुष्य अपने ही सुख की चिन्ता में रहता है तो वह दूसरे लोगों के सुख की परवाह नहीं करता। कभी कभी अपने सुख की वृद्धि के लिये वह दूसरे लोगों को दुःख में डाल देता है। इस प्रकार संसार में सुख की वृद्धि न होकर दुःख की ही वृद्धि होती है।

बेन्थम और मिल महाशय अपने समय के प्रख्यात समाज सुधारक थे। ये नास्तिक होनेपर भी बड़े पवित्र आचरण के व्यक्ति थे। वे

समाज में स्वार्थ की वृद्धि देख रहे थे जिसके कारण समाज के अधिक लोगों को दुःखी रहना पड़ता था। उनके मतानुसार वही कार्य अच्छा है जिसके द्वारा समाज के अधिक से अधिक लोग सुखी हो सकें। जिस काम से समाज के अधिक लोग दुःखी होते हैं और थोड़े लोग सुखी होते हैं वह काम नैतिक दृष्टि से बुरा माना जाना चाहिए। वे चाहते थे कि मनुष्य को अपने सुख के उपार्जन करने की अधिक से अधिक सुविधा दी जावे, पर उसकी स्वतन्त्रता इस प्रकार की हो कि वह दूसरे लोगों को कष्ट न पहुँचा सके। आदर्श समाज वह है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने सुख की वृद्धि की पूर्ण स्वतन्त्रता हो और यह स्वतन्त्रता दूसरे व्यक्ति की किसी प्रकार की स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होती हो।

जिस समय बेन्थम और मिल महाशय ने अपने विचारों का इंग्लैंड में प्रचार किया, उस समय ऐसे विचारों की एक विशेष आवश्यकता थी। उस समय धर्म के ठेकेदार, साधारण जनता को उनके सुखों से यह कह कर वंचित करते थे कि गरीब लोगों को संसारिक सुख की आवश्यकता ही नहीं, उन्हें स्वर्ग में ही पूरा सुख मिल जायगा। अर्थात् स्वर्ग के सुख उनके लिये सुरक्षित हैं अतएव सांसारिक दुःखों की उन्हें परवाह न करनी चाहिये। इस प्रकार धर्म उपदेशक स्वयं तो अनेक प्रकार के सुखों का उपभोग करते थे पर सामान्य जनता को धर्म के नाम पर उनसे विरक्त करने की चेष्टा करते थे। आज भी धर्म के नामपर धर्म के पुजारी और पूँजीपति यही कर रहे हैं। संसार में सुखवाद का प्रचार इसी तरह की धर्म प्रचारकों की चेष्टा के परिणाम स्वरूप हुआ है। यह एक प्रकार की प्रतिक्रिया है। मनुष्य जड़वाद और सुखवाद की ओर इसलिये जा रहा है कि समाज के धार्मिक गुरू जिन्हें त्याग और तप का आदर्श समाज के समक्ष रखना चाहिये था वे स्वयं जड़वादी और सुखवादी बन गये हैं। वे अपने धर्मोपदेश में एक बात कहते हैं और अपने आचरण में दूसरी ही बात को प्रदर्शित करते हैं।

परार्थ सुखवाद का मनोवैज्ञानिक आधार

परार्थ सुखवाद का आधार मनोविज्ञान का वह सिद्धान्त है जिसके अनुसार मनुष्य की सभी क्रियाओं का हेतु[1] सुख के लाभ और दुःख से बचने की इच्छा को माना जाता है। इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को "मनोवैज्ञानिक सुखवाद" कहा जाता है। हम पहले कह आये हैं कि उस मत के अनुसार सभी कामों के हेतु एक से ही होते हैं। अतएव हेतु की दृष्टि से न किसी काम को भला और न बुरा कहा जा सकता है। चोर, चोरी अपने सुख के लिये करता है। इसी प्रकार दानी पुरुष भी दान सुखप्राप्ति के निमित्त करता है*। अतएव यदि हेतु पर विचार किया जाय तो न चोर का काम बुरा है और न दानी का भला। दोनों के काम एक ही हेतु से होने के कारण एक से ही हैं। यदि इनपर कोई नैतिक विचार हो सकता है तो उनके मन्तव्यों[2] के आधारपर, अर्थात् हमें यह देखना पड़ेगा कि उनमें से किसने संसार में अधिक सुख की वृद्धि की कामना की है।

बेन्थम महाशय अपने सुखवाद की सिद्धि के लिये निम्नलिखित प्रमाण देते हैं—प्रत्येक व्यक्ति सुख का इच्छुक है, वह उसे भला समझता है, अतएव भलाई का काम वह है जिसके द्वारा अधिक सुख की प्राप्ति हो और बुरा काम वह है जिसके परिणाम स्वरूप अधिक कष्ट मिले। संभवतः ऐसा कोई भी काम न होगा जिससे कुछ सुख

---

1. Motive. 2. Intentions.

* इस प्रसंग में बेन्थम महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है "Nature has placed mankind under the guidance of two sovereign masters, pain and pleasures. It is for them alone to point out what we ought to do as well as to determine what we shall do. On the one hand the standard of right and wrong, on the other the chain of causes and effects are fastened to their throne.

Principles of moral Legislation Chap. IV.

और दुःख दोनों ही उत्पन्न न हो, पर हमें अपेक्षाकृत सुख और दुःख को देखना है। जिस काम में अधिक सुख हो और कम दुःख हो वही अच्छा है।*

मिल महाशय ने सुखवाद की सिद्धि के लिये कुछ तार्किक युक्तियाँ दी हैं। उनकी पहली युक्ति यह है—प्रत्येक व्यक्ति सुख चाहता है, अतएव सुख चाहने योग्य वस्तु है, इसलिए अधिक सुख की प्राप्ति करना नैतिक आचरण का आदर्श होना चाहिये। †

मिल महाशय की दूसरी युक्ति जो पदार्थ सुखवाद को सिद्ध करती है निम्नलिखित है—प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसके लिए भला अर्थात् उपायेय है संसार के सभी लोगों का सुख सब लोगों के लिये भला है। इसलिये सबको सबके सुख के लिये प्रयत्न करना चाहिये। सुख सभी चाहते हैं, अतएव सबके सुख के अतिरिक्त दूसरा जीवन का क्या आदर्श हो सकता है। ‡

* Intense, long, certain, speedy, fruitful, pure—
Such marks in pleasure and in pain endure.
Such pleasure seek if private be thy end,
If it be public let them wide extend
Such pains avoid whatever thy view;
If pains must come, let them extend to few.

Principles of Moral Legislation Cha IV. p

† "The only proof capable of being given that an object is visible is that people actually see it. The only proof that a sound is audible is that people hear it In like manner the only proof it is possible to produce that any thing is desirable is that people do actually desire it."

J. S. Mill—*Utilitarianism*

‡ "No reason can be given why the general happiness is desirable except that each person so far as he believes it to be attainable desires his own happiness. This, however, being a fact, we have not only the proof which the case admits of, but all which is possible to produce that happiness is a good to that person, general happiness, therefore, is a good to the aggregate of all persons."

J. S. Mill—*Utilitarianism*. Chap. IV.

सुखवाद की आलोचना

सुखवाद संसार का एक व्यापक सिद्धान्त है। समाज के अधिक लोग सुख की ही इच्छा करते हैं। चाहे वे ऊँचे ऊँचे आदर्शों की बातें करते हैं और त्याग और तपस्या के गुणगान गाते हैं तब भी अपने आचरण में वे प्रायः सुखवादी ही बने रहते हैं। पर इस कारण सुखवाद के सिद्धान्त को नैतिक दृष्टि से ही नहीं मान लिया जा सकता। संसार में सच्चे नैतिक आदर्श पर चलने वाला चाहे एक भी व्यक्ति न हो तो भी नैतिक आदर्श झूठा नहीं हो जायगा। यदि सुख की कामना सभी लोग करते हैं और कर्तव्य शास्त्र भी उन्हें सुख की खोज की सलाह देता है तो कर्तव्यशास्त्र की आवश्यकता ही क्या होगी। जिस बात को मनुष्य स्वभावतः करते हैं उसमें कर्तव्य तथा अकर्तव्य के विचार का स्थान ही नहीं। कर्तव्यता के विचार की सार्थकता मनुष्य को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को रोकने में ही है। यदि यह मत सच है कि सभी मनुष्य सुख की इच्छा से प्रेरित होकर ही सब काम करते हैं तो इससे यह कदापि तात्पर्य नहीं निकलता कि उन्हें सुख के लिये ही आचरण करना चाहिये।

मनुष्य क्या करता है, इससे उसे क्या करना चाहिये कदापि नहीं निकाला जा सकता। कर्तव्य शास्त्र आचरण के औचित्य और अनौचित्य पर विचार करता है न कि आचरण की वास्तविकता पर।

नैतिकता मनुष्य की आध्यात्मिक वृद्धि का साधन मानी जाती है। सुख के पीछे पड़ना यह मनुष्य और पशुओं में समानरूप से है। यदि मनुष्य सुख की वृद्धि करना मात्र अपने जीवन का लक्ष्य बना ले, तो उसमें और पशुओं में भेद ही क्या रहेगा। मनुष्य विवेकशील प्राणी है। उसमें भले और बुरे का विचार करने की शक्ति है। यह शक्ति पशुओं में नहीं है। इसी शक्ति के कारण मनुष्य संसार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी माना गया है। मनुष्य का विवेक उसे अनुचित सुखों के ग्रहण

करने से रोकता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने आप को सुखों के भोग से रोकता है वह अपनी विचार शक्ति, इच्छा शक्ति और विवेक को उतना ही बली बना लेता है। इन आध्यात्मिक शक्तियों का विकास सुख के उपभोग से नहीं होता, वरन् अपने आप को सुख की ओर जाने से रोकने से होता है। जिस व्यक्ति में भोग-लिप्सा जितनी कम होती है, उसका चरित्र, इच्छा शक्ति विवेक और सूक्ष्म विषय पर विचार करने की शक्ति उतनी ही अधिक होती। अतएव मनुष्य के समक्ष सुखवादी आदर्श रखना उसे मनुष्यत्व से गिराकर पशुओं की श्रेणी में ले जाना है।

सुखवाद मनुष्यों को सुखी न बनाकर दुःखी ही बनावेगा। यदि वेदनाओं से उत्पन्न हुए सुख के अतिरिक्त कोई दूसरा लक्ष्य मनुष्य अपने जीवन में नहीं रखता तो वह अपने लिये अधिक से अधिक सुख की सामग्री एकत्र करने की चेष्टा करेगा। सुख की उत्पत्ति बाह्य भोग-सामग्री के ऊपर निर्भर करती है। संसार में भोग-वस्तुएँ परिमित हैं और मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं। अतएव सुख का आदर्श लेकर मनुष्य सदा दुःखी ही रहेगा। वह भोग-सामग्री के अभाव से दुःखी तो होगा ही, दूसरे सामान्य लोगों को देखकर भी ईर्ष्या के कारण और भी दुःखी होगा। सुख की इच्छा के कारण संसार में भोग-सामग्री के लिये भारी छीना-झपटी उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

वास्तव में सुखवाद की मनोवृत्ति ही आधुनिक काल के महान् युद्धों का कारण है। पूँजीपति अपने सुख के लिये श्रमिक लोगों को चूस लेते हैं और फिर सुखवाद की मनोवृत्ति से प्रेरित होकर श्रमिक वर्ग के लोग इन पूँजीपतियों के विनाश के लिये उद्यत हो जाते हैं, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को, एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय को, एक वर्ग के लोग दूसरे वर्गों के लोगों को इस प्रकार सदा विनाश करने के लिये तत्पर रहते हैं। यह आधुनिक जड़वाद और सुखवाद का ही परिणाम है।

सुखवाद के अनुसार सुख प्राप्त करना ही सर्वोच्च कर्त्तव्य है। सुख प्राप्ति के अतिरिक्त दूसरी कोई भी उपादेय वस्तु संसार में नहीं। इस सिद्धान्त का आधार यह मनोवैज्ञानिक तथ्य बताया जाता है कि सभी लोग सुख की चाह करते हैं और दुःख से मुक्ति चाहते हैं। प्राणिमात्र की सभी चेष्टाओं का हेतु सुख को प्राप्त करना और दुःख से अपने आप को बचाना होता है। इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक सुखवाद कहा जाता है और सुख प्राप्ति को कर्त्तव्य माननेवाले सिद्धान्त को नैतिक सुखवाद कहा जाता है। प्रायः सभी नैतिक सुखवादी मनोवैज्ञानिक सुखवाद को उसका आधार बनाते हैं। सभी मनुष्य सुख के हेतु ही काम करते हैं, अतएव सुख के अतिरिक्त दूसरी कोई उपादेय वस्तु नहीं, इसलिये सुख को प्राप्त करना अथवा उसकी वृद्धि करना परम कर्त्तव्य है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद स्वयं एक भूल है। सभी लोग सुख की इच्छा नहीं करते और मनुष्य के सभी कार्यों का हेतु सुख की प्राप्ति नहीं होता। मनुष्य के कार्यों का हेतु आत्म-सन्तोष प्राप्त करना होता है। आत्म-सन्तोष से आनन्द की उत्पत्ति होती है। पर यह आत्म-सन्तोष सदा सुख की प्राप्ति अथवा उसके उपयोग से नहीं होता। सुख इन्द्रियजन्य संवेदनाओं की अनुभूति का नाम है, आत्मसन्तोष मानसिक स्थिति का नाम है। सुख वाह्य पदार्थों की प्राप्ति पर अथवा उनके उपभोगपर निर्भर करता है और आत्म-सन्तोष मनुष्य के विचारोंपर निर्भर करता है। सुखवादियों ने प्रायः सुख और आत्मसन्तोष का ऐक्य कर दिया है। वे आनन्द और सुख को भी एक ही वस्तु मान लेते हैं पर यह उनकी भारी भूल है। मनुष्य सदा आत्म सन्तोष और आनन्द के लिये काम करता है, इसका अर्थ यह नहीं कि वह सुख के लिये ही सदा प्रयत्न करता है। कभी कभी उसका सन्तोष सुख की प्राप्ति से प्राप्त होता है और कभी सुख के त्याग से होता है। जब कोई व्यक्ति एकादशी का व्रत रहता है तो उसका सन्तोष अपने आप

निबाहने में ही होता है, अर्थात् अच्छे से अच्छे भोजन के त्याग में ही उसका आत्म-सन्तोष होता है। यदि एकादशी का व्रत लिये हुए कोई व्यक्ति भूल से अन्न खा ले तो उसे सन्तोष की उत्पत्ति के बदले आत्मा-भर्त्सना का मानसिक क्लेश होता है। भूख के समय अन्न खाने से सुख की अनुभूति होनेपर भी व्रती मनुष्य को आत्मसंतोष नहीं होता, अतएव जहाँ तक उसे याद रहता है वह इस प्रकार के सुख की प्राप्ति की चेष्टा नहीं करता। उसे व्यभिचार से सुख की अनुभूति होती है, पर सन्तोष की अनुभूति नहीं होती; अतएव साधारणतः मनुष्य अपने आप को व्यभिचार से रोकता रहता है। जब वह सुख के पीछे उचित अनुचित के विचार को भूल जाता है और जिधर उसकी इन्द्रियाँ ले जाती हैं उधर जाने लगता है तो हम उसे मानवता से गिरा हुआ व्यक्ति मानते हैं। पशु जीवन में ही प्राणी सुख के हेतु सभी काम करता है, मनुष्य जीवन में वह इस मानसिक स्तर से ऊँचा उठ जाता है और आवश्यकता पड़नेपर प्रसन्नता के साथ अनेक कष्ट फेलता है। हम उसी व्यक्ति को भला कहते हैं जो उचित कार्य करता और लोक कल्याण के लिये सुख का त्याग करता है। देशभक्त अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये न केवल सभी प्रकार के सुखों का त्याग करता और अनेक प्रकार के कष्टों को फेलता है वरन् वह अपने प्राणों को भी देश-हित के लिये निछावर कर देता है। कितने ही देशभक्त हँसते-हँसते फाँसीपर लटक जाते हैं। यदि मनुष्य के सभी कामों का हेतु सुख की प्राप्ति होना तो देशभक्त का देश के लिये कष्ट सहना और अपने प्राणों का बलिदान करना कैसे सम्भव होता।

उक्त कथन से स्पष्ट है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद भ्रामात्मक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में आत्मसंतोष और सुख का ऐक्य करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि जिस प्रकार प्रकृति के अन्य प्राणी अपने सुख के लिये सभी प्रकार की क्रियायें करते हैं। उसी प्रकार मनुष्य भी सुख की ही प्राप्ति के लिये सभी प्रकार की चेष्टाएँ करता है। पर

ऊपर दिये हुए उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि आत्मसन्तोष सुख से भिन्न वस्तु है और इसके लिये मनुष्य सुख का त्याग करता है। मनुष्य का आत्म-सन्तोष किसी बाहरी वस्तुओं पर अथवा उनके उपभोग पर निर्भर नहीं करता, वह उसके विचारों पर निर्भर करता है। जब मनुष्य अपने आदर्श के अनुसार आचरण करता है तो उसे आत्मसन्तोष न होकर आत्मग्लानि होती है, और उससे बचने के लिये जहाँ तक सम्भव है मनुष्य अपने आदर्श के प्रतिकूल आचरण नहीं करता। जब तक मनुष्य विवेकहीन नहीं हो जाता वह सुख ही को अपनी चेष्टा का हेतु नहीं बनाता।

यह बात सत्य है कि मनुष्य सुख की भी इच्छा करता है और सुख की प्राप्ति उसके कुछ कामों का हेतु होता है। पर इस हेतु के पूर्व उसका विवेक कार्य करता है और विचारवान् मनुष्य पहले अपने विवेक से यह निर्णय करता है कि उसे किसी विशेष सुख की प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिये अथवा नहीं। पीछे वह किसी प्रकार के सुख की प्राप्ति की चेष्टा करता है। इस प्रकार उसके कार्यों का प्रधान हेतु सुख प्राप्ति विवेक ही होता है। जब मनुष्य विवेक से काम नहीं लेता तो वह मानवता के स्तर से गिर जाता है और उसका आचरण पशुवत हो जाता है।

ऊपर दर्शाया गया है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद स्वयं असिद्ध है। पर मनोवैज्ञानिक सुखवाद सत्य भी हो तो भी उसके आधार पर नैतिक सुखवाद सिद्ध नहीं किया जा सकता। मनोवैज्ञानिक सुखवाद और नैतिक सुखवाद में पारस्परिक विरोध है। मान लीजिये सभी मनुष्य सुख की चाह करते हैं तो फिर सुख प्राप्ति को नैतिक आदर्श बनाने की आवश्यकता क्या है। नैतिक आदर्श कोई ऐसी वस्तु होती है जिसकी ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती। जिस वस्तु की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है उसके लिये ही किसी प्रकार की नैतिक प्रेरणा करना अनावश्यक है। इस दृष्टि से कर्त्तव्य शास्त्र

की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। जब स्वाभाविक प्रवृत्ति और औचित्य में विरोध होता है तभी कर्त्तव्यता की आवश्यकता होती है और कर्त्तव्य शास्त्र का निर्माण ऐसी ही स्थिति में होता है। यदि मनुष्य का कर्त्तव्य वही मान लिया जाय जिसकी ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रेरणा है तो कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के निर्णय की आवश्यकता ही न होगी। इस प्रकार मनोवैज्ञानिक सुखवाद नैतिक सुखवाद का आधार न होकर उसका उन्मूलन करने वाला सिद्धान्त है।

मनोवैज्ञानिक सुखवाद से नैतिक सुखवाद निकालने में वास्तविकतावाद की भूल होती है। यह एक प्रकार का नैतिक हेत्वाभास है जिसे अमेरिका के कर्त्तव्य शास्त्र के विद्वान् ह्वीलराइट महाशय ने दर्शाया है। कर्त्तव्य शास्त्र विधेयात्मक विज्ञान शास्त्र है, यह वास्तविकतावादी विज्ञान नहीं। वस्तु स्थिति ही विधि निषेध का आधार नहीं बन सकती। उचित और अनुचित विचार इस मान्यता को लेकर चलता है कि मनुष्य वास्तविक परिस्थिति के प्रतिकूल आचरण कर सकता है और और ऐसा आचरण करना उचित है। मान लीजिये मनुष्य की सभी क्रियाओं का हेतु सुख की प्राप्ति है, इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सुख की प्राप्ति उसकी क्रियाओं का हेतु होना चाहिये। "है" से "चाहिये" का निष्कर्ष निकालना कर्त्तव्यता अथवा नैतिक विचार के प्रतिकूल है। यदि एक भी मनुष्य ऐसा न हो जो किसी भले आदर्श के लिये सुख का त्याग कर सकता हो, तो भी सुख की प्राप्ति को जीवन का आदर्श नहीं बनाया जा सकता है। औचित्य और नैतिकता का आधार वास्तविकता नहीं वरन् मनुष्य का आदर्श होता है। मनुष्य जो कुछ है उससे उसे जो होना चाहिए निर्णीत नहीं किया जा सकता।

सुखवाद के अनुसार मनुष्य को सबसे अधिक सुख प्राप्त करना चाहिए। बहुत से लोगों का सुख अपने सुख से अधिक होता है; अतएव सुखवाद का सिद्धान्त, अधिक से अधिक सुख जितने अधिक

लोगों को हो प्राप्त करना हो जाता है। काम इस प्रकार का करना चाहिये जिससे अपना सुख हो और दूसरों का भी; यह सुख अधिक से अधिक लोगों और अधिक से अधिक परिमाण में होना चाहिये।

उक्त सिद्धान्त से यह बात मान ली गयी है कि सुख मापा जा सकता है। जिस प्रकार थर्मामीटर लगाकर किसी मनुष्य का ताप मापा जा सकता है उसी प्रकार सुख की भी माप हो सकती है। इस प्रकार की मान्यता के आधार पर ही यह कहा जा सकता है कि नैतिकता का आदर्श अधिक से अधिक लोगों को सुख होना चाहिये। पर वास्तव में सुख की माप नहीं हो सकती। किस व्यक्ति को किस बात में कितने सुख की अनुभूति हो रही है, यह कौन बतायेगा। हम अपने ही एक सुख की दूसरे सुख के साथ तुलना करते समय ठीक ठीक से नहीं बता सकते कि कौन सा सुख अधिक है। सुख व्यक्तिगत अनुभव है। इसका माप किसी भौतिक पदार्थ के समान होना संभव नहीं अतएव सुख के विषय में "अधिक से अधिक" का विचार असंगत है। सुखवादियों ने मान लिया है कि जिस प्रकार चीनी के दो ढेरों को तौल कर बताया जा सकता है कि कौन सा ढेर बड़ा है इसी प्रकार सुख को भी तौल कर बताया जा सकता है कि कौन सा सुख का ढेर अधिक है।

अपने ही व्यक्तिगत सुखों को एकत्र करके मापा नहीं जा सकता फिर विभिन्न व्यक्तियों के मन में होनेवाले सुख को माप कर और जोड़ कर बताना कि कितना सब सुख हुआ और भी असंभव है। एक ही प्रकार का अनुभव भिन्न भिन्न प्रकार के व्यक्तियों के मन में कम अथवा अधिक सुख उत्पन्न करता है। इससे सब लोगों के सुख का अन्दाज लगाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

मिल महाशय ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का सुख अपने लिये भला ही होता है, अतएव सभी लोगों का सुख सभी लोगों के लिए भला होगा, अर्थात् यह उनके कल्याण की वस्तु होगी और उसे

सभी लोग चाहेंगे। पर वस्तुस्थिति दूसरे ही प्रकार की है। एक मनुष्य का सुख दूसरे के लिए दुःख हो जाता है। मान लीजिये, एक साथ काम करने वाले दो व्यक्तियों को एक कारखाने में एक बराबर वेतन मिलता है। उनके वेतन में, मान लीजिये, वृद्धि हो गयी। एक का वेतन डेढ़ा हो गया और दूसरे का सवाया। यदि हम मिल के सिद्धान्त को मानें तो दोनों को ही अधिक सुखी होना चाहिए। पर इस प्रकार की वृद्धि से एक अधिक सुखी होता है और दूसरा दुःखी होता है। संभव है कि दोनों के सुख और दुःख को मिला देने पर दुःख की मात्रा ही अधिक निकले। जब चोर पकड़ा जाता है तो साहूकार प्रसन्न होता है और चोर दुःखी। ऐसी स्थिति में चोर के पकड़े जाने के कार्य का मूल्य कैसे आँका जा सकता है।

सुखवाद के सिद्धान्त की यह मान्यता है कि अपने सुख और दूसरों के सुख में विरोध नहीं। पर वास्तवमें जो व्यक्ति अपने सुख का विचार रखकर काम करता है वह दूसरों को सुखी नहीं बना सकता, और जो दूसरों के सुख को ध्यान में रखता है उसे अपने सुख का त्याग करना पड़ता है। दूसरे के सुख के लिये प्रयत्न करने वाला व्यक्ति सुखवादी नहीं हो सकता। यदि वह सुख को ही सबसे अधिक मूल्यवान् वस्तु मानता तो वह अपने लिए ही सबसे अधिक सुख प्राप्त करने की चेष्टा करता। सुखवाद के सिद्धान्त को त्याग कर ही मनुष्य दूसरों के सुख के लिये यत्न कर सकता है।

अपना सुख एक संवेदना उत्पन्न करने करने वाली वस्तु है, पर दूसरे का सुख संवेदना नहीं है। दूसरे का सुख मनुष्य का विचार मात्र होता है। यह विचार मनुष्य को संतोष भले ही दे, वह वैसी वेदनाएँ उत्पन्न नहीं कर सकता जैसा अपना सुख उत्पन्न करता है। दूसरे लोगों के सुख के लिये यत्न करने वाला व्यक्ति एक आदर्श के लिये यत्न करता है, न कि सुख के लिये। इस तरह सुखवाद और सब की भलाई के सिद्धान्त में पारस्परिक विरोध है।

कुछ सुखवादी दार्शनिकों ने सब सुखों को एक ही प्रकार का नहीं माना है। स्टुअर्ट मिल महाशय के अनुसार सुख भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। शराबी और वेश्यागामी का सुख जिस प्रकार का है, उसी प्रकार का सुख कवि और दार्शनिक का नहीं है। एक सुख पाशविक अर्थात् तामसिक है और दूसरा सुख सात्विक है। इस प्रकार सुखों में प्रकार के भेद मानने से सुखवाद का सिद्धान्त नष्ट हो जाता है। यदि सुख भी कई प्रकार के हैं, तो फिर कौन से सुख को नैतिकता का मापदण्ड बनाया जाय। किसी व्यक्ति के आचरण को एक व्यक्ति एक प्रकार के सुख से नाप सकता है और दूसरा दूसरे प्रकार के सुख से। दोनों ही कह सकते हैं कि उनका ही मापदण्ड ठीक है। ऐसी स्थिति में हमें एक दूसरे मापदण्ड की खोज करनी पड़ेगी जो विभिन्न प्रकार के सुखों में एक को उच्चकोटि और दूसरे को निम्नकोटि का प्रमाणित करे। वास्तव में इस प्रकार का मापदण्ड हमारे विचारों में सदा काम करता है। हम उस सुख को अच्छा कहते हैं जिससे सब लोगों का कल्याण होता है। इन्द्रिय सुख, जो एक ही व्यक्ति को आनन्द देता है, कभी भी ऊँच कोटि का सुख नहीं माना जाता। विवेक और विचार से जो सुख उत्पन्न होता है उसी को ऊँचा माना जाता है। पर जब हम विवेक और विचार को सुख के ऊँचे और नीचे होने का निर्णायक मान लेते हैं तो सुखवाद को मापदंड मानना छोड़ देते हैं। वह माप-दण्ड कैसा, जिसे स्वयं प्रमाणित करने के लिए दूसरे मापदण्ड की आवश्यकता हो।

उपर्युक्त युक्तियों से यह स्पष्ट होता है कि सुखवाद का सिद्धान्त त्रुटि-पूर्ण है। वास्तव में सुख, चाहे वह एक व्यक्ति का हो अथवा सब का, अथवा अधिक से अधिक लोगों का, वह नैतिकता का मापदंड नहीं बन सकता, सुख को नैतिकता का मापदंड मान लेने से नैतिकता की वृद्धि न होकर उसका ह्रास ही होता है। सुखवादी अपने तथा अपने राष्ट्र के सुख की वृद्धि करने के लिये बड़े बड़े संग्राम उपस्थित

करते हैं। ये संग्राम सुख की वृद्धि न कर दुख की ही वृद्धि करते हैं। इस प्रकार सुखवाद का अपने आप से ही विरोध हो जाता है। नैतिकता प्राकृतिक जीवन में नहीं वरन् उसके ऊपर विजय प्राप्त करने में है। इसके लिये आत्म-नियन्त्रण और तप की आवश्यकता होती है।

अन्तः अनुभूतिवादी सुखवाद

अन्तः अनुभूतिवादी सुखवाद के प्रवर्तक सिजविक महाशय हैं। सिजविक महाशय सुख को संसार की सबसे मूल्यवान् वस्तु मानते थे। परन्तु उन्हें यह भी ज्ञान था कि अपने ही सुख को अपने कार्यों का लक्ष्य बना लेना उचित नहीं है। ऐसा करने से समाज में बड़ी कलह हो जाने की सम्भावना है। प्रत्येक मनुष्य अपना सुख चाहता है और यदि अपने सुख की प्राप्ति को ही परम पुरुषार्थ मान लिया जाय तो फिर मनुष्यों को अपने सुख के हेतु दूसरों को कष्ट देने से रोकने के लिए कोई साधन न रह जायगा। परन्तु सिजविक महाशय यह भी जानते थे कि स्वार्थ सुखवाद से, परार्थ सुखवाद निकाला नहीं जा सकता। उन्हें मिल महाशय की तार्किक भूलों का पर्याप्त ज्ञान था और उपयोगितावाद के आन्तरिक विरोध को भी वे भली भाँति जानते थे। अतएव उनको एक नये सिद्धान्त के आधार पर ही परार्थ सुखवाद की सिद्धि करना आवश्यक था। इसलिए उन्होंने अन्तः अनुभूतिवाद की शरण ली।

सुखवाद की सिद्धि—सिजविक के सिद्धान्त के मुख्य दो अंग हैं—पहला सुख को सबसे मूल्यवान् वस्तु मानना, और दूसरा अपने तथा पराये दोनों के सुख के लिए समान प्रयत्न की आवश्यकता दर्शाना। सिजविक ने इन दोनों बातों को सिद्ध करने के लिए कुशल युक्तियों से काम किया है। सुख को ही उचित पुरुषार्थ दर्शाने के लिए सिजविक ने निम्नलिखित उक्ति दी है—

है। साधारणतः अन्तः अनुभूतिवाद सुखवाद का विरोधी है। अन्तः अनुभूतिवाद में त्याग, तपस्या और 'कर्तव्य के लिए कर्तव्य' करने के सिद्धान्त पर जोर दिया जाता है और सुखवाद में सुख को ही जीवन का परम पुरुषार्थ मान लिया जाता है। सिजविक ने एक ओर जीवन की सबसे मूल्यवान् वस्तु सुख को बताया और दूसरी ओर इसे सभी में बराबर बांटने की आवश्यकता को अन्तः अनुभूति के आधार पर सिद्ध किया। इस प्रकार उन्होंने जड़वादी विचारधारा का अध्यात्मवादी विचार-धारा से सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। सुखवाद का सिद्धान्त मिल और बेन्थम महाशय का है और व्यावहारिक विवेक का सिद्धान्त, जिसका आधार मनुष्य की अन्तः अनुभूति है, कांट महाशय का सिद्धान्त है। इस प्रकार सिजविक के विचारों में मिल और बेन्थम के विचारों का, कांट के विचारों से समन्वय करने के यत्न को हम देखते हैं।

परन्तु इस यत्न में आन्तरिक विरोध है। सुखवाद और अन्तः अनुभूतिवाद या विवेकवाद को एक ही सिद्धान्त में ले आना ऊँट और बैल की जोड़ी बनाकर गाड़ी को चलाना है। सुखवाद सुख को ही परम पुरुषार्थ मानता है और कांट के विवेकवाद का सार सुख-त्याग है। पहले सिद्धान्त में इन्द्रियों की तृप्ति करना भला माना गया है और दूसरे में इन्द्रिय सुख की इच्छा को अपने आचरण में स्थान देना कर्तव्य से च्युत होना बताया गया है। इस प्रकार सुख को परमपुरुषार्थ मान कर कांट महाशय के सिद्धान्त का सदुपयोग नहीं किया जा सकता। इससे यह निश्चित है कि यह बेमेल तत्त्वों का ऐक्य करना ही एक अनधिकार चेष्टा है।

सुखवाद की आलोचना हम पहले ही कर आए हैं। मनुष्य अपने सभी कामों में सुख की ही खोज नहीं करता है। आधुनिक मनोविज्ञान मनोवैज्ञानिक सुखवाद के सिद्धान्त को भ्रमपूर्ण सिद्धान्त मानता है। मनुष्य अपने कामों से आत्म-सन्तोष प्राप्त करने की चेष्टा करता

है न कि सुख की। यह आत्म सन्तोष कभी सुख की प्राप्ति से होता है और कभी सुख-त्याग से।

सिजविक ने किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है वह ठीक नहीं है। सिजविक ने इस विश्लेषण में वस्तु के विचार और उससे होने वाले सुख में भेद किया है। परन्तु इस प्रकार भेद सम्भव नहीं। किसी भी विचार के तीन पहलू होते हैं—ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और रागात्मक। रागात्मक पहलू को दूसरे दो पहलुओं से पृथक नहीं किया जा सकता। यह सम्भव नहीं कि हम किसी वस्तु की प्राप्ति के सुख को चाहें और उस वस्तु को न चाहें। इस प्रकार मनुष्य किसी वस्तु के प्राप्त करने की चेष्टा में जो आत्म सन्तोष की अनुभूति करता है वह उस वस्तु के सुख के कारण ही नहीं करता, वरन् उस वस्तु के ज्ञान के कारण भी करता है। मनुष्य को सन्तोष देने वाली वस्तु उसका स्वत्व ही है। मनुष्य की इच्छाएँ उसका स्वत्व बन जाती हैं। उसे तब तक आत्म-सन्तोष नहीं होता जब तक कि अपने सन्तोष को ऊँचा से ऊँचा नहीं देख लेता। मनुष्य के पाशविक स्वत्व के लिए सुख की आवश्यकता है; परन्तु उसका विवेकी स्वत्व अपने आपको पूर्ण अथवा वृहद देखना चाहता है। अपनी पूर्णता का ज्ञान ही मनुष्य को सन्तोष देता है। यही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। सिजविक ने सुख को सर्वोत्कृष्ट पदार्थ सिद्ध करके वही भूल की है जो सुखवादियों ने अथवा उपयोगिता वादियों ने की है। उन्होंने अपने आप को तार्किक भूलों से बचाने की चेष्टा की है, पर वे अपने आप को मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक भूलों से न बचा सके।

सिजविक ने व्यावहारिक विवेक के दो अंग बताए हैं। व्यावहारिक विवेक मनुष्य को अपने और पराये सुख को एक ही दृष्टि से देखने के लिए प्रेरित करता है। परन्तु इस प्रकार की प्रेरणा वास्तविक है या कोरी कल्पना मात्र है, यह नहीं सिद्ध किया गया। फिर अपने और

पराये सुख में सदा विरोध रहता है। जिस व्यक्ति को अपने सुख की चिन्ता का अभ्यास रहता है उसमें दूसरे के सुख की परवाह करने की योग्यता नहीं रहती, और जो व्यक्ति दूसरे लोगों की सुख वृद्धि करने का अभ्यास करता है उसे अपने सुख की परवाह नहीं रहती। वास्तव में ऐसा ही व्यक्ति दूसरे लोगों की सुख वृद्धि की परवाह करता है जो शारीरिक सुख को सुख ही नहीं समझता। अपने सुख की प्राप्ति की चेष्टा और दूसरों के सुख की प्राप्ति की चेष्टा समान रूप से करना सम्भव नहीं।

इसी प्रकार अपने एक समय के सुख और जीवन भर के सुख के बीच न्याय के नियम को बर्तना सम्भव नहीं। सुख की कीमत करने वाला व्यक्ति प्रायः वर्तमान सुख को ही मूल्यवान मानता है उसे भावी सुख की परवाह नहीं रहती। जिस तरह पराये सुख का विचार सुख नहीं है इसी प्रकार भावी सुख का विचार सुख नहीं है। यदि पराये सुख का विचार अथवा भावी सुख का विचार अपने सुख और वर्तमान सुख के उपभोग से हमें रोकते हैं तो इस रोकने की प्रक्रिया से सुखवाद की सिद्धि नहीं होती, वरन् उसका खंडन होता है। सच्चा सुखवादी अपने ही वर्तमान काल के सुख को सबसे अधिक कीमत करता है। जब वह दूसरों के सुख की परवाह करने लगता है तथा अपने जीवन भर सुखी रहने का विचार मन में लाता है तो वह सुखवादी नहीं रह जाता; वह विवेकवादी बन जाता है।

इस प्रकार सिजविक ने अन्तः अनुभूति को अथवा विवेकवाद को सुखवाद के सिद्धान्त मिलाकर सुखवाद का पक्ष पुष्ट न करके उसके आधार-स्तम्भ को ही गिरा दिया है।

तेरहवाँ प्रकरण

प्रकृतिवाद

प्रकृतिवाद का सिद्धान्त—प्रकृतिवाद नैतिकता का एक पुराना सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्राकृतिक जीवन ही भला जीवन है और अप्राकृतिक जीवन ही बुरा है। जो आचरण प्रकृति के नियमों के अनुसार होता है उसे हमें भला आचरण कहना चाहिये और जो उन नियमों की अवहेलना करता है उसे हमें बुरा आचरण अर्थात् अनैतिक आचरण कहना चाहिये। जिस प्रकार संसार के अन्य प्राणी प्रकृति के नियमों का पालन करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य को भी प्रकृति के नियमों का पालन करना उचित है। मनुष्य यदि प्रकृति से अपने कर्त्तव्य के विषय में शिक्षा नहीं लेता तो उसे सन्मार्ग मिलना कठिन है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार की अपने कर्त्तव्य के विषय में कल्पनायें उठती हैं पर इन कल्पनाओं का कोई ठोस आधार नहीं रहता। प्रकृति की क्रियायें प्रत्यक्ष हैं। इन्हें आधार मानकर हम किसी निश्चित मत पर पहुँच सकते हैं और अपने जीवन के लिए उचित मार्ग निकाल सकते हैं।

प्रकृतिवाद की आवश्यकता—प्रकृतिवाद रूढ़वाद का विरोधी है। साधारणतः मनुष्य अपने धर्म-अधर्म का निर्णय धार्मिक पुस्तकों से करते हैं, इन धार्मिक पुस्तकों में किसी महान पुरुष की कही हुई बातें लिखी रहती हैं। इनमें दूसरे लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन कर देते हैं। कभी कभी धर्म पुस्तकों के उपदेश देश और काल के प्रतिकूल होते हैं। महान पुरुषों ने जो उपदेश दिया था वह उस समय के लिए उपयुक्त हो सकता है और वह किसी विशेष

देश के लोगों के लिए किया गया था। पर उनके धर्म उपदेशों का प्रचार अनेक देशों में हो गया है और अब समय भी बदल गया है। यद्यपि उनके बहुत से उपदेश देश और काल के अनुकूल नहीं हैं, पर धर्म के पुरोहित उनके उपदेशों पर लोगों की श्रद्धा बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। इसलिये वे अनेक प्रकार की टीकायें और भाष्य धर्म पुस्तकों पर लिखते हैं। इस प्रकार पुराने पैगम्बरों के कहे हुए थोड़े से सीधे सादे वाक्य बड़ी बड़ी पोथियों का रूप धारण कर लेते हैं। जब कभी धर्म का निर्णय मनुष्य को करना पड़ता है तो उसे इन धर्म के पुरोहितों की सलाह लेनी पड़ती। ये लोग कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का निर्णय अपनी पोथियों के आधार पर करते हैं। इस प्रकार मनुष्य अपनी स्वतन्त्र सोचने की शक्ति को खो देता है।

धर्म पुस्तकों में कहे गये उपदेशों में विरोध होते हैं। दुनियाँ में कई धर्म हैं और उनकी धर्म पुस्तकें विभिन्न प्रकार की बातों को धर्म बताती हैं। जब दो धर्म पुस्तकों की बातों में विरोध हो तो कर्त्तव्य का निर्णय कैसे किया जाय। मनुष्य धर्म पुस्तकों को अपना पथ प्रदर्शक बनाकर अनेक प्रकार के अत्याचार करता है और बड़ी बड़ी लड़ाइयाँ भी लड़ता है। इससे जीवन सुखी न होकर दुःखी हो जाता है। विज्ञान युग के पूर्व यूरोप में ईसाई धर्म का खूब प्रचार था। सभी लोग पादरियों को देवता के समान पूजते और उनकी बातों को बिना किसी नुक्ताचीनी के मानते थे। लोगों की इस मानसिक स्थिति से पादरियों ने लाभ उठाया। उन्होंने अपने जीवन को खूब विलासी बना लिया। रुपया इकट्ठा करने के लिये वे स्वर्ग की टिकटें बेचने लगे। जो कोई उनके आचरण की नुक्ताचीनी करता था, वे उसके प्राण ले डालते थे। स्वतन्त्र चिन्तन करने वाला अधर्मी समझा जाता था और धर्म पर किसी प्रकार आक्षेप करने वाले को अथवा बाइबिल में लिखी बातों के प्रतिकूल किसी सत्य को दर्शाने वाले व्यक्ति को वे जिन्दा ही जला डालते थे। इस प्रकार धर्म के नाते सत्य का गला

घोंटा जाता था। स्वतन्त्र चिन्तन पाप समझा जाता था। जिस प्रकार हमारे पण्डे और पुरोहित शास्त्र के विरुद्ध किसी बात को सह नहीं सकते और स्वतन्त्र चिन्तन करने वाले व्यक्ति का दमन करते हैं, उसी प्रकार मध्यकालीन यूरूप में पादरी लोग बाइबिल के विरुद्ध किसी भी सिद्धान्त का प्रचार होने नहीं देते थे। जो ऐसे सिद्धान्त अथवा मत का प्रचार करता था उसका वे दमन करते थे। सारे यूरूप में रूढ़िवाद फैला हुआ था। इसके कारण समाज के कुछ लोग सुख और आराम से रहते थे और बाकी लोग पादरी और जमींदारों की गुलामी किया करते थे। वे इसी को अपना धर्म समझते थे।

उक्त सामाजिक स्थिति को बदलने के लिये ही प्रकृतिवाद का प्रचार हुआ। प्रकृतिवाद पुरानी रूढ़ियों और विचार परम्पराओं की आलोचना करता है। प्रकृतिवाद मनुष्य की बुद्धि को आप्त-वचन, परम्परागत विचार तथा धर्म पुस्तकों के बन्धन से मुक्त करने की चेष्टा करता है। प्रकृतिवादी विश्वास करता है कि जिस प्रकार पुराने लोग अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर सके, हम भी अपने कर्त्तव्य का निर्णय कर सकते हैं। यदि कोई एक व्यक्ति कर्त्तव्य पथ को जान लेता है तो उसी प्रकार हम भी अपने कर्त्तव्य पथ को जान सकते हैं, हमें उसकी मानसिक गुलामी करने की आवश्यकता क्या है? प्रकृतिवादी पुस्तकों को गुरु न बनाकर प्रकृति को ही अपना गुरु बनाता है। मनुष्य सड़ी पुरानी विचार धारा में पड़कर मरते रहता है, इससे उसे मुक्त करना प्रकृतिवाद का उद्देश्य है। प्रकृति सदा नये विचार उत्पन्न करती है और मनुष्य को उचित और अनुचित का ज्ञान कराती रहती है।

प्रकृतिवादी उसी सत्य को सच्चा मानता है जो अनुभवगत है। वह किसी के कहे हुए सत्य को नहीं मानता। यदि कोई बात कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति कहे तो प्रकृतिवाद के अनुसार उसकी प्रामाणिकता प्रत्येक व्यक्ति को अपने अनुभव में घटाकर देखना चाहिये। कोई बात, चाहे वह कितने ही विद्वान व्यक्ति अथवा धर्म-ग्रन्थ की क्यों न कही

गई हो और उसको कितने ही लोग क्यों न मानते हों, यदि वह अपने अनुभव में सत्य नहीं उतरती तो उसे कदापि न मानना चाहिये।

प्रकृतिवाद के प्रकार—सुखवाद के समान प्रकृतिवाद कई मतों का सूचक शब्द बन गया है। इसके अन्तर्गत कई विरोधी सिद्धान्तों का समावेश होता है। कुछ प्रकृतिवादी विवेकवादी[1] (सद्विचारवादी) हैं, जो चैतन्यसत्ता को संसार का तत्व अथवा संचालनकर्त्ता मानते हैं; और कुछ प्रकृतिवादी जड़वादी[2] हैं, जिन्हें चैतन्य सत्ता के अस्तित्व में विश्वास नहीं है। यूनान के प्राचीन समय के कुछ दार्शनिक अपने आपको प्रकृतिवादी कहते थे, पर वे चेतन सत्ता को जगत् का तत्व और उसकी क्रियाओं का संचालन करने वाला मानते थे। इस तरह स्टोइक मत के प्रवर्तक जेनो महाशय अपने मत को प्रकृतिवाद अथवा स्वभाववाद कहते थे। पर उनके कथनानुसार संसार की सभी क्रियाओं का संचालन विश्वव्यापी विवेक के द्वारा अर्थात् चेतन सत्ता के द्वारा होता है। यही चेतन सत्ता हमारे मन में भी विचार के रूप में काम करती है। जब हम विवेक से काम लेते हैं तो हम इस चेतन सत्ता से अपना एकत्व स्थापित करते हैं। जिस प्रकार समष्टि विवेक सारे जगत का संचालन करता है, उसी प्रकार अपनी क्रियाओं को भी विवेक के द्वारा संचालन करने से समष्टि के साथ हमारी एकता स्थापित होती है। इस एकता को ध्यान में रखकर आचरण करना ही प्राकृतिक आचरण करना है। जो मनुष्य अपने आप को किसी प्रकार के प्रलोभनों में डालकर अपने विवेक के प्रतिकूल आचरण करता है, वह अप्राकृतिकता को चरितार्थ करता है।

अपने आप पर सम्पूर्ण नियन्त्रण रखने में ही विवेकशीलता है। इस प्रकार के नियन्त्रण की योग्यता प्राप्त करने के पूर्व मानसिक अभ्यास (ट्रेनिंग) की आवश्यकता है। यह ट्रेनिंग अपनी इन्द्रियों को वश में लाने की ट्रेनिंग है। जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने

1. Rationalistic 2. Materialistic

में अभ्यस्त नहीं रहता, वह समय आने पर प्रलोभनों और मानसिक वेगों के विरुद्ध काम नहीं कर सकता। ये उसके विवेक को बेठिकाने कर देते हैं। अतएव धर्म संकट के समय उचित काम कर सकने की योग्यता प्राप्त करने के लिये और इन्द्रियों को वश में रखने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। यह अभ्यास कठोर जीवन रखने का अभ्यास है। आराम से रहने वाले लोग अपनी इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते। जिसे इन्द्रियजित होना है, उसे तप और त्याग के अभ्यास की आवश्यकता है। उसे अनेक प्रकार के व्रत और उपवास करने होंगे। इस तरह स्टोइक मत के अनुसार इन्द्रियनिग्रह का जीवन ही प्राकृतिक जीवन है। जो मनुष्य जितना ही अधिक संयमी है और भूख तथा शीतोष्ण को सह सकता है, वह उतना ही प्रकृतिवाद को अपने जीवन में चरितार्थ करता है। स्टोइक मत में विवेकवाद और प्रकृतिवाद का एकत्व है।

दैविक प्रकृतिवाद[1]—आधुनिक युग के आरम्भ में यूरुप में प्रकृतिवाद का सिद्धान्त फ्रान्स के क्रान्तिकारी विद्वान् जेकीस रूसो महाशय ने प्रवर्तन किया। रूसो महाशय जड़वादी नहीं थे। वे चैतन्य सत्ता के अस्तित्व में विश्वास करते थे। पर वे समाज की रूढ़ियों और उसमें प्रचलित रूढ़िवादी धर्म के विरोधी थे। वे इनका उन्मूलन करना चाहते थे। वे कृत्रिमता को हटाकर स्वाभाविकता को मनुष्य के जीवन में लाना चाहते थे। उन्होंने स्वाभाविक धर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया। यह स्वाभाविक धर्म हम पुस्तकों से तथा समाज के रूढ़िवादी विचारों से न सीखकर प्रकृति देवी से सीखते हैं। रूसो महाशय के कथनानुसार प्रत्येक वस्तु जैसे वह सृष्टिकर्त्ता के हाथों से आती है सुन्दर होती है, वह मनुष्य के हाथ में आकर ही भ्रष्ट हो जाती है।*

---

1. Sprituallstic naturalism.

* "Every thing is beautiful as it comes from the hands of the Author of things; every Thing corrupts in the hands of man"—

Emile

अतएव भला आचरण वही है जो प्राकृतिक है और जिसमें अनेक प्रकार की झूठ और कृत्रिमता को स्थान नहीं है। यदि मनुष्य प्रकृति के ऊपर अपने आप को निर्भर कर दे तो वह अनेक प्रकार के शारीरिक रोगों से और पापों से मुक्त रहेगा। सभ्यता मनुष्य को चतुर और चालाक बनाती है, वह उसे भला नहीं बनाती। भला बनने के लिये मनुष्य को प्रकृति देवी की शरण लेनी चाहिये।

जड़वादी प्रकृतवाद—उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रकृतिवाद से भिन्न जड़वादी प्रकृतिवाद है। जड़वादी प्रकृतवाद के सबसे अधिक प्रसिद्ध प्रवर्तक इङ्गलैंड के दार्शनिक हरबर्ट स्पेन्सर महाशय हैं। अब प्रकृतिवाद का जो रूप उन्होंने दिया, उसे ही प्रकृतिवाद का वास्तविक रूप माना जाता है। अतएव हरबर्ट स्पेन्सर महाशय के विचारों की मुख्य बातों को समझना प्रकृतिवाद के सिद्धान्त को समुचित रूप से जानने के लिये आवश्यक है।

जड़वादी प्रकृतिवाद का आधार

जड़वादी प्रकृतिवाद का आधार जीवन विज्ञान के वे सिद्धान्त हैं, जिनका अन्वेषण श्रीडार्विन महाशय ने किया है। डार्विन के अनुसार प्राणियों के जीवन विकास में निम्नलिखित चार क्रियायें काम करती हैं।

(१) जीवन के लिये युद्ध[1]
(२) आकस्मिक नवीनता का उदय[2]
(३) प्राकृतिक चुनाव[3]
(४) वंशानुक्रम द्वारा प्रसार[4]

---

1. Struggle for Existence.
2. Ch—ce variation.
3. Natur—l Selection.
4. Transmission through heredity.

संसार में अनेक प्राणी हैं। वे अपनी सन्तान उत्पत्ति करते रहते हैं। थोड़े ही समय में वे इतने बढ़ जाते हैं कि उन्हें भोजन की कमी हो जाती है। ऐसी अवस्था में उनमें भोजन के लिये आपस में युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। इस युद्ध में एक प्राणी दूसरे से भोजन छीनने की चेष्टा करता है, उस पर अधिकार जमाने की चेष्टा करता है अथवा उसे नष्ट कर डालता है। प्राणी का सांसारिक जीवन ही एक संग्राम है। इसमें बलवान प्राणी निर्बल को सदा नष्ट करते रहते हैं और अयोग्य नष्ट हो जाते हैं।

जीवन की लड़ाई करते समय एक ही प्रकार के प्राणियों में कुछ नवीनता आती है, अर्थात् नये गुण उत्पन्न हो जाते हैं। इनका उत्पन्न होना आकस्मिक होता है। यदि ये नये गुण उस प्राणी के जीवन संग्राम में सहायक हुए तो वह प्राणी बच जाता है। वह दूसरे प्राणियों पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है। पर कभी-कभी किसी जाति के प्राणियों में ऐसे गुण उत्पन्न हो जाते हैं जो उन्हें जीवन संग्राम में सहायता न देकर उनके विनाश का कारण बन जाते हैं। जिन प्राणियों में जीवन संग्राम में सहायता देने वाले गुणों का विकास हो जाता है, वे बच जाते हैं। उनका बच जाना ही प्राकृतिक चुनाव कहलाता है। प्राणी के अच्छे गुण वे कहे जायेंगे जो उसे संग्राम में सहायक हों अर्थात् जिनके कारण वह संसार में अपना जीवन रख सकें और बुरे गुण वे कहलायेंगे, जिनके कारण उसका विनाश हो।

प्राकृतिक चुनाव में वे प्राणी बच जाते हैं, जिनमें प्राकृतिक वातावरण के अनुसार अपने आप को बना लेने की योग्यता होती है, अर्थात् जिनमें ऐसे गुण हैं, जिनसे वे बदलते हुए प्रकृति के वातावरण के अनुसार अपने आचरण को बना लेते हैं। जिन प्राणियों में यह गुण नहीं होता वे नष्ट हो जाते हैं। प्रकृति किसी प्राणी के प्रति दया नहीं करती, वह सदा योग्य प्राणी की रक्षा करती है और अयोग्य लोगों को संसार से निकाल बाहर करती है। योग्य प्राणी वह है जो

प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त करता है अर्थात् जो अपने आप को उसे वातावरण के अनुसार परिवर्तित करते रहता है।

प्राकृतिक चुनाव होने पर जो प्राणी बच जाते हैं, उनकी ही सन्तान संसार में रहती है। वंशानुक्रम के अनुसार योग्य प्राणियों की संतान संसार में वृद्धि करती है अर्थात् संसार में बच रहनेवाले प्राणी वे हैं, जिनके पूर्वज अपने आप को प्राकृतिक वातावरण के अनुसार बनाने में समर्थ हुए।

मानव समाज के विकास का प्राकृतिक क्रम—उक्त प्राकृतिक जीवन विकास के नियम को जब हम मानव समाज के विकास में घटित करके देखते हैं तो उसकी सत्यता बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। मानव समाज में वे लोग ही उन्नति करते हुए दिखाई देते हैं, जिनमें कुछ ऐसे गुण हैं, जिनसे वे दूसरे मनुष्यों से जीवन संग्राम में विजय प्राप्त कर सकें और अपने आप को वातावरण के अनुसार बना सकें। जिन लोगों में मानसिक जड़ता रहती है और जो इसके कारण रूढ़िवादी बने रहते हैं, वे वातावरण के अनुसार बना लेनेवाले व्यक्तियों के विरुद्ध जीवन संग्राम में विजय प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जो लोग सदा किसी नई बात की खोज में रहते हैं और किसी भी प्रकार के नये आविष्कार से लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं, वे जीवन संग्राम में सफल होते हैं। पुराने समय में लोग तीर, तलवार, भाले आदि से लड़ते थे। जब बारूद का आविष्कार हुआ तो जिन लोगों ने इससे पहले पहल लाभ उठाया, वे दूसरे लोगों पर सरलता से विजय प्राप्त कर सके। उसी प्रकार आधुनिक काल में केवल शूर-वीरता पर भरोसा करनेवाले व्यक्ति विजयी नहीं होते। जो लोग चतुराई से काम लेते हैं और वैज्ञानिक आविष्कारों से लाभ उठाते हैं, वे ही विजयी होते हैं। पहले पहल अमेरिका ने एटमबम (अणुबम) बनाया, अतएव वह सरलता से जापान पर विजय प्राप्त कर सका।

मनुष्य केवल वैज्ञानिक आविष्कारों से ही बली नहीं होता, वह नये

प्रकार के सामाजिक विचारों से भी कमी होता है। जो लोग नये विचारों का स्वागत करते हैं और योग्य विचारों के अनुसार अपनी सामाजिक रीति रिवाजों में परिवर्तन करते रहते हैं, वे जीवित रहते हैं और अनेक प्रकार की उन्नति करते हैं। इसके प्रतिकूल रूढ़िवादी लोग सदा अवनत रहते और दूसरों के गुलाम हो जाते हैं। पर यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रत्येक प्रकार की नवीनता कल्याणकारी नहीं होती। प्रकृतिवाद के अनुसार वह नवीनता भली है, जिससे मनुष्य को प्रकृति की अनुकूलता प्राप्त हो, अर्थात् जिससे मनुष्य अपने आप को वातावरण के अनुसार बनाने में समर्थ हो।

स्पेन्सर महाशय का प्रकृतिवाद

सुखवाद की आलोचना—स्पेन्सर महाशय के प्रकृतवाद का प्रधान आधार डार्विन महाशय का जीवन विकास का प्राकृतिक सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त उन्होंने सुखवाद के सिद्धान्त से भी अपने विचार का सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है। सुखवाद की समालोचना करते हुए हरबर्ट स्पेन्सर महाशय कहते हैं कि सुख के मापने का कोई मापदण्ड नहीं हो सकता। किसी क्रिया में किसी व्यक्ति को कम और किसी को अधिक सुख होता है। फिर सब के सुख को जोड़ना भी कठिन है। सुख व्यक्तिगत अनुभव है, इसके द्वारा आचरण की भलाई और बुराई का अन्दाज कैसे लगाया जा सकता है। स्पेन्सर महाशय के विचारानुसार आचरण की भलाई और बुराई प्रत्यक्षरूप से दिखाई देनी चाहिए, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति किसी भी आचरण को देखकर यह कह सके कि यह भला है अथवा बुरा। इसके लिये हमें प्राकृतिक परिणाम पर विचार करना होगा।

प्रकृतिवाद का नैतिक आदर्श—प्रकृतिवाद के अनुसार वह आचरण भला है, जिससे मनुष्य को जीवन की सम्पूर्णता प्राप्त होती है।

हरबर्ट स्पेन्सर ने "सम्पूर्ण जीवन" मनुष्य के आचरण का आदर्श निश्चित किया है। जीवन की सम्पूर्णता अपने आपको वातावरण के अनुसार बनाने से प्राप्त होती है। वातावरण के अनुसार आचरण करना ही भला है और उसके प्रतिकूल आचरण करना बुरा है, क्योंकि इससे जीवन की सम्पूर्णता प्राप्त होना तो दूर रहा, उसके अन्त हो जाने की सम्भावना है। जिस प्रकार हम चींटी के भोजन इकट्ठा करने के उद्योग को भला कहते हैं क्योंकि इससे उसके प्राण की रक्षा होती है, इसी प्रकार हम मनुष्य के उस उद्योग को भला कहेंगे, जिससे उसके प्राण की रक्षा हो और जिससे वह अधिक से अधिक काम कर सकें।

सम्पूर्णता का माप, जीवन की लम्बाई और चौड़ाई—जीवन की सम्पूर्णता दो प्रकार से मापी जाती है जीवन की लम्बाई और चौड़ाई से। जीवन की लम्बाई आयु के समय से जानी जाती है। अच्छा कार्य वह है जिससे मनुष्य दीर्घजीवी हो। जिस प्रकार के आचरण से मनुष्य अल्पायु हो जाता है, वह आचरण बुरा है। नैतिकता के माप के लिये वैयक्तिक जीवन को ही ध्यान में न रखना चाहिये, पूरे समाज के जीवन को ध्यान में रखना चाहिए।

जीवन की चौड़ाई जीवनोपयोगी कार्यों की संख्या से मापी जाती है। कितने ही लोग सौ वर्ष तक जीते हैं; पर संसार में कोई महत्व का काम नहीं करते। उन्हें दुनियाँ के अधिक लोग जानते भी नहीं। कुछ लोग तीस-पैंतीस वर्ष ही जीते हैं; पर वे बड़े बड़े महत्व के कार्य कर जाते हैं। वे जितने काल तक जीते हैं सदा किसी न किसी महान् कार्य में लगे रहते हैं। प्रकृतिवाद के अनुसार दूसरे प्रकार के लोग पहले प्रकार के लोगों से उच्चकोटि के हैं। नैतिक दृष्टि से उनका आचरण अच्छा माना जायगा। जो व्यक्ति अपने जीवन में जितनी ही अधिक जीवनोपयोगी क्रियायें करता है, वह उतना ही उच्चकोटि का व्यक्ति है, उसका आचरण उतना ही अच्छा है।

सुखवाद का स्थान—किसी भी प्रकार के आचरण की नैतिकता

इस आचरण में सुख के उत्पत्ति से ज्ञात होती है और जीवन को विनाश करनेवाली क्रियायें दुखदाई होती हैं। जब हम दूध पीते हैं तो सुख की अनुभूति करते हैं, जब सड़े गले फल को खा लेते हैं तो दुःख का अनुभव करते हैं। मित्रों से मिलना, भोज में शामिल होना, विवाह करना सभी को अच्छा लगता है। अकेले रहना, लड़ना झगड़ना और कष्ट सहना बुरा लगता है। पहले प्रकार की क्रियायें जीवनोपयोगी हैं और दूसरे प्रकार की जीवन की विनाशक। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवनोपयोगी कार्यों में सुख और दुःख को आचरण की भलाई और बुराई का माप नहीं बनाया जा सकता। कभी-कभी सुख देने वाले काम जीवन के लिये हितकर नहीं होते और कभी-कभी कष्टदायक काम जीवन के लिये उपयोगी होते हैं। विलासिता, शराबखोरी आदि से सुख होता है पर इनसे जीवन का विनाश होता है। इसी तरह बीमारी की अवस्था में कड़वी दवा पीने से कष्ट होता है, पर यह कार्य जीवनोपयोगी है। सुख और जीवन उपयोगी क्रियाओं में इस प्रकार का वैषम्य संसार के अपूर्णता के कारण पाया जाता है। स्पेन्सर महाशय एक ऐसी आदर्श स्थिति की कल्पना भी करते हैं कि जब सभी जीवनोपयोगी क्रियायें सुखदाई होंगी और जीवन को हानि पहुँचाने वाली सभी क्रियायें दुःखदाई होंगी। हमारी वर्तमान अवस्था में सुख को भले काम अथवा जीवनोपयोगी कार्यों का संकेत मात्र माना जा सकता है, सुख को आचरण की भलाई अथवा बुराई का माप नहीं माना जा सकता।

प्रकृतिवाद के मापदंड का उपयोग—स्पेन्सर के मापदंड के अनुसार झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार करना आदि काम इसलिये बुरे हैं कि इनसे मनुष्य के जीवन की सम्पूर्णता की प्राप्ति में बाधा होती है। पहले तो उसके जीवन का शीघ्र अन्त हो जाने की सम्भावना रहती है और दूसरे जीवन में इन कामों के कारण मनुष्य अपने आप को समाज से बहिष्कृत बना लेता है और इसके कारण वह अपने जीवन को उतना विकसित नहीं कर पाता, जितना अन्यथा वह

उसे विकसित कर सकता है। धन कमाना, व्यावसायिक कार्य करना और संयमी बनकर रहना जीवन को आयु प्रदान करते हैं और उसे समाज के लिये अधिक उपयोगी बनाते हैं इसलिए ये काम भले काम हैं। स्पेन्सर महाशय तप और त्याग, एकान्तवास तथा अविवाहित जीवन को भला जीवन नहीं कहेंगे, क्योंकि इस प्रकार के कामों से व्यक्ति अपने आपको निकम्मा बनाता है और जीवनोपयोगी क्रियाओं से अपने आपको वंचित करता है। जिस बात से मनुष्य की क्रियाशीलता में बाधा होती है वह स्पेन्सर महाशय के अनुसार अनैतिक और त्याज्य है। वही काम भला है जिससे मनुष्य की कार्यशीलता को प्रोत्साहन मिले।

प्रकृतिवाद की आलोचना

प्राकृतिक और नैतिक आचरण में भेद—प्रकृतिवाद का मूल सिद्धान्त प्राकृतिक आचरण को भला आचरण मानना है। जिस प्रकार निम्न वर्ग के प्राणियों के आचरण की अच्छाई और बुराई उनके प्रकृति के अनुसार मापी जाती है, उसी प्रकार मनुष्य के आचरण को प्रकृति के अनुसार चलने से मापा गया है, वातावरण के अनुसार कार्यशीलता को भला और वातावरण के विरुद्ध चलने को प्रकृतिवाद में बुरा माना गया है, यह प्रकृतिवाद का मूल सिद्धान्त दोषपूर्ण है। यदि इस सिद्धान्त को हम मान लें तो मनुष्य का नैसर्गिक आचरण आदर्श आचरण होगा। फिर किसी प्रकार की नैतिक शिक्षा की आवश्यकता ही क्या रहेगी? प्रत्येक प्राणी वातावरण की अनुकूलता प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसके लिए नैतिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे दूसरे प्राणी जीवन के संग्राम में काम करते हैं, यदि मनुष्य भी उसी प्रकार काम करे तो वह भी दूसरे प्राणियों के समान पशुवर्ग में होगा। मनुष्य विवेकशील है; विवेक मनुष्य की विशेषता है और इस विवेक का सबसे

महत्व का कार्य धर्म और अधर्म के निर्णय में देखा जाता है। दूसरे प्राणियों में विवेक-शक्ति नहीं होती है, अतएव जैसा काम करने के लिये प्रकृति उनको प्रेरित करती है वे वैसा ही काम करने लगते हैं। उनके जीवन में सुख दुःख विनियमन का नियम काम करता है, अर्थात् सुखदायी कामों को वे करते हैं और दुखदायी कामों से अपने आपको बचाते हैं। मनुष्य में इस प्राकृतिक नियम के प्रतिकूल आचरण करने की क्षमता है। वह जिस काम को भला समझता है उसे वह कर सकता है, चाहे उसमें उसे कितना ही कष्ट क्यों न हो और उसके प्राण का अन्त ही क्यों न हो जाय। मनुष्य का नैतिक आदर्श वातावरण की अनुकूलता प्राप्ति बनालेना, उसे विवेकशीलता से गिराना और पशुवत् बनाना है।

चरित्र विकास के प्रतिकूल—वातावरण की अनुकूलता की प्राप्ति करना स्वाभाविक है। इसमें मनुष्य को अपने विवेक अथवा इच्छाशक्ति से काम नहीं लेना पड़ता। मनुष्य को मानसिक दृढ़ता तभी आती है जब उसे वातावरण के प्रतिकूल आचरण करना पड़ता है। जिस मनुष्य को वातावरण के प्रतिकूल आचरण करने का जितना अधिक अभ्यास है, उसकी इच्छाशक्ति और चरित्र उतने ही दृढ़ होते हैं। यदि पशु जीवन ही मानव जीवन का आदर्श बन जाय तो मनुष्य और पशु में भेद ही क्या रहेगा? और जब यह भेद नहीं है तो मनुष्य को कर्तव्य शास्त्र या नैतिकता के विचार की आवश्यकता क्या होगी?

पाशविक जीवन का नियम है कि उसमें जो शक्तिशाली होता है वह दूसरे को अपने नियन्त्रण में कर लेता है, यदि निर्बल को बली पशु मार डाले तो हमें बुरा नहीं समझा जाता, क्योंकि उसके लिये यह स्वाभाविक है। पशुओं में पुत्र, बूढ़े माता-पिता की सेवा करते हुए नहीं देखे जाते, पर मनुष्य जीवन में निर्बलों को नष्ट करने की चेष्टा न करना, अपने आश्रित सम्बन्धियों की सहायता और सेवा करना भला माना जाता है। इस प्रकार का आचरण प्राकृतिक आचरण नहीं, यह

सांस्कृतिक विकास का परिणाम है। मनुष्य में अपने स्वार्थ के प्रतिकूल काम करने की योग्यता है। वह अपने स्वार्थ को अपने विवेक के नियन्त्रण में रख सकता है और जिस काम को वह भला समझता है उसके लिये अपना सर्वस्व त्याग करने के लिये तैयार हो जाता है। यह क्षमता पशुओं में नहीं है। उनमें विचार करने की शक्ति ही नहीं, तब भले और बुरे का विवेक उनमें कैसे आ सकता है। पशु भोगेच्छुक होता है और वह इसके परे नहीं जा सकता। मनुष्य भी भोगेच्छुक होता है, पर वह अपनी भोगेच्छाओं के परे जा सकता है। वह अपनी इच्छाओं को अपने विवेक के नियन्त्रण में रख सकता है। वह भयावनी स्थिति में निडर हो सकता है और अपने काम और क्रोध के आवेशों को रोक सकता है। अतएव मानव स्वभाव की समानता पशु स्वभाव से नहीं की जा सकती और मनुष्य के आचरण का आदर्श वह नहीं बनाया जा सकता जो पशु के आचरण का आदर्श है।

क्रियावाद और नैतिकता का ऐक्य—हरबर्ट स्पेन्सर महाशय के कथनानुसार वह जीवन भला है जिसमें अधिक से अधिक जीवन को प्रकाशित करनेवाली क्रियायें होती हों। अर्थात् हरबर्ट स्पेन्सर महाशय क्रियाओं की भलाई और बुराई का माप क्रियाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। पर यह सम्भव है कि जो व्यक्ति अपने जीवन भर में क्षणभर भी निकम्मा नहीं रहता, वह गुमराह हो। उसके काम से अन्त में संसार का कल्याण न होकर उसका विनाश हो। नेपोलियन और हिटलर के जीवन में सदा क्रियाओं की वृद्धि देखी जाती थी। जितने काम इन लोगों ने किये, उतने उनके समकालीन किसी व्यक्ति ने नहीं किये। पर फिर भी उनके जीवन को हम सफल जीवन नहीं कहते। इसका कारण यह नहीं कि उनके जीवन में क्रियाओं की कमी पाई जाती है, वरन् उनके काम का समाज के लिये अकल्याणकारी होना है। नेपोलियन और हिटलर ने अपने जीवन में एक प्रकार ... के नियम को ही चरितार्थ किया है। वे बलवान होकर

संसार पर शासन करना चाहते थे। यह एक स्वाभाविक इच्छा है और प्रकृतिवाद के सिद्धान्त के अनुसार है। पर इसी इच्छा ने उनका विनाश कर डाला। प्रकृतिवाद के मानने से सभी लोगों की मति उसी प्रकार होगी जिस प्रकार की मति दो उक्त तानाशाहों की थी और फिर वे अपने आचरण में दूसरों के हित की चिन्ता न करके अपने आपको ही सबसे उन्नतिशील बनाने की चेष्टा करेंगे। इस प्रकार प्रकृतिवाद का प्रचार मानव समाज का विनाशक है। क्रियाओं को भले और बुरे समझे जाने का मापदण्ड हमें क्रियाओं के अतिरिक्त किसी दूसरे तत्व को मानना पड़ेगा। वे ही क्रियायें भली हैं जो मनुष्य के निश्चित आदर्श के अनुसार हों। जिन क्रियाओं में लक्ष्य का ध्यान नहीं, वे भली नहीं कही जा सकतीं। ऐसी क्रियाओं से अपने आपको रोकना ही नैतिकता का पालन करना है। अस्तु हर स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि क्रियाओं को न करने वाला व्यक्ति क्रियाओं के करनेवाले व्यक्ति से निम्नकोटि का है। लोक कल्याण की क्रियाओं के करनेवाले व्यक्ति को ही हम ऐसी क्रियाओं के न करनेवाले व्यक्ति से भला कह सकते हैं।

अध्यात्मिक प्रयत्न की अवहेलना—कितने ही लोगों के जीवन में देखा जाता है कि बाह्य क्रियायें बहुत कम होती हैं, पर उनका आन्तरिक जीवन बड़े ही उच्च कोटि का होता है। कितने ही दार्शनिकों के जीवन में कोई भी विशेष महत्व की घटना नहीं घटती। उनके विचार भी कभी-कभी दूसरे ही व्यक्ति लिखते हैं। पर तो भी हम उनके जीवन को उच्च स्तर का मानते हैं। बुद्ध भगवान् भिक्षुओं को न केवल अनेक बाह्य क्रियाओं से अपने आपको रोकने का आदेश देते थे, वरन् आन्तरिक मानसिक क्रियाओं को रोकने की भी शिक्षा देते थे। जिस स्थिति में चित्त का सम्पूर्ण निरोध हो जाता है उसे मानव जीवन की सर्वोच्च स्थिति माना गया है। यह स्थिति समाधि स्थिति कहलाती है। स्पेन्सर महाशय

के सिद्धान्तानुसार इस प्रकार की स्थिति के लिये अभ्यास करना अपने जीवन को व्यर्थ खर्च करना है। पर हम जानते हैं कि जिस मनुष्य में अपने आवेगों को रोकने की शक्ति नहीं है वह न केवल अपने आपको दुःखी बनाता है, वरन् दूसरे लोगों को भी दुःखी बनाता है। ऐसी क्रियाओं के करने से जिनसे संसार का दुःख बढ़ता है, कुछ नहीं करना ही अधिक भला है।

अवसरवादिता का प्रोत्साहन—प्रकृतिवाद मनुष्य को अवसरवादी बना देता है। प्रकृतिवाद के अनुसार यह सिद्धान्त भला है जिसके अनुसार हम अपने आपको सबसे अधिक सफल कर सकें, अर्थात् जिससे अपने स्वार्थ की सबसे अधिक सिद्धि हो। संसार के अधिक लोग इसी बुद्धि के होते हैं। वे रामपुरी में रामभक्त और कृष्णपुरी में कृष्णभक्त बन जाते हैं। जिस बात को समाज के सभी लोग अच्छा कहते हैं वे भी उसी को अच्छा कहने लगते हैं। यदि समाज में सब लोग तम्बाकू पीवें अथवा मद्यपान करते हैं तो वे भी तम्बाकू पीने लगते या मद्यपान करने लगते हैं। जब इसे समाज के लोग बुरा समझते तो वे भी उसे बुरा कहने लगते हैं।

फिर ऐसे लोग शक्तिशाली लोगों के विरुद्ध कुछ भी नहीं कह सकते। वे प्रायः सभी अन्यायों को उचित समझते हैं। भारतवर्ष में ऐसे लोगों का बाहुल्य है। हमारे देश की अवसरवादी कलतक अंग्रेज सरकार के भक्त थे, आज ये ही लोग कांग्रेस भक्त हो गये हैं और गान्धीजी की अहिंसा और चर्खा का गुणगान करने लगते हैं। यही लोग कल साम्यवादी अथवा संघवादी बन सकते हैं। प्रकृतिवाद इस अवसरवाद की मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देता है। इस तरह वह मनुष्य के चरित्र की उन्नति न कर उसे नीचे गिराता है।

अवसरवादिता से चरित्र का विनाश—चरित्र की उन्नति परिस्थितियों का सामना करने से होती है। यदि समाज, राष्ट्र, अथवा,

अन्य अधिकारी भूल कर रहे हैं तो उनकी भूलों को बताना, उन्हें सन्मार्ग पर चलाने की चेष्टा करने में ही मनुष्य का अध्यात्मिक कल्याण है। इस प्रयत्न में अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़े तो भी उसे करना चाहिये। संसार के उच्च कोटि के लोग वे नहीं होते जो परिस्थिति के अनुसार अपने आपको मोड़ते रहते हैं, वरन् वे लोग होते हैं जो सत्य के लिये परिस्थितियों का सामना करते और अनेक प्रकार के कष्ट सहते और अपने प्राण तक विसर्जन करने को तैयार रहते हैं। भगवान बुद्ध, ईसा, सुकरात, लूथर, दयानन्द को हम उनकी अवसरवादिता के कारण नहीं, वरन् सिद्धान्तवादिता के कारण स्मरण रखते हैं।

जीवन की चौड़ाई मापने में कठिनाई—स्पेन्सर महाशय ने जो सम्पूर्ण जीवन का माप दण्ड निश्चित किया है वह भ्रमात्मक है। जीवन की सम्पूर्णता उसकी लम्बाई और चौड़ाई से मापी गई है। जीवन की लम्बाई मापना तो सरल है, पर जीवन की चौड़ाई मापना वैसा ही कठिन काम है जैसा सुखों की अच्छाई को मापना। जान स्टूअर्ट मिल महाशय ने सुखों में भेद माने हैं और किसी काम की मौलिकता जानने के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं माना कि वह अधिक सुख दे, अपितु यह भी बताया गया कि सुख के प्रकार को जानकर इसे निश्चित किया जाय। पर सुखों का भला और बुरा निश्चित करना असंभव है। इतना ही नहीं जब हम सुखों के भले और बुरेपन को निश्चित करने लगते हैं तो सुखवादी नहीं रहते। इसी प्रकार जीवन की चौड़ाई मापना कठिन है और उसके निश्चित करने के प्रयत्न में प्रकृतिवाद का सिद्धान्त ही विनष्ट हो जाता है। चौड़ाई की माप जीवनोपयोगी क्रियाओं से करने के लिये आदेश दिया गया है। पर हम कैसे जानेंगे कि कौन सी क्रियायें अधिक जीवनोपयोगी हैं। जुलाहा कपड़ा बुनता है, किसान खेती करता है और कवि कविता करता है तथा दार्शनिक अपने दर्शन के विचार में निमग्न रहता है। ऊपरी दृष्टि से क्या जुलाहे और किसान का काम कवि और दार्शनिक के काम से अधिक जीवनोपयोगी नहीं है? पर हम प्रायः कवि

और दार्शनिक के कामों को ही अधिक कीमत देते हैं। इसका कारण क्या है? फिर जो काम एक व्यक्ति की दृष्टि से महत्त्व का है, दूसरे व्यक्ति की दृष्टि से महत्त्वहीन हो सकता है। ऐसी स्थिति में, कैसे निश्चित किया जा सकता है कि किस व्यक्ति के जीवन में कितनी अधिक नैतिकता अर्थात् भलाई है।

यदि उक्त प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाय कि वह कार्य महत्त्व का है जिससे अधिक लोगों का भला हो तो फिर हमें खोज करनी पड़ेगी कि लोगों की वास्तविक भलाई किस बात में है। जीना मात्र, अथवा सदा क्रिया मात्र करते रहना भला नहीं कहा जा सकता है। मानव जीवन की भलाई जानने के लिये मानव जीवन की विशेषता पर विचार करना होगा और उसी विशेषता के अनुसार उसकी भलाई निश्चित करनी होगी। मानव जीवन की विशेषता क्रिया में नहीं, विचार में है और सम्भव है कि वे ही काम भले हों जिनसे मनुष्य की इस विशेषता की वृद्धि होती है। प्रकृतिवाद ने बाहरी वृद्धि और सफलता को नैतिकता का माप दण्ड बनाया है। बाहरी सफलता परिस्थितियों पर निर्भर करती है। इससे नैतिकता मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति पर निर्भर न हो किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर हो जाती है। पर इस प्रकार की नैतिकता के लिये किसी व्यक्ति को जिम्मेदार नहीं बनाया जा सकता। मनुष्य अपने आन्तरिक उन्नति और सफलता के लिये ही जिम्मेदार हो सकता है, और इसी से उसकी नैतिकता मापी जाना उचित है। कितने ही लोग बड़े-बड़े कामों का आयोजन अपने मन में रखते हैं पर वे उन कामों के प्रारम्भ करने के पूर्व अथवा आरम्भ करते ही चल बसते हैं। क्या हम इन लोगों के जीवन को उन लोगों के जीवन से कम महत्त्व का समझें जो अपने स्वार्थ के लिये दुनिया भर को उथल पुथल कर डालते हैं? इमेनुअल कान्ट ने चौसठ वर्ष की अवस्था में "क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन" प्रकाशित की। यह पुस्तक संसार को जर्मनी की सब से बड़ी देन मानी जाती है। यदि इस पुस्तक को कान्ट न लिखता तो यूरोप का दार्शनिक

विचार ही निम्न स्तर का रहता। संसार में हम कान्ट का नाम भी न सुनते। पर यदि कान्ट ६३ वर्ष की अवस्था ही में मर जाता तो वह इस पुस्तक को संसार को न दे सकता। इस पुस्तक के लिये वह चालीस वर्ष तक सोचता रहा और जब उसे इसमें लिखे सिद्धान्तों पर पूरा भरोसा हो गया तभी उसने उन्हें पुस्तक रूप में लिखा। यदि हम उसके बाहरी कृति से ही उसकी सफलता की माप करें, तो हमें कहना पड़ेगा कि पुस्तक के लिखने के कारण ही उसका जीवन सफल है, यदि वह उसे न लिखता तो वह असफल था।

यह दृष्टिकोण भौतिक है नैतिक नहीं। नैतिक दृष्टिकोण में मनुष्य के आन्तरिक भावनाओं और हेतुओं पर विचार किया जाता है न कि उसकी बाह्य सफलता पर। यदि कोई व्यक्ति जीवन में एक भी ऐसा काम करता जिससे लोक कल्याण के लिये उससे अपने प्राण त्याग करने पड़ते हैं तो वह स्वार्थ के हेतु अनेक काम करने वाले व्यक्तियों से नैतिक दृष्टि से कहीं ऊँचा माना जायेगा। अभिमन्यु के एक ही काम ने उसे चिरस्मरणीय बना दिया। उसे हम नैतिक दृष्टि से ऊँचा व्यक्ति इसलिये नहीं मानते कि वह बहुत दिनों तक जीवित न रहा अथवा उसने संसार में बहुत दिनों तक बहुत से काम न किये। वरन् उसे उच्च कोटि का व्यक्ति इसलिये ही मानते हैं कि वह जिसे अपना कर्त्तव्य समझता था उसके लिये उसने अपने प्राण निछावर कर दिये। इस तरह हम देखते हैं कि न तो जीवन की लम्बाई और उसकी चौड़ाई और न बाह्य सफलता ही नैतिकता का माप दण्ड बन सकता है। नैतिकता का माप-दण्ड आन्तरिक उन्नति ही हो सकती है। यह उन्नति किस प्रकार की हो यह विचारणीय विषय है।

निट्शे का शक्तिवाद[1]

शक्तिवाद का ऐतिहासिक महत्त्व—शक्तिवाद के अनुसार प्रकृति शक्ति की उपासना सिखाती है। नीतिशास्त्र में शक्तिवाद के सिद्धान्त के

1. The Will to Power.

प्रवर्तक जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक फ्रेडरिक निट्शे महाशय थे। इनके विचार ऐतिहासिक घटनाओं की दृष्टि से बड़े महत्त्व के हैं। निट्शे महाशय वैज्ञानिक नहीं थे, वे प्रतिभावान साहित्यकार और कवि थे। जो कुछ वे लिखते थे उसमें तार्किक युक्तियों की प्रबलता उतनी नहीं रहती थी जितनी अन्तर्ज्ञान वृद्धि और कल्पना की प्रबलता रहती है। परन्तु प्रबल कल्पना जितनी शक्तिशाली होती है उतना शक्तिशाली वैज्ञानिक और दार्शनिक विचार नहीं होता। निट्शे महाशय के विचार अन्तः अनुभूति अथवा इलहाम के रूप में हैं, और जो लोग अन्तः अनुभूतिवादी होते हैं और अपने आपको ईश्वर का विशेष व्यक्ति मानते हैं ऐसे लोग उनसे बहुत प्रभावित हुए हैं।

शक्तिवाद का सिद्धान्त, ऐसे तो जब से मानव समाज बना तब से चला आया है। शक्तिशाली व्यक्ति जो कुछ करता है उसे सभी लोग ठीक मान लेते हैं। शक्तिवान व्यक्ति की 'हाँ' में 'हाँ' सभी लोग मिलाते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो शक्तिवान व्यक्ति उनका विरोध करने वाले लोगों को कुचल डाले। फिर शक्तिवान व्यक्ति दूसरे लोगों को अनेक प्रकार से पुरस्कारित भी कर सकता है। संसार के अधिक लोगों के आचरण के प्रेरक भय और प्रलोभन ही होते हैं। अतएव शक्तिवान व्यक्ति का विरोध कोई नहीं करता। प्लेटो ने अपनी रिपब्लिक नामक पुस्तक में इस शक्तिवाद का खंडन किया है। शक्तिवाद को पूर्व पक्ष मान कर यह दर्शाया गया है कि शक्तिवाद के आधार पर कोई समाज ठहर नहीं सकता, अतएव यह न्याय का सिद्धान्त नहीं है।

शक्तिवाद साधारण लोगों के सिद्धान्त के रूप में सदा से चला आया है, पर निट्शे महाशय ने इसे दार्शनिक रूप देने का प्रयत्न किया। इनके विचारों का प्रचार जर्मन में बहुत हुआ। इसके परिणाम स्वरूप जर्मन राष्ट्र में संसार के साधारण नैतिक विचारों की अवहेलना करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो गई। जर्मन का प्रत्येक नागरिक अपने आपको

संसार का विशेष व्यक्ति मानने लगा और अपनी महानता सिद्ध करने के लिये युद्ध के लिये उतारू हो गया।

शक्तिवाद के मुख्य तत्त्व—शक्तिवाद का कथन है कि शक्ति ही नीति है। स्वयं प्रकृति शक्ति की उपासक है। प्रकृति में शक्ति का खेल मात्र देखा जाता है। प्राणियों के जीवन के विकास का आधार शक्ति प्रकाशन की इच्छा[1] है। जो व्यक्ति जितना अधिक शक्ति का प्रकाशन करता है वह उतना ही महान् है। ऐसा ही मनुष्य भला मनुष्य है।

डार्विन महाशय का कथन है कि सभी प्राणी अपने जीवन के लिये लड़ाई करते हैं। परन्तु इस प्रकार की लड़ाई अपने जीने की इच्छा के अभाव में अर्थहीन हो जाती है। पर जीने के लिये कोई भी जीना नहीं चाहता। कोई भी व्यक्ति शक्ति के प्रकाशन के लिये जीना चाहता है। जबतक मनुष्य शक्ति का प्रकाशन नहीं करता उसके जीवन में किसी प्रकार का आनन्द नहीं रहता। जीने की इच्छा ही मनुष्य को योद्धा बना देती है। वह दया रहित होकर दूसरों से लड़ता है। निट्शे का कथन है कि प्रकृति हमें लापरवाह, और शक्तिवान होने के लिये आदेश देती है; वह केवल योद्धा को ही प्यार करती है*।

निट्शे महाशय के अनुसार नैतिक जीवन का उद्देश मनुष्य को पूर्णता प्राप्त कराना है। पर प्रत्येक मनुष्य को पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। संसार में दो प्रकार के लोग हैं—एक सामान्य योग्यता वाले और दूसरे विशेष योग्यता वाले। ये भेद जन्मजात होते हैं। सामान्य योग्यता वाले लोगों के लिये एक प्रकार का आचरण नैतिक होता है और विशेष योग्यता वाले लोगों के लिये दूसरे प्रकार का आचरण नैतिक होता है। विशेष योग्यता वाले व्यक्ति को निट्शे ने "सुपरमैन" दैवी पुरुष कहा है। दैवीपुरुष की नैतिकता सामान्य पुरुषों की नैतिकता से भिन्न होती है। दैवी पुरुष जिन नैतिक मूल्यों की कीमत करता है

---

1. Will to Power

*. "Care less, mocking, forceful—so does wisdom wish us, she is woman, and never loves any one but Warrior—Zarathustra

उनका ज्ञान सामान्य व्यक्तियोंको नहीं रहता। सामान्य लोगों का विश्वास होता है कि किसी विशेष प्रकार के आचरण हर समय के लिये सही अथवा गलत होते हैं, इस प्रकार के विचार को दैवी व्यक्ति नहीं मानता है। निट्शे महाशय का कथन है कि किसी काम को अपने आप से उचित अथवा अनुचित मानना बिल्कुल एक प्रकार की मूर्खता है। दूसरे को किसी प्रकार के कष्ट देने, उसे यन्त्रणा देने, उसका शोषण करने अथवा उसका विनाश करने में कोई स्वगत दोष नहीं है, क्योंकि जीवन इसी प्रकार का है। मनुष्य को जीने के लिये ही दूसरे को कष्ट देना, उन्हें यन्त्रणा देना, उनका शोषण करना अथवा विनाश करना आवश्यक होता है, इसके बिना जीना सम्भव नहीं*।

निट्शे महाशय का कथन है कि सामान्य योग्यता के लोग नैतिकता में समानता के सिद्धान्त का प्रचार करते हैं। वे दैवी पुरुष से भी आशा करते हैं कि वह अपनी विशेषता छोड़ कर दूसरे लोगों के साथ समानता का व्यवहार करें। जब वह उनके इस प्रकार के परामर्श को नहीं मानतां तो ये उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करके गिराने की चेष्टा करते हैं। दैवी पुरुष जैसा खुले मन का रहता है ठीक उसके विरुद्ध साधारण मनुष्य रहता है। शक्तिहीन मनुष्य शक्तिशाली मनुष्य का ईर्ष्यालु होता है। शक्तिहीन मनुष्य की नैतिकता गुलाम की नैतिकता होती है और शक्तिशाली की नैतिकता स्वामी की नैतिकता होती है। शक्तिहीन व्यक्ति छल-कपट और षड्यन्त्रोंसे काम लेता है, और शक्तिशाली पुरुष अपने आत्म प्रकाशन के लिये स्वच्छ और खुले साधनों को काम में लाता है। गुलाम मनुष्य की नैतिकता में निषेधात्मक आदेशों की मा-

---

*The talk of intrinsic right and intrinsic wrong is absolutely nonsensical, intrinsically, an injury, an oppression, an exploitation, an annihilation; can be nothing wrong, in as much as life is essentially., some thing which functions by injuring, oppressing, exploiting and anniliating, and is absolutely inconceivable without such a character—*Beyond Good and Evil.*

मार रहती है। इन निषेधात्मक आदेशों की जो व्यक्ति परवाह करता है वह संसार में कभी ऊँचा नहीं रहता।

दैवी पुरुष सामान्य लोगों के नैतिक नियमों को घृणा की दृष्टि से देखता है। उसके लिये जो काम वह करना चाहता है वही काम नैतिक है। यह नये मूल्यों का निर्माण करता है। वह पुराने मूल्यों को बदल कर उनके स्थान पर नये नैतिक मूल्यों की स्थापना करता है। सामान्य लोगों के नैतिकता के प्रतिबन्धों के परे जाना उसका स्वाभाविक गुण है। शक्ति हीन लोग ऐसे व्यक्ति को दुराचारी कहते हैं। परन्तु वह वास्तव में उच्च कोटि की नैतिकता को मानता है। वह शक्तिहीन लोगों के सभी को गिरा कर एक बराबर कर देने के प्रयत्न को विफल करता है। वह देखता है कि जिस सिद्धान्त पर सामान्य काम भी चलते हैं वह मनुष्यत्व का विनाशक है। वह दूसरों के ऊपर पहले आक्रमण करता है, इस लिये उसकी विजय होती है। शक्तिहीन व्यक्ति के विचार सदा उलझे रहते हैं, परन्तु दैवी पुरुष के विचार सदा सुलझे रहते हैं। उसकी इच्छाशक्ति को पश्चाताप और आत्मग्लानि आदि की भावनायें कमजोर नहीं करतीं।

जैसी वर्तमान समय में हमारी सभ्यता है उसमें किसी दैवी पुरुष का आविर्भाव होना बड़ा कठिन है। वर्तमान सभ्यता में गुलाम मनोवृत्ति के लोग एक दूसरे से मिलकर संख्या के बल से ही दैवी पुरुष पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। ईसाई धर्म सभी लोगों की समानता की शिक्षा देता है, अतएव यह धर्म गुलाम लोगों का सहायक है और दैवी पुरुष के आविर्भाव को रोकता है। परन्तु भविष्य में आने वाली सभ्यता दैवी-पुरुष के आगमन में सहायक होगी। दैवी पुरुष जब शक्ति प्राप्त कर लेंगे तो वे पुरानी संस्थाओं, धर्मों आदि जैसी मनुष्य की स्वतन्त्रता में बाधा डालने वाली वस्तुओं को नष्ट भ्रष्ट कर देंगे।

निट्शे महाशय का मत स्पेन्सर महाशय के मत से कई बातों में भिन्न है। स्पेन्सर महाशय के कथनानुसार जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने की चेष्टा करना सभी लोगों के लिये उचित है। इसके लिये मनुष्य

को ऐसे आदर्शों को अपने सामने रखना चाहिए जो उसे जीवन संग्राम में सफल बनावें। निट्शे के नैतिक आदर्श सभी मनुष्यों के लिये न होकर केवल दैवी पुरुषों के लिये हैं। इन आदर्शों के अनुसार दैवी पुरुष को अपने जीवन में सदा वीरता और शक्ति का प्रकाशन करते रहना चाहिये। इस प्रकार वह एक नये समाज का निर्माणकर्ता होगा जो वर्तमान समाज से अधिक बलवान और सुखी होगा। निट्शे महाशय के कथनानुसार प्रत्येक दैवी पुरुष अपने आध्यात्मिक विकास में निम्नलिखित तीन प्रकार की अवस्थाओं को पार करता है।

(१) ऊँट की अवस्था (२) सिंह की अवस्था और (३) बच्चे की अवस्था। ऊँट की अवस्था में दैवी पुरुष दूसरों का अनुकरण करता है और उनकी आज्ञा का पालन करता है, सिंह की अवस्था में वह अपनी शक्ति को पहचानता है और उसे कैद करने वाली शृंखलाओं को वह तोड़ देता है। परन्तु वह कुछ नई सृष्टि नहीं करता। दैवी पुरुष के विकास की अन्तिम अवस्था बालक की अवस्था है। इस अवस्था में जब दैवी पुरुष पहुँच जाता है तो वह अपने ही सुख के लिए अनेक प्रकार की रचनाएँ करता है।

शक्तिवाद की समालोचना

व्यापकता का अभाव—शक्तिवाद का सिद्धान्त कुछ विशेष व्यक्तियों के लिये है जिन्हें निट्शे महाशय ने सुपरमैन अर्थात् दैवी पुरुष कहा है। परन्तु नैतिकता का सिद्धान्त व्यापक सिद्धान्त है। जिस सिद्धान्त को हम सभी लोगों पर समानरूप से लागू नहीं कर सकते वह नैतिकता का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता। यदि नैतिकता के दो आदर्श मान लिये जाँय—एक सामान्य व्यक्ति के लिये और दूसरा विशेष व्यक्ति के लिये तो फिर प्रश्न आता है, कि हम स्वयं अपने आप कौन से सिद्धान्त को मान कर चलें। प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को विशेष व्यक्ति मानने लगेगा। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जो अपने आप को गुलामों की कोटि में रखना पसन्द करेगा। फिर यदि सभी लोग अपने आप को विशेष पुरुष समझ लें और इसके कारण समाज में प्रचलित सामान्य

नैतिक नियमों की अवहेलना करने पर उतारू हो जांय तो वे न केवल समाज का विनाश कर डालेगें, वरन् अपना भी विनाश कर डालेगें। कहा जाता है कि दो सिंह एक ही गुफा में नहीं रह सकते। प्रत्येक दैवी पुरुष अपने आप को सिंह समझता है। ज्यों ही कई ऐसे पुरुष एक साथ एक स्थान पर आयेंगे त्यों ही वे एक दूसरे से लड़ने के लिये और विनाश के लिये उतारू हो जायेंगे। इस प्रकार निटशे महाशय के नैतिक सिद्धान्त के अनुसार चलने में मानव-समाज में सुख शान्ति की वृद्धि न होकर उसमें सदा लड़ाई की स्थिति ही बनी रहेगी।

प्रत्येक शक्तिशाली व्यक्ति अपने आप को सही मानता है पर इसके कारण वह वास्तव में सही नहीं हो जाता। यदि शक्ति को ही सही मान लिया जाय तो शक्ति का दुरुपयोग करने से रोकने के लिये कोई प्रतिबन्ध ही न रह जाय। शक्तिवान् व्यक्ति में इस तरह दम्भ बढ़ जाता है और निर्बल में आत्महीनता की भावना आ जाती है। "शक्ति ही नीति है", इस सिद्धान्त का अनुसरण करके जर्मन राष्ट्र ने संसार के सभी राष्ट्रों को अपना शत्रु बना लिया और इस प्रकार उसने न केवल दूसरों की क्षति की, वरन् अपने आप का भी सर्वनाश कर डाला।

"शक्ति ही नीति"का सिद्धान्त वास्तव में नैतिकता के सभी सिद्धान्तों का विनाशक है। ऐसे ही शक्तिवान् व्यक्ति नैतिक नियमों की अवहेलना करते हैं, परन्तु जब वे किसी नैतिक नियम के प्रतिकूल जाते हैं तो उन्हें आत्मभर्त्सना होती है। किन्तु यदि वे नैतिक नियमों के प्रतिकूल चलकर अपने आपको ठीक मानने लगें तो वे संसार में अनैतिकता का बड़े वेग के साथ प्रचार कर डालेंगे। शक्ति को नीति माननेवाले लोग निर्बल लोगों के कष्ट को कष्ट ही नहीं मानते। उन्हें अपने क्रूर कर्मों के रोकनेवाला कोई भी नैतिक अस्त्र नहीं रहता। ऐसे लोग धर्म को भी व्यर्थ वस्तु मानते हैं। परन्तु स्वयं प्रकृति ऐसे लोगों की उन्नति नहीं करती। शक्ति को नीति माननेवाले लोग थोड़े समय के लिए प्रतिभा दिखाते हैं और फिर अपना चमत्कार दिखाकर अल्प काल में नष्ट हो जाते हैं।

—◆—

गोरस, सिंपोजियम, रिपब्लिक, जार्जियास और फेडरस नामक ग्रन्थों में पाये जाते हैं। इन सभी ग्रन्थों में प्रधान ग्रन्थ रिपब्लिक है।

भलाई का स्वरूप—प्लेटो महाशय ने उस समय के झूठे नैतिक विचारों को पूर्व पक्ष बनाकर अपने ग्रन्थों में खण्डन किया है। इस प्रकार रिपब्लिक में थ्रेसीमेकस से झूठे सिद्धान्त को कहलवाया और जार्जियास में कालीकलस से कहलवाया है। नैतिकता का झूठा सिद्धान्त वही है जिसको आज भी लौकिक सफलता प्राप्त करनेवाले संसार के अधिक लोग काम में लाते हैं। इस झूठे सिद्धान्त के अनुसार जो वस्तु मनुष्य को प्रसन्न करे वही भली है और ठीक वही है जिसे बलवान व्यक्ति दूसरों से मनवा सके। बलवान की इच्छा ही नैतिकता है। जो लोग बलवान होते हैं वे जन साधारण पर अपना शासन जमा लेते हैं। वे शासन प्राप्त करने के लिये सभी प्रकार के साधनों को काम में लाते हैं। जब वे एक बार अधिकार प्राप्त कर लेते हैं तो वे ऐसे राज्य नियम बना लेते हैं जिनसे उनकी सत्ता की रक्षा होती रहती है। प्रचार के द्वारा वे जनता को उनके बनाये नियमों को पालन करना कर्तव्य मानना सिखाते हैं। जो व्यक्ति उनके विरुद्ध अपनी आवाज उठाता है उसे दबा दिया जाता है। इस प्रकार सब जगह उन्हीं की तूती बोलती है। जिसके पास शक्ति है उसी की बात सही है; शक्ति ही नैतिक औचित्य है और दुर्बलता ही पाप है।

इस मत का खंडन करने के लिये प्लेटो को तत्व का निरूपण करना पड़ा। वास्तवमें भली वस्तु किसी व्यक्ति की राय के ऊपर निर्भर नहीं करती। मनुष्य की रायें बदलती रहती है क्योंकि मनुष्य को तत्व का ज्ञान नहीं रहता। भलाई और बुराई का स्वरूप निरूपण तत्व के स्वरूप निरूपण के बिना नहीं किया जा सकता। पर तत्व कैसे जाना जाय? तत्व इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। इन्द्रिय ज्ञान सदा भ्रामक होता है। एक ही बात विरोधी गुणों को भिन्न-भिन्न समय में अथवा एक ही समय में प्रदर्शित करती है। उदाहरणार्थ खुजली अच्छी भी लगती है और बुरी

भी; वही पानी कभी गरम और कभी ठंढा लगता है। वही वस्तु दूर से देखने पर छोटी और पास से देखने पर बड़ी दिखाई देती है, पर एक ही वस्तु दो भिन्न-भिन्न गुणधारी एक ही समय नहीं हो सकती, अतएव इन्द्रिय ज्ञान भ्रामक है और इन्द्रियों के द्वारा तत्व ज्ञान होना संभव नहीं। तत्व के जानने के लिये विचार अथवा विवेक की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक विवेकशील है, उसे उतना ही अधिक तत्व का ज्ञान होगा और वह सच्ची भलाई को उतना ही अधिक जानेगा। तत्त्वदर्शी को पदार्थों के दिखावे से भ्रम में न पड़ना चाहिये, उसे प्रत्येक वस्तु के तात्विक रूप को जानने की चेष्टा करनी चाहिये। बलवान की इच्छा ही नैतिकता है, यह तत्त्वज्ञान नहीं, यह अविचारवान व्यक्तियों की राय मात्र है जोकि इन्द्रिय ज्ञान के आधार पर बनी हुई है। जो व्यक्ति भलाई के तात्विक रूप को जानने की चेष्टा करता है वह ऐसी बात न करेगा।

भलाई की एकता—प्लेटो महाशय के विचारानुसार मनुष्य के सभी सद्गुणों का मूल स्रोत एक ही है। किसी मनुष्य के अनेक सद्गुण एक ही भलाई के विभिन्न रूप हैं। पवित्रता, न्याय शीलता, विवेक शीलता, आत्मसंयम और वीरता आदि सम्पूर्ण भलाई के विभिन्न हिस्से नहीं है, वरन् विभिन्न परिस्थितियों में एक ही भलाई के प्रकाशन हैं। इस भलाई के तत्व को जानना मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। संसार में जिस भलाई को हम मानते हैं वह उसकी छाया मात्र है। तात्विक रूप से भलाई को जानने के लिये मनुष्य को वाह्य इन्द्रियों से सहायता न लेकर अपने ही भीतर डूबना पड़ेगा।

सद्गुण का आधार—प्लेटो की रिपब्लिक नामक पुस्तक में थ्रेसीमेकस ने यह सिद्धान्त सुकरात के सामने रखा कि संसार में दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं, एक चतुर और दूसरे भले। भले मनुष्य भोले-भाले होते हैं और चतुर मनुष्य बड़े सयाने होते हैं। चतुर मनुष्य भले मनुष्यों को सदा अपना उल्लू बनाये रहते हैं। भले मनुष्य झूठ

नहीं बोलते, दूसरों को धोखा नहीं देते और दूसरों को कष्ट देने में सदा हिचकते हैं। इनके प्रतिकूल चतुर मनुष्य होते हैं; वे झूठ बोलते हैं, दूसरों को धोखा देते हैं और दूसरों को कष्ट भी देते हैं, परंतु उनकी झूठ, धोखा और हिंसा पकड़ में नहीं आतीं। वे संसार में अच्छे, भले और परोपकारी के रूप में अनेक प्रकार के प्रचार के द्वारा विख्यात् रहते हैं। इस प्रकार चतुर मनुष्य सदा सुखी रहते हैं और भले मनुष्य सदा दुखी रहते हैं। वे अपने भाग्य को ही कोसा करते हैं।

इस सिद्धान्त का खण्डन करने के लिये प्लेटो को मनुष्य के स्वभाव का निरूपण करना पड़ा। मनुष्य के सद्गुण उसकी विशेषता पर ही आधारित हो सकता है। किसी भी वस्तु का सद्गुण उसकी विशेष योग्यता के ऊपर निर्भर करता है। जो वस्तु जिस लिये बनाई गई है वह जब अपने धर्मका अच्छी तरह से पालन करती है तभी हम उसे अच्छी वस्तु कहते हैं। आँख का काम देखना, अतएव जहाँ तक आँख से भली प्रकार से देखा जा सकता है वहाँ तक हम उसे अच्छी कहते हैं। हँसुआ का काम पौधों को काटना है अतएव जहाँ तक वह काटने का काम भली प्रकार से करता है वहाँ तक ही वह भला कहा जा सकता है। यदि हँसुआ और दूसरे काम करे पर काटने के काम में न आवे तो हम उसे अच्छा हँसुआ न कहेंगे। इसी प्रकार मनुष्य की जीवात्मा जब वही काम करती है जिसके करने की उसमें विशेष योग्यता है तब वह सद्गुणी बनती है अर्थात् अच्छी कहलाती है। मनुष्य के सद्गुण की कसौटी उसकी बाहरी सफलता नहीं, वरन् उसकी आन्तरिक सफलता है। जहाँ तक मनुष्य अपनी आत्मा के गुणों को अधिक से अधिक प्रकाशित करता है, वहाँ तक वह जीवन में सफल है।

मनुष्य की आत्मा की तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं—इच्छा, उद्वेग और ज्ञान। ये तीन प्रकार के काम भी करती हैं। इनके उचित रूप से प्रकाशित होने में सद्गुण है और अनुचित रूप से प्रकाशित होने में

दुर्गुण। इच्छा के सदुपयोग से आत्म संयम[1], उद्वेग से वीरता[2], ज्ञान से विवेकशीलता[3] के सद्गुण उत्पन्न होते हैं। इन प्रधान सद्गुणों के अतिरिक्त न्यायप्रियता का सद्गुण[4] भी है। जब मनुष्य की सभी शक्तियाँ ठिकाने से काम करती हैं तो मनुष्य की आत्मा में न्याय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

मनुष्य का सच्चा सुख आत्मा के स्वभाव को अधिक से अधिक प्रकाशित करने में, है न कि सांसारिक भोग सामग्री अथवा शक्ति प्राप्त करने में। भोग सामग्रियों से प्राप्त सुख मनुष्य की इन्द्रियों को तृप्त करता है, पर उसकी आत्मा को तृप्त नहीं करता। इन्द्रिय सुख अस्थायी होता है, आत्मा स्थायी सुख की खोज करती है। स्थायी सुख आत्मा के बनाये नियमों पर चलने से ही प्राप्त होता है। यह सुख आत्मा की विशेष शक्तियों के प्रकाशन से आता है। सच्चा सुख विलासता में नहीं, आत्म नियन्त्रण में है। आत्म नियन्त्रण से आध्यात्मिक चिन्तन आता है और उससे तत्त्व दर्शन होता। यह तत्त्व क्या है?

पदार्थोंका तात्विक रूप—जिस भलाई अथवा सद्गुण को हम मनुष्य जीवन में देखते हैं वह तात्विक भलाई अथवा सद्गुण की छाया मात्र है। प्लेटो महाशय के अनुसार प्रत्येक वस्तु का एक सांसारिक रूप होता है और दूसरा तात्विक रूप। किसी भी वस्तु का तात्विक रूप अमर है, उसका सांसारिक रूप बदलता रहता है। सच्चे सौन्दर्य का संसार के पदार्थों में प्राप्त सौन्दर्य नकल, आभास अथवा छाया मात्र है, इसी तरह सांसारिक जीवन में प्राप्त भलाई, सद्गुण वास्तविक भलाई और सद्गुण के नकल, आभास तथा छाया मात्र हैं। हम तत्त्व को सीधे नहीं देख पाते। हम गुफा में जञ्जीरों से बँधे उन मनुष्यों के समान हैं, जो केवल बाहर की वस्तुओं की छाया मात्र देख सकते हैं। ये पदार्थ पीछे से आनेवाली रोशनी से प्रकाशित होते हैं। ये परछाइयाँ सच्चे पदार्थों के सदृश्य होती हैं, परन्तु जाग्रत पुरुष परछाई मात्र देखकर संतोष नहीं करेगा, वह वास्तविक पदार्थों को जानने की भी चेष्टा करेगा। संसार

1. Temperance 2. Courage 3. Wisdom. 4. Justice.

का मौलिक गुण, संसार में प्राप्त लौकिक सौन्दर्य, अथवा अन्य यान्त्रिक पदार्थ के संकेत मात्र हैं। इनको जानकर मनुष्य तात्त्विक पदार्थों को भी जानने की चेष्टा करता है। पर इनके जानने में उसकी इच्छायें और इन्द्रियाँ ही बाधक हो जाती हैं। जबतक मनुष्य बहिर्मुखी बना है तबतक उसे किसी भी वस्तु के तात्त्विक रूप का ज्ञान नहीं हो सकता। तात्त्विक ज्ञान के प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अपनी इन्द्रियों के प्रलोभनों से अपने आपको रोकना और तत्त्व का नित्य चिन्तन करना आवश्यक है। यह तत्त्व विज्ञान की वस्तु है, इन्द्रिय ज्ञान से यह दूर है। यह नित्य है।

यहाँ यह कहना आवश्यक है कि प्लेटो महाशय ने एक तात्त्विक पदार्थ नहीं, वरन् अनेक तात्त्विक पदार्थ माने हैं। सब तात्त्विक पदार्थों में एकता लानेवाला पदार्थ ईश्वर कहा गया है। इसी को अन्तिम भलाई भी माना है, अर्थात् यह शिवरूप है। इसे जानना ही परम पुरुषार्थ है। इसका जानना तब तक संभव नहीं, जब तक मनुष्य अपने पूरे जीवन में सद्गुणी नहीं बनता अर्थात् वह सभी सद्गुणों को अपने आचरण में प्रदर्शित नहीं करता।

सुव्यवस्थित समाज की आवश्यकता—मनुष्य के निश्रेय की प्राप्ति के लिये और सद्गुणों की वृद्धि के लिये न्यायप्रिय सुव्यवस्थित समाज की आवश्यकता होती है। सद्गुणी समाज में सद्गुणी व्यक्ति होते हैं और सद्गुणी व्यक्ति होने के लिये सद्गुणी समाज की आवश्यकता होती है। समाज व्यक्तियों का बना है अतएव जबतक समाज में आत्म-संयमी, वीर, विवेकी और न्यायप्रिय व्यक्ति न होंगे समाज सद्गुणों को कैसे प्रदर्शित कर सकता है! पर व्यक्ति समाज के विचारों से प्रभावित होता है। उसे शिक्षा-दीक्षा भी समाज ही देता है। इस दृष्टि से भले व्यक्ति का बनना तबतक संभव नहीं जबतक समाज भला न हो।

सुव्यवस्थित समाज में तत्त्वदर्शी पुरुषों का प्रधान स्थान होता है। उनके नियंत्रण में ही धन कमानेवाले व्यक्ति और समाज के सैनिक रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य के स्वभाव में इच्छा और उद्वेगों का वि

कृषक के नियंत्रण में रहना आवश्यक है, इसी प्रकार धनवानों और सैनिकों को, जो कि क्रमशः इच्छा और उद्वेग के भावों के प्रतीक हैं दार्शनिकों के नियंत्रण में रहना आवश्यक है। दार्शनिक पुरुष अपने जीवन में विवेक की प्रधानता को चरितार्थ करता है।

मनुष्यों में जन्मजात भेद होते हैं: किसी मनुष्य में एक तरह की अधिकता होती है और किसी में दूसरे की। किसी में धन कमाने की इच्छा प्रबल होती है, किसी में यश की, तो किसी में ज्ञान की। सुव्यवस्थित समाज वह है जिसमें पहले दो प्रकार के व्यक्ति तीसरे प्रकार के व्यक्ति के आधीन रहते हैं, अर्थात् उनकी सलाह मान कर चलते हैं। धन कमाने वालों में से व्यापारी और किसान होते हैं, यश कमाने वालों में सैनिक होते हैं और ज्ञान के इच्छुक समाज के निःस्वार्थ सेवक होते हैं। राज्य जब उसके निःस्वार्थ सेवकों के हाथ में रहता है तभी वह उन्नतशील रहता है और जनता सुखी रहती है, जब वह दूसरे लोगों के हाथ में आता है तो उसका एक और नैतिक पतन हो जाता है और दूसरी सारी जनता का दुःख बढ़ जाता है।

समाज का आदर्श पुरुष भौतिक सुख का इच्छुक नहीं रहता। यह क्षणभंगुर है। अतएव वह इसे त्याग कर स्थायी आनन्द को खोजने की चेष्टा करता है। यह आनन्द पदार्थों के तत्त्व को जानने से प्राप्त होता है; अतएव वह सदा तत्त्वज्ञान में ही रमण करता है।

आधुनिक आदर्शवाद[1]

आदर्शवाद का लक्ष्य—आदर्शवाद के अनुसार नैतिक आचरण का लक्ष्य जीवन के सर्वोच्च आदर्श की प्राप्ति है। यह आदर्श अपने बाहर किसी वस्तु की प्राप्ति में नहीं, वरन् अपने आप में ही है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन का ध्येय सम्पूर्ण आत्म-साक्षात्कार[2] करना है। यह आत्म-साक्षात्कार अपनी आध्यात्मिक शक्ति के सम्पूर्ण विकास में है।

1. Modern Idealirm 2. Complete self-reatization,

इसी प्रकार संसार की विभिन्न प्रकार भी वस्तुओं का ज्ञान बिना मनकी क्रिया के नहीं हो सकता। संसार जैसा हम जानते हैं वह हमारे मन के द्वारा ही बनाया गया है।

इस विचार धारा को विज्ञानवाद कहा जाता है। सत्य, विज्ञान अथवा मनुष्य के ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। विचार या ज्ञान ही सत्य है। संसार के अनेक प्रकार के भेद ज्ञान के ही द्वारा बनाये गये हैं। अतएव मनुष्य के आदर्श भी उसी के बनाये हुए हैं। मनुष्य का स्वभाव ही आदर्शमय है। मनुष्य का मन एक और अनेक प्रकार के ज्ञानमय संसार का निर्माण करता है और दूसरी ओर वही मन क्रियामय संसार की रचना करता है। जिस प्रकार अपने ज्ञानमें एकता प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के वैज्ञानिक नियमों का अविष्कार मनुष्य का मन करता है, इसी प्रकार अपनी क्रियाओं में एकता प्राप्त करने के लिये वह अनेक आदर्शों का निर्माण करता है और एक निःश्रेय[1] की कल्पना करता है। जिस प्रकार अपने ज्ञान के बाहर संसार में किसी प्रकार की नियमितता अथवा क्रम-बद्धता नहीं, इसी प्रकार मनुष्य की समझ के बाहर आचरण की भलाई और बुराई निरर्थक है।

विज्ञानवाद के अनुसार किसी प्रकार की वैज्ञानिक उन्नति किसी बाह्य पदार्थ के बारे में ज्ञान प्राप्त करनेपर उतनी निर्भर नहीं करती जितनी अपने ही विषय में ज्ञानवृद्ध पर निर्भर करती है। संपूर्ण पदार्थ विज्ञान की वृद्धि विचार विकास मात्र है। इसी तरह किसी प्रकार की आचरण की उन्नति अपने आप की उन्नति ही है। आन्तरिक सफलता ही बाहरी सफलता के रूप में दिखलाई देती है।

आदर्शवाद का मापदण्ड—आदर्शवाद के अनुसार नैतिकता का मापदण्ड मनुष्य का उच्चतम स्तर[2] होना चाहिये। इस विचारधारा में मनुष्य के अनेक स्तर माने गये हैं। ये स्तर एक के ऊपर एक हैं। ये सभी विभिन्न प्रकार की इच्छाओं के बने हुए हैं। हमारी कुछ इच्छायें

1. Summum Lonum 2. Ideal self

चाहिये। जब तक मनुष्य की निम्न कोटि की इच्छायें तृप्त नहीं हो जाती, उच्च कोटि की इच्छाओं का विकास नहीं होता। शरीरिक सुख की इच्छा का भी मानव जीवन में स्थान है। बाल्य काल में शारीरिक सुख की इच्छा का प्रबल होना स्वभाविक है। पर विकासोन्मुख जीवन शरीरिक सुख को ध्येय नहीं बना लेता। जीवन का लक्ष्य शारीरिक सुख का भोग न हो कर विवेक के अनुसार जीवन को चलाना होना चाहिये। विवेक के अनुसार चलने से मनुष्य स्वतः ही शारीरिक सुख को जीवन मे गौड स्थान देगा और सामाजिक भावना तथा आध्यात्मिक इच्छाओं की तृप्ति को प्रथम स्थान देगा।

कांट महाशय नैतिक जीवन में त्याग को प्रमुख स्थान देते थे। पर आदर्शवाद में त्याग को अपेक्षाकृत[1] भली वस्तु मानो है। त्याग का मूल्य लाभ पर विचार करके आंका जाना चाहिये। उन्नत जीवन में त्याग निम्न स्तर की वासनाओं का होता है, पर इनके साथ साथ उच्च कोटि की वासनायें दृढ़ भी होती हैं। त्याग मनुष्य के स्वभाव का अंग है, यह विकास का लक्षण है। यदि हम निम्न कोटि के भोगों का त्याग न करें तो उच्च कोटि के आनन्द की अनुभूति को भी प्राप्त न कर सकें। त्याग दर्शाता है कि मनुष्य का जीवन ऊँचे स्तर पर उठ गया है। इसी इसी लिये त्याग सराहनीय है। पर त्याग के लिये त्याग करना, अथवा तपस्या के लिये तपस्या करना निन्द्य है। नैतिक जीवन का ध्येय मनुष्य को वैयक्तिक सुख के स्तर से उठाकर सामाजिक सुख मे भाग लिवाना है। आदर्शवाद का ध्येय मनुष्य को अपने आदर्श स्वरूप को प्राप्त करने में सहायता देना है। यह आदर्श स्वरूप ऐसा है जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य प्राणि-मात्र से अपनी एकता की अनुभूति करने लगता है। यह आदर्श स्वरूप विवेकयुक्त है। अतएव इसमें वैयक्तिक इच्छाओं का दमन न होकर उनका विकास होता है। व्यक्ति अपने आपको खोता नहीं, वरन् अपने-आपको एक महान् सत्ता के अंग के रूप में अनुभव करता है।

1. Relative

नैतिकता का सर्वोच्च आदर्श किसी मनुष्य को ज्ञात नहीं। अतएव इस आदर्श को प्राप्त नहीं कर लेना उसे उसका ज्ञान होना संभव पर इस आदर्श की उपस्थिति के विषय में कोई संदेह भी नहीं किया सकता। इस आदर्श की वास्तविकता मनुष्य की आन्तरिक अनु ही बताती है। प्रत्येक मनुष्य अपने-आप में अपने जीवन को उत सफल बनाने की प्रेरणा पाता है। इस प्रकार की प्रेरणा ही यह कराती है कि ऐसा भी कोई पद है जिस पर पहुँचने पर मनुष्य अपने में पूर्णता की अनुभूति करता है। हमारी नैतिक कमी की अनुभूति अपने आपको सभी बनाने की इच्छा ही पूर्णता की वास्तविकता प्रमाणित करती है। यह पूर्णता बाहर से नहीं आयेगी। यह मनुष्य में वर्तमान है। परन्तु यह उसे ज्ञात नहीं।

नैतिक आदर्श के दो लक्षण[1]—नैतिक आदर्श के प्रमुख वि ग्रीन महाशय ने मनुष्य की नैतिक उन्नति के दो लक्षण माने हैं—स ग्रस्य[2] और व्यापकता[3]। जिस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य जित ही अधिक पारस्परिक विरोधी बातों को नहीं करता वह नैतिक सिद्धा उतना ही ऊँचा है। कोई दो सिद्धान्त देखने में आपस में विरोधी परन्तु यदि वे मन की विकास की दो अवस्थाओं को प्रकाशित करते तो वे पारस्परिक विरोधी नहीं माने जावेंगे। मनुष्य को ऐसा आचर करना चाहिए जिससे उसे अपनी ही बातों का अपने-आप विरोध करना पड़े। जबतक मनुष्य के आचरण में लक्ष्य की एकता रहती तबतक इस प्रकार का विरोध उत्पन्न नहीं होता। लक्ष्य की एकता सदा ध्यान में रखने पर विभिन्न प्रकार के आचरण में सामञ्जस्य ब रहता है।

नैतिक आचरण का दूसरा लक्षण व्यापकता है। जिस व्यक्ति आचरण का लक्ष्य जितना ही अधिक व्यापक है वह उतना ही श्रे

1. Characteristics 2. Coherence 3. Comprehensiveness

व्यक्ति है। व्यक्तिगत लाभ की इच्छा से किये गये काम की अपेक्षा परिवार के हेतु किये गये कार्य अधिक नैतिक हैं। इसी तरह परिवार के लाभ के लक्ष्य से जाति के लाभ का लक्ष्य अधिक श्रेष्ठ है और इससे भी श्रेष्ठ देश और मानव समाज के कल्याण का लक्ष्य उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। अतएव जो व्यक्ति अपने आचरण का लक्ष्य मानव-समाज की भलाई करना रखता है वह समाज का सर्वोत्तम व्यक्ति है।

मनुष्य के आदर्श स्वरूप में सभी प्राणियों के हित का समावेश होता है। जिस मनुष्य का नैतिक आदर्श जितना संकीर्ण रहता है, उसे अपने-आपका विरोध करने का उतना ही अधिक अवसर भी मिलता है। अतएव जिस व्यक्ति के आचरण में नैतिकता के एक लक्षण की कमी पाई जाती है उसके आचरण में दूसरे लक्षण की भी कमी पाई जाती है। जो आचरण जितना व्यापक होता है उसमें अव्यापक आचरण की अपेक्षा उतना ही अधिक लक्ष्य से सामञ्जस्य पाया जाता है। संसार भर के कल्याण के हेतु जो लोग काम करते हैं उन्हें अपने आप का विरोध करने का भी कम अवसर मिलता है।

पूर्णता की कल्पना—आदर्शवादी चिन्तकों के अनुसार मनुष्य की पूर्णता सुख[5] की वृद्धि में नहीं है, वरन् सद्गुणों[6] की वृद्धि में है। आदर्शवादी अपने और दूसरों के सुख की वृद्धि की चेष्टा नहीं करते, वरन् अपने को और दूसरों को सद्गुणी बनाने की चेष्टा करते हैं। उपयोगिता वादियों[7] का मत है कि नैतिक आचरण वह है जिससे अधिक से अधिक लोगों का अधिकसे अधिक सुख हो। आदर्शवादी वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही प्रकार के सुखवाद का विरोध करते हैं। मनुष्य के आचरण का ध्येय सुख न होकर सद्गुण होना चाहिये। दूसरों का सच्चा कल्याण हम उनके सुख की वृद्धि करके नहीं, वरन् उनमें सद्गुणों की वृद्धि करके करते हैं। सुख की लिप्सा को बढ़ाना न केवल व्यक्तिगत कल्याण की दृष्टि से बुरा है, वरन् सामाजिक कल्याण की दृष्टि से भी बुरा है। सद्-

5. Pleasures 6. Virtues 7. Utilitarians

गुण विवेकयुक्त आचरण से बढ़ता है अतएव मनुष्य में जितनी ही अधिक विवेक की वृद्धि होती है वह उतना ही अधिक अपने आचरण को नैतिक बनाता है।

आदर्शवाद में व्यक्ति और समाज—हीगेल महाशय के कथनानुसार व्यक्ति को समाज के लिए समर्पण कर देने से ही नैतिक आदर्श की प्राप्ति होती है। नैतिकता का आदर्श व्यापक आदर्श है। अतएव मनुष्य जितना ही अपने आपको समाज की इच्छा के ऊपर छोड़ देता है वह उतनी ही सर्वोच्च आदर्श की ओर जाता है। जहाँ कहीं व्यक्ति और राष्ट्र की इच्छाओं में विरोध हो वहां व्यक्ति को राष्ट्र की इच्छा की पूर्ति में लग जाना चाहिये। मनुष्य इस प्रकार अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को खोकर दूसरी व्यापक स्वतनत्रता भी अनुभूति करता है।

ग्रीन महाशय उक्त सिद्धान्त के विरोधी हैं। हीगेल के सिद्धान्त से देश के निरंकुश शासकों को लोगों की स्वतन्त्रता छीनने के लिए नैतिक आधार मिल जाता है। इससे उनकी निरंकुशता और भी बढ़ जाती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता की दृष्टि से और मानव समाज की नैतिक विकास की दृष्टि से यह आवश्यक है कि समाज मनुष्य को अपनी शक्तियों का साक्षात्कार करने के लिए अधिक से अधिक अवसर दे; राज्य किसी भी व्यक्ति के आचरण में तबतक हस्तक्षेप न करे जबतक उस व्यक्ति का आचरण दूसरे व्यक्तियों के लिए हानिकर न हो। ग्रीन का कथन है कि समाज के अस्तित्व का नैतिक आधार ही प्रत्येक व्यक्ति को पूर्णता प्राप्त करने को स्वतन्त्रता देना है। नैतिक पूर्णता व्यक्तिगत वस्तु है, सामाजिक नहीं। कोई व्यक्ति ही नैतिकता के उस आदर्श को चरितार्थ करता है जिसकी कल्पना आदर्शवादी करते हैं। नैतिक आदर्श वैयक्तिक आदर्श है। अतएव जबतक इस आदर्श से वैयक्तिक पूर्णता की प्राप्ति में सहायता नहीं मिलती वह व्यर्थ है। समाज स्वयं कोई व्यक्ति नहीं है और व्यक्तियों की पूर्णता के अतिरिक्त समाज की पूर्णता का भाव अर्थहीन है।

समाज के नैतिक विचारों में उन्नति भी समाज के श्रेष्ठ लोगोंके प्रयत्न से होती है। पहले-पहल समाज इन लोगों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है अथवा उनका दमन करता है; पीछे वह उनका अनुकरण करता है। अतएव यदि कोई व्यक्ति समाजको प्रसन्न रखना ही अपने जीवनका लक्ष्य बना ले तो वह न तो अपने आपका कोई नैतिक विकास कर सकेगा और न समाज की उन्नति में किसी प्रकार की सहायता पहुंचा सकेगा। राजनैतिक दृष्टि से यह भले ही उचित हो कि व्यक्तिको अपने आप को समाज के अनुकूल बनाना चाहिये और उसकी प्रमुख सत्ता[1] का कहना मानना चाहिये। परन्तु नैतिक दृष्टि से उसे अपनी अन्तरात्मा[2] से बढ़कर किसी भी दूसरी सत्ता को न मानना चाहिये। उसका प्रथम कर्तव्य है अन्तरात्मा की आवाज को मानना। जो बात अन्तरात्मा कहती है और जो विवेकयुक्त[3] है वह अन्त में न केवल अपना ही लाभ करती है वरन् मनुष्य मात्र का लाभ करती है।

आदर्शवाद में अनिवार्य आज्ञा[4] का स्थान—आदर्शवाद अनिवार्य आज्ञा के सिद्धान्त में विश्वास करता है। परन्तु यह सिद्धान्त कांटके अनिवार्य आज्ञा के सिद्धान्त से कुछ भिन्न है। कांटके कथनानुसार नैतिकता का नियम ही अन्तरात्मा की प्रेरणा के रूप में आता है। यही प्रेरणा अनिवार्य-आज्ञा बन जाती है। आदर्शवाद के कथनानुसार अन्तरात्मा किसी विशेष नियम के अनुसार चलने को हमारे भीतर प्रेरणा उत्पन्न नहीं करती, वरन् वह प्रत्येक मनुष्य में अपने आदर्श स्वरूप प्राप्त करने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। यही प्रेरणा अन्तरात्मा की अनिवार्य आज्ञा है। प्रत्येक मनुष्य अपने आप को सदा पहले से उत्तम बनाने की अपने आप में प्रेरणा का अनुभव करता है। इस प्रेरणा को मानना ही उसका मुख्य कर्तव्य है। इस प्रेरणाके अनुसार चलने में वह जितनी कठिनाइयोंका सामना करता है वह उनका प्रसन्नता पूर्वक उनका स्वागत करता है।

1. Authority 2. Conscience 3. Rational 4. Categorical Imperative

चौदहवाँ प्रकरण

समत्ववाद[1]

यूरपी समत्ववाद के प्रवर्तक—यूरोप में समतावाद के प्रवर्तक अरस्तू महाशय थे। समतावाद को मध्यम मार्ग भी कहा जाता है। समत्ववाद का सिद्धान्त अनेक प्रकार के नैतिक सिद्धान्तों की परीक्षा करने के बाद मनुष्य ग्रहण करता है। मनुष्य की साधारण प्रवृत्ति एकान्तता अथवा अत्यन्तता की ओर जाने की होती है। जब मनुष्य भोग विलास में लग जाता है तो उसको ही वह अपने जीवन का सर्वस्व मान लेता है। जिस जीवन में उसे इन्द्रियसुख प्राप्त नहीं होते उसे वह व्यर्थ जीवन मानता है। जब इस प्रकार के जीवन में वह अतिक्रम कर लेता है तो फिर उसके मन में इन्द्रिय सुख के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती है। जिस व्यक्ति के मन में इन्द्रियसुख के प्रति घृणा आ जाती है। वह इन्द्रियसुख के त्यागने में ही जीवन की मौलिकता देखने लगता है। फिर उसके मन में त्याग की धुन सवार हो जाती है। वह जितना ही अधिक सांसारिक सुख का त्याग कर सकता है और अपने शरीर को जितना ही अधिक कष्ट दे सकता है वह उतना सन्तोष पाता है। फिर शारीरिक तप के जीवन को ही सर्वोच्च जीवन माना जाता है।

जिस समय यूनान में अरस्तू महाशय का जन्म हुआ उस समय यूनान अपने वैभव की चरम सीमा पर पहुँच चुका था। यूनान से बढ़-कर संस्कृति यूरोपके किसी देशमें न थी। एक ओर यूनान में धन सम्पत्ति वैभव की वृद्धि थी और दूसरी ओर वहाँ पर त्यागी तपस्वी महात्माओं का भी जन्म हुआ था। अरस्तू के पूर्व महात्मा सुकरात प्लेटो, एँटिस्थ-नीज़ और डाइज़नीज़ अपने विचारों का प्रचार कर चुके थे। इस समय

1 Standard as Golden Mean.

यूनान में दो प्रकार की विचारधारायें प्रचलित थी एक विचारधारा के अनुसार विषय सुख को वृद्धि को प्रोत्साहन दिया जाता था और दूसरे विचार के अनुसार त्याग के जीवन को। विषय भोगी लोग त्याग और तपस्या के जीवन को कुत्ते का जीवन कहते थे। वे महात्मा सुकरात और डाइजनीज जैसे महात्माओं की अनेक प्रकार से खिल्लियां उड़ाया करते थे। इसके विरुद्ध तपस्वी लोग अपने ही जीवनको सर्वोत्तम जीवन मानते थे और विषय भोग में लगे हुए जीवन को सुअर का जीवन मानते थे। दोनों ओर अतिक्रम की प्रवृत्ति पायी जाती थी। इसी समय अरस्तू का उदय हुआ।

अरस्तू महाशय ने उक्त दो विरोधी विचारधाराओं में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की। उनकी शिक्षा का मुख्य सिद्धान्त यह था कि न तो इन्द्रियसुख में सब समय रमण करते रहना भला है और न उनका सम्पूर्ण त्याग कर देना। दोनों से ही मनुष्य सुखी न होकर दुखी ही होता है और वह मानवता के लक्ष्य को प्राप्त न कर उससे गिरता है।

अरस्तू महाशय के अनुगामी अनेक विद्वान हुए। जब योरोप में ईसाई धर्म का प्रचार हुआ तो इस समतावाद के सिद्धान्त को योरोप के लोग भूल गये। हजरत ईसा की मुख्य शिक्षा यह थी कि मनुष्य को शारीरिक सुखों का त्याग करना चाहिए जो व्यक्ति जितना ही अधिक शारीरिक सुखों का त्याग कर सकता है वह उतना ही महान है। स्वयं उन्होंने अपना शरीर क्रास (शूली पर) के ऊपर चढ़ कर छोड़ा और उनका अपने शिष्यों को आदेश था कि वे शूली पर चढ़ने के लिये सदा तैयार रहें। अतएव मध्यकाल में जब कि योरोप में ईसाई धर्म का जोरों से प्रचार था लोगों ने अपने जीवन का आदर्श शारीरिक क्लेश बना लिया था। जो व्यक्ति अपने शरीर को जितना ही अधिक क्लेश देता था वह उतना ही बड़ा संत समझा जाता था।

उक्त तपस्यावाद की प्रवृत्ति का अन्त आधुनिक युग के आने के साथ साथ हुआ। वैज्ञानिक आविष्कारों की वृद्धि और नये देशों की

खोज के साथ साथ मनुष्यों में भोगेच्छायें प्रबल हो गईं और अब वे सांसारिक भोगों को भोगना ही सर्वोत्तम वस्तु मानने लगे। जब भोग के विचारों का संघर्ष तप के विचारों के साथ हुआ तो फिर से समतावाद के विचारों का प्रचार होने लगा। वर्तमान समय में समतावाद के विचारों का प्रचार उतना दार्शनिक लोग नहीं कर रहे हैं जितना कि साहित्यिक लोग करते हैं। वर्तमानकाल के समतावाद के प्रचारकों में मरिग, जार्ज इलियट, फाइट और प्रोफेसर ह्वाइटहेड महाशय हैं।

समत्ववाद की विशेषतायें—समत्ववाद को आधुनिक नीतिशास्त्र के विद्वान मानवतावाद[1] भी कहते हैं। मानवतावाद में मनुष्य के स्वभाव के सभी अंगों पर ध्यान रखा जाता है। मानवतावाद के कथनानुसार दूसरे नोतिशास्त्र के मतों में मनुष्य के स्वभाव के किसी विशेष अंग को महत्ता देदी जाती है और दूसरे अंगकी अवहेलना की जाती है। सुखवाद मनुष्य के रागद्वेषात्मक अंग को अधिक महत्व देता है और विवेकवाद उसके चिन्तन करने के अंग को अधिक महत्व देता है। सुखवाद में मनुष्य के विवेकात्मक अंग की अवहेलना होती है और विवेकवाद में उसके रागद्वेषात्मक पहलू की अवहेलना होती है। मानवतावाद दोनों अंगों को अपने नैतिक आदर्श में उचित स्थान देता है।

मानवतावाद सब प्रकार की धार्मिक मान्यताओं से मुक्त है। अन्तःअनुभूतिवाद[2] में इस प्रकार की मान्यताओं की बहुलायत पाई जाती है। मानवतावादमें ईश्वर की आज्ञा अथवा अन्तरात्मा की आवाज आदि बातों को स्थान नहीं है। यह शुद्ध विचार के ऊपर आधारित है।

नैतिक आचरण का लक्ष्य—अरस्तू महाशय के कथनानुसार नैतिक आचरण का लक्ष्य मनुष्य के सामान्य अनुभव के बाहर नहीं है। प्लेटो का कथन था कि जिस शिव भाव को मनुष्य को प्राप्त करना है वह उसके सांसारिक अनुभव में नहीं पाया जाता। मनुष्य अपने सामान्य अनुभव में जिनकल्याण को देखता है वह वास्तविक कल्याण की नकल

1. Humanism. 2. Intuition-ism.

अथवा छायामात्र है। अरस्तू महाशय अपने गुरु प्लेटो के समान आदर्शवादी नहीं थे; वे वास्तविकतावादी थे। उनका कथन है कि मनुष्य को अपने नैतिक आचरण का लक्ष्य किसी ऐसी वस्तु की प्राप्ति बनाना चाहिये जो उसकी पहुँच के भीतर हो। अपने स्वभाव की पूर्णता प्राप्त करना ही नैतिक आचरण का लक्ष्य हो सकता है।

अब प्रश्न आता है कि मनुष्य अपने स्वभाव की पूर्णता कैसे प्राप्त कर सकता है। इसके लिये मनुष्य के विशेष गुण को देखना होगा। मनुष्य का विशेष गुण मनुष्य की व्याख्या से ही जाना जा सकता है। मनुष्य को अरस्तू महाशय ने "विचारवान प्राणी" कहा है। जब तक मनुष्य में विचार नहीं उसे मनुष्य नहीं कहा जा सकता; वह केवल जानवर ही रहेगा। मनुष्य की पूर्णता उसके ऐसे गुण की वृद्धि में नहीं देखी जायगी जो दूसरे प्राणियों से भिन्न है। अतएव विचार की वृद्धि में ही मनुष्य को पूर्णता होती है।

विचार के दो अंग हैं—एक ओर विचार मनुष्य के सच्चे ज्ञान की वृद्धि करता है और दूसरी ओर वह मनुष्य की रागात्मक वृत्तियों पर नियन्त्रण करता है, अर्थात् वह मनुष्य के पाशविक स्वभाव के ऊपर नियंत्रण करता है। सदासद् का निर्णय करने वाला विचार विवेक कहलाता है।

आदर्श जीवन उस व्यक्ति का है जो सदा ज्ञान विज्ञान में आप को लगाये रखता है। नित्यप्रति ज्ञान विज्ञान में लगाये रखने वाले व्यक्ति को सदा चिन्तन करना आदत का रूप धारण कर लेता है। फिर ज्ञान-विज्ञान स्वयं आनन्दायक हो जाते हैं। अपने आप पर नियंत्रण रखना आदर्श जीवन के लिये आवश्यक है। परन्तु आदर्श जीवन में सुख का सर्वथा त्याग नहीं है। शारीरिक क्लेश का जीवन आत्म-विजय की स्थिति को नहीं दर्शाता। आत्म-विजय की स्थिति सहज स्थिति है। इस स्थिति में जो त्याग मनुष्य करता है और जो कष्ट वह सहता है वे सहज भाव से होते हैं। इनसे मनुष्य को प्रसन्नता आती है।

मध्यम मार्ग का सिद्धान्त—अरस्तू महाशय की नैतिक शिक्षा का सबसे महत्व का अंग मध्यम मार्ग का अनुसरण है। मनुष्यमें अपने स्वभाव की खूबियों, सद्गुणों अथवा शक्ति की उत्पत्ति तभी होती है जब वह मध्यम मार्ग का पालन करते हुए किसी प्रकार का आचरण करता है। किसी भी प्रकार का नैतिक सद्गुण किसी प्रकार की कमी अथवा अतिक्रम से नष्ट हो जाता है।

जब कोई मनुष्य अपने जीवन में अधिक त्याग को दर्शाता है, तो वह उस त्याग से परेशान हो जाता है। जो व्यक्ति अपने सामर्थ्य से अधिक दान देने की चेष्टा करता है, वह दान से भी ऊब जाता है। जो व्यक्ति किसी काम को करने के लिये इतना परिश्रम करता है कि वह उससे अत्यन्त थकित हो जाता है, तो वह अपने कार्य को भार रूप में देखने लगता है। ऐसी मानसिक अवस्था में त्याग, दान अथवा उद्योग शीलता के प्रति द्वेष भावना उत्पन्न हो जाती है। इस द्वेष भावना के कारण मनुष्य के मनमें स्वभावतः त्याग, दान अथवा उद्योग शीलता नहीं आती वरन् वह उनके विरुद्ध हो जाता है। मनुष्य को फिर प्रयत्न पूर्वक इन भले कामों को करना पड़ता है। किसी मनुष्य में किसी प्रकार के सद्गुण की जड़ तब तक नहीं जम सकती जब तक कि वह उस सद्गुण सम्बन्धी आचरण को प्रसन्नता से नहीं करता। जिस त्याग, दान अथवा उद्योग में आनन्द की अनुभूति नहीं होती, वे त्याग दान और उद्योग मनुष्य के स्वभाव के अंग नहीं बनते; अर्थात् उनके अनुसार आचरण मनुष्य सहज रूप से नहीं करता और वे आदत का रूप धारण नहीं करते।

इस प्रकार देखा जाता है कि किसी प्रकार के भले आचरण में अतिक्रम करने से वह मनुष्य में सद्गुण की उत्पत्ति नहीं करता। किसी के प्रकार सद्गुण की उत्पत्ति अभ्यास का परिणाम है। सद्गुण मनुष्य के उस अभ्यास का नाम है, जो विवेक युक्त है और जिसके अनुसार काम करते समय मनुष्य को आनन्द की अनुभूति होती है। सद्गुण के प्राप्त करने में मनुष्य को पहले-पहल अपनी इच्छा-शक्ति से काम लेना

पड़ता है, अर्थात् पहले-पहल भला आचरण प्रयत्न पूर्वक किया जाता है, फिर बार-बार भला आचरण करने से उस आचरण के संस्कार मनुष्य के मन में दृढ़ हो जाते हैं। इस प्रकार एक नये स्वभाव की सृष्टि हो जाती है। जब किसी मनुष्य का आचरण अभ्यास (आदत) का रूप धारण कर लेता है, तब वह आनन्द दायक बन जाता है। फिर भले आचरण को करना सरल हो जाता है। इस प्रकार की आनन्ददायिनी भली आदत को ही सद्गुण कहते हैं। साधारणतः मनुष्य अपनी मूल-प्रवृत्तियों के अनुसार आचरण करने में आनन्द की अनुभूति करता है, परन्तु जब बार बार विवेक युक्त अर्थात् भले आचरण को करने के कारण उसमें भली आदतें बन जाती हैं, तो वह विवेक युक्त आचरण करने में ही आनन्द की अनुभूति करने लगता है। फिर ऐसे व्यक्ति के लिये विवेक युक्त आचरण करना उतना ही सुखदायी और सरल होता है, जितना कि साधारण मनुष्य के लिये नैसर्गिक (प्राकृतिक) आचरण। ऐसा व्यक्ति ही सद्गुणी व्यक्ति कहलाता है। इस सद्गुण की अवस्था को प्राप्त करने के लिये धीरे धीरे अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त की जाती है। किसी प्रकार का उतावलेपन से अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त नहीं होती, वरन् अतिक्रम के परिणाम स्वरूप मनुष्य के मन में ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो जाती है कि उसके सद्गुण थोड़े ही काल में दुर्गुण के रूप में परिणत हो जाते हैं। अपने अतिक्रम का एक परिणाम यह होता है कि मनुष्य में सद्गुणों को दूसरों के समक्ष प्रदर्शित करने का भाव बढ़ जाता है। वह लोक प्रशंसा का लोलुप बन जाता है। ऐसी मानसिक अवस्था में वह किसी प्रकार के सद्गुण को तभी तक धारण किये रहता है, जब तक कि संसार के लोग उसकी उन सद्गुणों के लिये प्रशंसा करते रहते हैं। जब वह इस प्रशंसा में कमी देखता है तो वह अपने सदाचार से निराश हो जाता है। ऐसे मनुष्य को फिर अपने भले काम के लिये अनेक प्रकार की आत्म-भर्त्सना होने लगती है। यह आत्म-भर्त्सना उसे नैतिकता में उतना ही नीचे

गिरादेती है, जितना कि वह पहले नैतिकता में चढ़ा बढ़ा दिखाई देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी प्रकार का अतिक्रम मनुष्य की ठोस नैतिकता अथवा स्थायी सद्गुण का जनक नहीं है। इससे मनुष्य के अभिमान की वृद्धि होती है और उसका स्वभाव चंचल बनता है। उसका मन सदा डँवाडोल अवस्था में रहता है और उसमें इच्छा-शक्ति की दृढ़ता नहीं आती।

समतावाद और आदर्शवाद:—समतावाद और आदर्शवाद में यदि ऊपरी दृष्टि से देखा जाय तो बहुत विरोध दिखलाई देता है। आदर्शवाद मनुष्य को अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करने के लिये अधिक से अधिक प्रेरणा देता है और समता वाद अपने स्वभाव पर विजय प्राप्त करने के लिये उतनी ही प्रेरणा देता है जितना कि मनुष्य सहज रूप से प्राप्त कर सकता है। सभी प्रकार का आदर्शवाद तप के जीवन को महत्त्व देता है। समतावाद तप के जीवन को उतना ही श्लाघ्य समझता है जितना कि भोग के जीवन को। आदर्शवाद में आनन्द को उतना महत्त्व का स्थान नहीं दिया गया है, जितना कि समतावाद में दिया गया है। काण्ट के अध्यात्मवाद में, जो कि एक प्रकार का आदर्शवाद है, सांसारिक सुख को मानव जीवन की पूर्णता में कोई स्थान नहीं दिया गया है। जो व्यक्ति अपने आचरण में जितना ही अधिक सुख की माँगों की अवहेलना दिखलाता है और कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिये करता है, वह उतना ही महान कहलाता है। समतावाद इस विचार का समर्थक नहीं है। वह मनुष्य के जीवन की पूर्णता को प्राप्ति के लिये सुख की अनुभूति को भी आवश्यक समझता है।

परन्तु समतावाद की उक्त धारणा का यह अर्थ लगाना अनुचित होगा कि समतावाद आदर्शवाद का विरोधी है और समतावाद में आत्म-

संयम और तप को स्थान नहीं है। समता वाद वास्तव में मनुष्य के स्वभाव के क्रमिक विकास का प्रतिपादन करता है। समतावाद इस सत्य में विश्वास करता है कि विवेक द्वारा अपने पाशविक स्वभाव पर विजय प्राप्त करने से सद्गुण उत्पन्न होता है। जो मनुष्य जितना ही अधिक विवेकी है और जो जितना ही स्थायी रूप से अपने आप पर विजय प्राप्त कर लेता है वह उतना ही सद्गुणी है। समतावाद एक व्यवहारिक और प्रगतिशील नैतिक सिद्धान्तको मनुष्य के समक्ष रखता है। जो जितना ही अधिक स्थायी रूप से किसी सद्गुण को प्राप्त कर लेता है, वह उतना ही भला व्यक्ति है।

प्रगतिशील समत्वः—उपरस्तू महाशय ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति को मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिये और अपने आचरण में किसी प्रकार का अतिक्रम न होने देना चाहिये। परन्तु यह मध्यम मार्ग सभी लोगों के लिये एक नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव और योग्यता के अनुसार अपने मध्यम मार्ग को खोजना पड़ेगा। जो मध्यम मार्ग एक गृहस्थ के लिये ठीक है वही एक साधु के लिये ठीक नहीं है। हम जितने त्याग की आशा एक सन्यासी से करते हैं उतनी एक गृहस्थ्य से नहीं करते। उसी प्रकार जितने साहस एवं वीरता की आशा हम एक योद्धा से करते है उतने साहस की आशा एक दूकानदार से नहीं करते। जितने साहस को हम एक योद्धा में सद्गुण कहेंगे उतने साहस को एक दूकानदार में धृष्टता कहा जायेगा। इसी प्रकार जितना आत्म-संयम किसी पुरोहित अथवा शिक्षक के लिये आवश्यक समझा जाता है उतना आत्म संयम किसी कलाकार और अभिनेता के लिये आवश्यक नहीं समझा जाता। अरस्तू महाशय का कथन है कि अन्दर ठीक मात्रा में साहस, इच्छा, दया, धैर्य्य एवं सुख दुःख आदि की अनुभूति करना मध्यम मार्ग का अनुसरण है। इनकी अनुभूति में न बहुत आधिक्य होना चाहिये और न बहुत कमी; और यह ठीक समय पर होना चाहिये। इन भावों का ठीक समय एवं ठीक परिस्थिति में, ठीक

मनुष्यों के प्रति, ठीक उद्देश्य से और ठीक तरह से प्रकाश
यही मध्यम मार्ग है और यही सद्गुण के लक्षण हैं।*

मध्यम मार्ग की परख:—ऊपर मध्यम मार्ग के विष
कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि मध्यम मार्ग का
सामान्य व्यक्ति के लिये इतना सरल काम नहीं है जितना कि
से दिखाई देता है। पुरोहितका, किसान का, व्यापारी का और
का मध्यम मार्ग भिन्न भिन्न होने के कारण किस व्यक्ति
मार्ग क्या है, इसे जानना बड़ा कठिन है। मध्यम मार्ग म
केवल कर्तव्य-एवं स्वभाव के अनुसार बदल जाता है, वरन् दे
और परिस्थिति के अनुसार भी बदलता है। इससे उसका खो
लना और भी कठिन होता है। ऐसी अवस्था में मध्यम मार्ग
कैसे किया जाये?

इस प्रश्न के उत्तर में अरस्तू महाशय का कथन है कि
मध्यम मार्ग को खोजने के लिये समाज के विवेक शील लोगों
रण को देखना चाहिये और उनके परामर्श के अनुसार अपना
बनाना चाहिये। अब प्रश्न यह है कि हम समाज के किस व्य

---

*"The golden mean of moral action is not to be thought of
way of between two extreme. *Its position in relation to the*
will vary according to circumstances. More courage is requ
a soldier than of a shop keeper, the courage of the soldier w
more resemblance than of the shopkeeper. Similarly, the temp
of apriest or teacher ought be some what closer to *in sen*
while that of an artist or actor might permissively lean a *littl*
to the side of licentiousness."

Wheelwrig at Acritical Introduction to Eotrics

One can *feel fear*, courage, desire, anger and pity as well
sure and pain generally, either too much or *too little*, and in
case wrongly, but to have these feelings at the right time and
right occasion and towards the right persons and with a right
view and in a *right manner*—this is middle way and the best
this *is the mark of virtue. Nichomachean Ethics Book 2nd Ch.*

विवेकी समझे और किसे न समझें ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति अपने आचरण में किसी प्रकार की एकान्तता को नहीं दर्शाता वही विवेकी है। परन्तु यह उत्तर संतोषप्रद नहीं है; अतएव नैतिकता के निर्णय के लिये हमें पुनः आदर्श वाद की शरण लेनी पड़ती है।

समतावाद की देनः—हमने ऊपर समतावाद के सिद्धान्त की मुख्य बातों को बतलाया है और आदर्शवाद से इसकी तुलना भी की है। समतावाद मनुष्य को आदर्श की ओर ले जाता है, अतएव आदर्शवाद के अभाव में समतावाद अर्थहीन हो जाता है। मनुष्य का जीवन तभी सार्थक होता है जब वह केवल जीवन के सुख के उपभोग के लिये नहीं जीता, वरन् आन्तरिक पूर्णता की प्राप्ति के लिये, अर्थात् किसी प्रकार के आदर्श की प्राप्ति के लिये जीता है। किसी प्रकार के आदर्श की प्राप्ति की चेष्टा में कष्ट को उठाना, इन्द्रिय निग्रह करना नितान्त आवश्यक होता है। एतएव किसी प्रकार के नैतिक विचार सांसारिक सुख के जीवन को नैतिक जीवन सिद्ध नहीं कर सकता। इस लिये समतावाद को भी आदर्शवाद की ओर जाना पड़ता है।

परन्तु समतावाद मनुष्य के आदर्श प्राप्ति के सुगम मार्ग को बतलाता है। यदि हम समतावाद को व्यवहारिक आदर्शवाद कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। जिन महात्माओं ने मध्यममार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहा है और भोग तथा तप दोनों प्रकार के अतिक्रम को बुरा बताया है उन्होंने यह कदापि नहीं कहा है कि यदि किसी मनुष्य को सांसारिक भोगों के त्याग में ही आनन्द मिलता है और वह किसी प्रकार के कष्ट की अनुभूति नहीं करता है, तो उसे भोग के जीवन को स्वीकार करना ही चाहिये। त्याग का जीवन मनुष्य के आदर्श सत्व को भोग के की अपेक्षा अधिक प्रदर्शित करता है। भगवान बुद्ध ने मध्यम मार्ग को नैतिक जीवन की कसौटी बनाया है और उसे सर्वोत्तम मार्ग बताया है। उनके इस कथन का इतना ही अर्थ है कि कोई भी मनुष्य

अपने मन की आन्तरिक अवस्था में अपने सांसारिक जीवन और उसके भोगों का त्याग न करें। अपनी अवस्था के अनुसार ही वह किसी प्रकार के तप और त्याग का अभ्यास करें जिससे कि उसे इस प्रकार के जीवन से विरक्ति उत्पन्न न हो। परन्तु जो लोग सांसारिक जीवन को समस्त भूलकर छोड़ कर भिक्षु बन गये हैं उन्हें भगवान बुद्ध ने पुनः गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने का परामर्श नहीं दिया। उन्हें भिक्षु जीवन के कठोर नियमों के पालन के लिये प्रोत्साहित किया।

स्वयं भगवान बुद्ध ने सत्य के खोज के लिये महान् त्याग और तपस्या किया था। जब कई वर्षों के महान् परिश्रम के फलस्वरूप उन्होंने इस मार्ग को खोज लिया और इसे मध्यम मार्ग कहा तो उन्होंने इन्द्रियों का अत्यधिक दमन करना छोड़ दिया, किन्तु युवा अवस्था होते हुए भी पुनः गृहस्थ जीवन को स्वीकार नहीं किया। वे भिक्षु ही बने रहे। इससे यह स्पष्ट है कि मध्यम मार्ग केवल असामयिक तप और त्याग को उपादेय नहीं मानता है, परन्तु यह भोग के जीवन का समर्थक नहीं है। मध्यम मार्ग हमें विशेष आदर्श की ओर ले जाता है। अतएव हम इसे आदर्शवाद का एक विशेष प्रकार का संस्करण कह सकते हैं। मध्यम मार्ग वास्तव में व्यावहारिक आदर्शवाद है।

पन्द्रहवां प्रकरण

मूल्यवाद

मूल्य के माप दंड की विशेषताः मूल्य का माप दंड[1] उस आचरण कोभला आचरण मानता है जो किसी मूल्यवानपदार्थ की प्राप्ति की ओर हमें ले जाता है। यह विचार बहुत पुराना विचार है। भारतीय दर्शनिकों के अनुसार निःश्रेय की प्राप्ति ही नैतिक आचरण का अन्तिम लक्ष्य है। निःश्रेय वह वस्तु है जिससे अधिक मूल्यवान वस्तु कोई नहीं है। यह निःश्रेय वस्तु क्या है ? इसके विषय में भिन्न भिन्न लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं परन्तु जो भी व्यक्ति मूल्य को प्राप्ति की नैतिकता का मापदंड मानता है, वह इतना तो अवश्य मानता है कि मूल्य कोई काल्पनिक वस्तु नहीं है। यह एक वास्तविक जगत में रहनेवाला तत्त्व है। और इस तत्त्व को प्राप्त करना मनुष्य के पुरुषार्थ का सर्वोत्तम लक्ष्य है। इस माप दंड के मानने वाले लोग किसी कार्य को न अपने आप में भला न बुरा समझते हैं। इसी प्रकार किसी विशेष नियम का पालन करना न बुरा न भला समझा जाता है। किसी कार्य की भलाई और बुराई इस बात पर निर्भर करती है कि वह मनुष्य को कहाँ तक उस अन्तिम मूल्य को देने में साधक बनता है जिसको प्राप्त करना उसके पुरुषार्थ का हेतु है। इसी प्रकार जो नियम इस अन्तिम मूल्य की ओर हमें ले जाते हैं वही नियम भले नियम हैं, और जो इस मूल्य से हमें वंचित करते हैं वही नियम बुरे कहा जायेंगे।

मूल्य का अर्थः—मूल्य शब्द कहा जाता है तब साधारणतः हमारे मन में पैसे का ध्यान आजाता है और मूल्यवान वस्तु हम उस वस्तु

1. Standard as value

को समझते हैं, जो मनुष्य की किसी न किसी प्रकार की इच्छा की तुष्टि करती है। इस तरह रोटी का मूल्य दिन भर के श्रम का मूल्य अथवा किसी चित्र के मूल्य की बात समझते हैं। सभी वस्तुओं का सभी लोग एक सा मूल्य नहीं लगाते। किसी वस्तु का कुछ लोग कम मूल्य करते हैं और किसी का अधिक। इससे यह स्पष्ट है कि जिन वस्तुओं का किसी प्रकार से मूल्य लगाया जाता है वे वस्तुएँ मनुष्य को किसी न किसी प्रकार से सन्तोष देती है। उनके प्राप्त करने से उन्हें अपने आप में आनन्द की उपनुभूति होती है। और वे अपनी किसी प्रकार की कमी को दूर करते हुये पाते हैं।

मूल्यवान वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं—एक तो वे जो स्वयं मनुष्य को सन्तोषदें, जिनके प्राप्त करने से मनुष्य अपने आप में किसी प्रकार की कमी को दूर होते हुए देखें और पूर्णता की अनुभूति करें। इन दो प्रकार की मूल्यवान वस्तुओं को अथवा मूल्यों को दो भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। (१) एक को हम साधक मूल्य कहते हैं।

(२) और दूसरे को तात्विक मूल्य कहते हैं। कलम अथवा मकानमें साधक मूल्य है, और जीवन, जिसको कि पुष्ट करने के सब साधन हैं, साध्य मूल्य अथवा तात्विक मूल्य है। अब प्रश्न आता है कि संसार में ऐसी कौन सी वस्तुएँ हैं जो सच्चा तात्विक मूल्य रखती हैं।

कांट महाशय के कथनानुसार शुभ इच्छा ही तात्विक मूल्य रखनेवाली वस्तु है। संसार में जितनी दूसरी वस्तुएँ हैं वे इस दृष्टि से मूल्यवान कही जा सकती हैं कि वे हमें इस अन्तिम मूल्य की ओर ले जाती हैं। शुभ इच्छा, शुभ भावना के अतिरिक्त संसार में कोई दूसरी वस्तु तात्विक मूल्य नहीं रखती, उसमें केवल साधक मूल्य हो सकता है। उदाहरणार्थ सुख को लीजिये। सुखमें किसी प्रकार का मूल्य तभी रहता है जब वह भली इच्छा की वृद्धि करता है। भली इच्छा अथवा भली भावना अपने

आपमें मूल्य रखती है और जिस वस्तु से उसका संसर्ग रहता है उसे भी मूल्यवान बना देती है।

सिडविक महाशय के कथनानुसार सुख ही वास्तव में मूल्यवान वस्तु है। उसी में तात्त्विक मूल्य है, दूसरी सभी वस्तुओं में साधक मूल्य है। हम संसार के अन्य वस्तुओं को इसी लिये चाहते हैं कि वे हमारे सुख की वृद्धि करदें। घर-द्वार पैसा-रुपया-स्त्री बाल-बच्चे लोग इसी लिये चाहते हैं कि ये वस्तुयें मनुष्य के सुख को वृद्धि करती हैं। सुख स्वयं मूल्य रखनेवाला पदार्थ है। दूसरे पदार्थ सुख प्राप्त करने में साधन होने के कारण ही मूल्यवान है। कुछ दूसरे लोगों ने दूसरी ही वस्तुओं को स्वतः मूल्य रखनेवाला कहा है। किसी सौन्दर्य को, विवेक को, प्रेम को, सत्य को, स्वतन्त्रता को और जीवन आदि पदार्थों को तात्त्विक मूल्य रखनेवाले पदार्थ बताएँ हैं। इन विचारों से मूल्य शब्द का अर्थ निश्चित होता है। जिन वस्तुओं को तात्त्विक मूल्य होता है वे अपने आपमें मूल्य रखती हैं। वे किसी दूसरी मूल्यवान वस्तु की प्राप्त करने में साधन-मात्र नहीं होती।

मूल्य शब्द के अर्थ को हम निश्चित करते हैं तो हमें दो बातों का पता चलता है—पहले तो यही कि प्रत्येक मूल्यवान वस्तु का प्राप्त करना मनुष्यको सन्तोष देता है, उसके मनमे आनन्द उत्पन्न करता है, उसकी प्राप्ति से उसे प्रसन्नता होती है, परन्तु इसका अर्थ यह न मान लेना चाहिये कि किसी वस्तु का मूल्य इसी लिये हैं कि वह सुख देती है और सुख ही अन्तिम मूल्य की वस्तु है। मूल्यवान वस्तु के प्राप्त होने पर सुख अथवा प्रसन्नता होती है इससे यह निष्कर्ष निकालना कि सुखही तात्त्विक मूल्य की वस्तु है, युक्तिसंगत नहीं है। किसी परीक्षार्थी को अपनी परीक्षा पास करने में सुख होता है मनमें प्रसन्नता आती है इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सुख की प्राप्ति करना ही परीक्षार्थी का अन्तिम उद्देश्य है, परीक्षा पास करना उसका साधन मात्र है, विवेक युक्त विचार में ही प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूर्णता चाहता है। जहाँ तक उसे

यह पूर्णता प्राप्त होती है वह सुखी होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सुख प्राप्ति नहीं वरन् पूर्णता की प्राप्ति मनुष्य के प्रयत्न का लक्ष्य और तात्त्विक मूल्य की वस्तु सुख नहीं अपितु पूर्णता है दूसरी बात उपर्युक्त विचार विमर्श से यह स्पष्ट होती है कि किसी व्यक्ति के प्रसन्न होने पर ही किसी वस्तु का तात्त्विक मूल्य निर्भर नहीं करता। एक शराबी शराब पाकर खूब प्रसन्न होता है, यदि उसे एक आत्मोद्धार की पुस्तक दी जावे अथवा उसे कोई सुन्दर दृश्य दिखलाया जावे तो उसे उतनी ही प्रसन्नता न होगी। इसका अर्थ यह कदापि न मानलेना चाहिये कि आत्मोद्धार के साधनों अथवा सुन्दर दृश्य में शराब की अपेक्षा कम तात्त्विक मूल्य है। जब मूल्य शब्द का प्रयोग नीति विचार में किया जाता है तो उसका अर्थ केवल मनुष्य को किसी समय सन्तोष देनेवाली वस्तु नहीं वरन् उस वस्तु को तात्त्विक दृष्टि से मूल्यवान माना जाता है जो मनुष्य को उस परिस्थिति में भली दिखलाई देती है, जब कि उसका विवेक पूर्णतः जागृत है। अतः हम तात्त्विक की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि यह विवेकशील व्यक्ति की इच्छित वस्तु होती है। विवेक वैयक्तिक वस्तु नहीं यह एक व्यापक भाव है अतएव जिस वस्तु को एक विवेक शील व्यक्ति मूल्यवान मानता है। उसे सभी विवेकी पुरुष मूल्यवान मानते हैं।

नैतिक भलाई एवं बुराई का मूल्य से सम्बन्ध है। मूल्य शब्द सापेक्षभाव को दर्शाता है किसी वस्तु का अधिक मूल्य होता है किसी का कम। इसी प्रकार कोई वस्तु कम भली होती है और कोई अधिक। जिस प्रकार मूल्य के दो प्रकार के भेद होते हैं—अर्थात् साधक मूल्य और साध्य मूल्य उसी प्रकार अच्छाई (भलाई) दो प्रकार की होती है . साधक अच्छाई और दूसरी साध्य अच्छाई। जब हम कहते हैं कि ... अच्छी है, यह घर अच्छा है।, तो हम साधक अच्छाई ... रखते हैं परन्तु जब हम कहते हैं कि हमको अपनी भलाई सोचना चाहिये, तब हम साध्य भलाई अथवा तात्त्विक भलाई

की ओर लक्ष्य रखते हैं यह साध्य भलाई और साध्य मूल्य एक ही वस्तु है। जब किसी वस्तु को साधक रूप में अच्छा समझा जाता है तब उसका अर्थ होता है कि वह किसी विशेष प्रयोजन के लिए अच्छी है साध्य भलाई वह है जिससे हमारे जीवन का अन्तिम प्रयोजन सिद्ध हो।

यह अन्तिम भलाई क्या है इसको बतलाना अत्यन्त कठिन है। अन्तिम भलाई का वर्णन पूर्ण रूप से वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे वह भलाई प्राप्त हुई है, अतएव हमारे लिए इसका ठीक-ठीक वर्णन करना अत्यन्त कठिन है। अन्तिम भलाई के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वह एक ऐसा पदार्थ है जिसकी प्राप्ति से एक विवेकशीलप्राणी को संतोष होता है यह भलाई ठीक तरह से उसी व्यक्ति से जानीजा सकती है जो पूर्णतः विवेक में है। यह भलाई सभी की भलाई, अर्थात् सामान्य है, अत एव जब तक किसी व्यक्ति की दृष्टि सर्व सामान्य की दृष्टि नहीं हो जाती और जब तक वह अपना तादात्म भाव सभी विवेक शील प्राणियों से नहीं कहीं कर लेता, तब तक वह, इस भलाई को नहीं जान सकता।

अन्तिम भलाई और नैतिक भलाई—अन्तिम भलाई वह वस्तु है जो अपने आप में भली है इसमें किसी के प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की भलाई की उपस्थिति की मान्यता नीति शास्त्र के लिये आवश्यक है। यदि संसारमें कोई तात्विक भलाई न होती तो मनुष्य का जीना ही व्यर्थ होता। किसी प्रकार के विचार के लिये अथवा आचरण के लिये अन्तिम भलाई की उपस्थिति में विश्वास अत्यन्त आवश्यक है।

परन्तु अन्तिम भलाई नैतिक भलाई नहीं है, अन्तिम भलाई वह वस्तु है जो अपने आपमें भली है और जो विवेकशील व्यक्ति को पूर्ण सन्तोष देती है ऐसी वस्तु का मिलना बड़ा ही कठिन है क्योंकि संसार की जितनी भी वस्तुएँ हैं। वे मनुष्य को पूर्ण संतोष

हम नैतिक दृष्टि से ठीक मान लें, अथवा किसी व्यक्ति के आचरण को नैतिक दृष्टि से भला मान लें, तो हमें यह कदापि न सोचना चाहिए कि यह वस्तु अथवा यह आचरण केवल हमारे सुख को बढ़ानेवाला है।

भलाई[1] और उचित[2] में भेद

नैतिक विचार के ठीक तरहसे चलने के लिये यह आवश्यक है कि भलाई और औचित्य का भेद भली प्रकार से समझ लिया जाय। हम उचित कार्य उस कार्य को कहते हैं जिसके द्वारा हम भलाई की प्राप्ति करते हैं। औचित्य और अनौचित्य साधनसे सम्बन्ध रखते हैं और भलाई और बुराई साध्यसे। जब हम किसी कार्य को भला कहते हैं तो हम उसका इतना ही अर्थ लेते हैं कि वह किसी भले लक्ष्य की प्राप्ति में साधक होता है। परन्तु हम अन्तिम भलाई को नहीं जानते, इसलिये किसी भी काम को पूर्णतः उचित भी नहीं कह सकते। जहां तक हम भलाई को जानते हैं वहीं तक हम किसी काम को उचित काम कह सकते हैं। परन्तु हमारा व्यक्तिगत ज्ञान इस विषय में सब लोगों के ज्ञान से भिन्न हो सकता है, अतएव कभी कभी हम उस काम को उचित काम मानते हैं जिसे दूसरे लोग भी उचित मानते हैं पर कभी कभी हमारा व्यक्तिगत मत दूसरे लोगों के मत से भिन्न होता है। साधारणतः उचित काम उस काम को कहा जाता है जो काम सभी लोगों के विचार में उचित समझा जाता है, अर्थात् जो काम उस समयमें उपलब्ध ज्ञान के अनुसार सभी लोगों के द्वारा उचित समझा जाता है। सामान्य विचार भलाई की प्राप्ति में साधक होता है, परन्तु हम कभी कभी किसी मनुष्य के ज्ञान की विशेष प्रकार की कमी अथवा उसकी विशेषता पर भी जोर देते हैं। इसके कारण जिस काम को दूसरे लोग उचित समझते हैं उसे कोई विशेष व्यक्ति अनुचित समझ सकता है। और जिस काम को सर्वसाधारण अनुचित समझते हैं कोई व्यक्ति उचित समझ सकता है।

1. Good 2. Right

वैयक्तिक और वास्तविक औचित्य[1]

वैयक्तिक और वास्तविक औचित्य का अर्थ—व्यक्तिगत औचित्य उसे कहते हैं जो काम करनेवाले व्यक्ति को काम करते समय ठीक जान पड़े और वास्तविक औचित्य उसे कहते हैं जो कि वास्तव में कल्याण अथवा भलाई की प्राप्ति में साधक हो ऊपर के देखने से यह भेद बड़े स्पष्ट जान पड़ते हैं, परन्तु जब हम इन पर गहरा विचार करते हैं तो इन दोनों प्रकार के औचित्यों में भेद करना बड़ा कठिन हो जाता है। फिर व्यक्तिगत दृष्टि से क्या उचित है, इसको मनुष्य स्वयं अपने आप नहीं जानता। वह ठीक से नहीं जानता कि जिस काम को वह कर रहा है वास्तव में वह उसके कल्याण के लिये है अथवा नहीं। इससे भी कठिन बात यह जानना होता है कि सारे संसार की दृष्टि में कौनसा कार्य अच्छा है तथा जिस कार्य को करने का निश्चय किया गया है वह संसार की भलाई को बढ़ावेगा अथवा नहीं। मोटे में यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत कल्याण की दृष्टिकोण से जिस कार्य को हम उचित समझते हैं वह वैयक्तिक औचित्य कहा जाता है, और संसार के कल्याण को दृष्टि में रख कर जिस काम को किया जाता है वह वास्तव मे उचित कार्य है। अब हमें यह निश्चय करना है कि वैयक्तिक दृष्टि से उचित कार्य वास्तव में उचित होते हैं अथवा नहीं। दूसरे, क्या सभी कार्य वैयक्तिक दृष्टि से उचित होते हैं, और तीसरे, क्या कार्य वास्तविक दृष्टि से उचित हैं। इन प्रश्नों पर विचार करने से नीति शास्त्र के बहुत से गम्भीर तत्वों पर हम पहुँचते हैं।

क्या वैयक्तिक औचित्य और वास्तविक औचित्य एक है— प्रत्येक कार्य को हम तभी उचित समझ सकते हैं जब कि वह भलाई की ओर ले जावे। यह भलाई दो प्रकार की होती है। एक वह है जिसे स्वयं व्यक्ति भलाई समझता है और दूसरी वह जिसे सभी लोग भलाई सम-

1. Subjective and objective rightness.

जाते हैं। यहाँ यह न समझ बैठना चाहिए कि जब कोई व्यक्ति किसी काम को उचित समझता है तब यह सोचता है कि मेरी बुद्धि से एक बात भली है पर वास्तव में दूसरी बात भली है। यदि कोई व्यक्ति वास्तविक भलाई को अपनी व्यक्तिगत भलाई से भिन्न मानता है तो वह जो कार्य वैयक्तिक भलाई के लिये करता है उसे किसी प्रकार से उचित कार्य नहीं माना जा सकता। उचित कार्य तो वही कार्य है जो व्यक्ति अपनी समझ में जितनी वास्तविक भलाई है उसकी प्राप्ति के लिये ही करे; केवल अपने व्यक्तिगत भलाई के लिये न करे

अब प्रश्न आता है कि किसी विशेष मनुष्य के द्वारा समझी गई भलाई वास्तव में भलाई होती है और जिस कार्य को व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार उचित जान कर करता है वह क्या वास्तव में उचित होता है? भिन्न भिन्न नीतिशास्त्रियों ने इस प्रश्न के भिन्न भिन्न उत्तर दिये हैं। आदर्शवादी नीतिशास्त्रियों के अनुसार मनुष्य जो कार्य अपनी बुद्धि से भली प्रकार विचार करने के बाद उचित समझता है वही वास्तव में भी उचित कार्य है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के कार्यों के भलाई और बुराई कार्य के बाहरी परिणामों से नहीं मापी जानी चाहिये, वरन् उसके हेतुओं से मापी जानी चाहिये। इस मत के कथनानुसार किसी कार्य के भले अथवा बुरे परिणाम मनुष्य के हेतु पर निर्भर करते हैं। यदि किसी कार्य का हेतु बुरा है तो उसका परिणाम बुरा होता है और यदि किसी कार्य का हेतु अच्छा है तो उसका परिणाम भी अच्छा होता है।

परन्तु हमारा व्यक्तिगत ज्ञान इस विषय में सब लोगों के ज्ञान से भिन्न हो सकता है। अतएव कभी-कभी हम उस काम को उचित मानते हैं जिसे दूसरे लोग भी उचित मानते हैं और कभी-कभी हमारा व्यक्तिगत मत दूसरे लोगों के मत से भिन्न होता है। साधारणतः उचित काम उस काम को कहा जाता है जो काम सभी लोगों के विचार में उचित समझा जाता है अर्थात् जो काम उस समय में उपलब्ध ज्ञान के

अनुसार सभी लोगों के द्वारा उचित समझा जाता है। अर्थात् भलाई की प्राप्ति में साधन होता है। परन्तु हम कभी कभी किसी मनुष्य के ज्ञान की विशेष प्रकार की कमी अथवा उसकी विशेषता पर भी ध्यान देते हैं। इसके कारण जिस काम को दूसरे लोग उचित समझते हैं उसे कोई विशेष व्यक्ति अनुचित समझ सकता है और जिस काम को सर्व-साधारण अनुचित समझते हैं, उसे कोई विशेष व्यक्ति उचित समझ सकता है

व्यक्तिगत और वास्तविक औचित्य[1]

व्यक्तिगत औचित्य उसे कहते हैं जो कि काम करने वाले व्यक्ति को काम करते समय ठीक जान पड़े और वास्तविक औचित्य उसे कहते हैं जो वास्तव में कल्याण अथवा भलाई की प्राप्ति में साधक हो। ऊपर से देखने से यह भेद बड़े स्पष्ट जान पड़ते हैं, परन्तु जब हम इन पर गहरा विचार करते हैं, तो इन दोनों प्रकार के औचित्यों में भेद करना बड़ा कठिन हो जाता है, फिर व्यक्तिगत दृष्टि से क्या उचित है इसको मनुष्य स्वयं अपने आप नहीं जानता। वह नहीं जानता कि जिस काम को वह कर रहा है, वास्तव में वह उसके कल्याण के लिये है अथवा नहीं। इससे भी कठिन यह बात जानना होता है कि सारे संसार को दृष्टि में रखकर कौन सा कार्य अच्छा है, तथा जिस कार्य को करने का निश्चय किया गया है वह संसार की भलाई को बढ़ायेगा अथवा नहीं। मोटे में यह कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत कल्याण की दृष्टि कोण से जिस कार्य को हम उचित समझते हैं, उसे व्यक्तिगत औचित्य कह सकते हैं और संसार के कल्याण को दृष्टि में रखकर जिस काम को किया जाता है वह वास्तव में उचित कार्य है।

अब हमें यह निश्चय करना है कि क्या वैयक्तिक दृष्टि से उचित कार्य वास्तव में उचित होते हैं अथवा नहीं, दूसरे क्या सभी कार्य व्यक्ति-

1. Subjective and objective rightness.

गत दृष्टि से उचित होते हैं और तीसरे, क्या सभी कार्य वास्तविक दृष्टि से उचित हैं ? इन प्रश्नों पर विचार करने से नीतिशास्त्र के बहुत से गंभीर तत्वों पर हम पहुँचते हैं।

क्या व्यक्तिगत औचित्य और वास्तविक औचित्य एक है ?— प्रत्येक कार्य को हम तभी उचित समझ सकते हैं जब कि वह भलाई की ओर हमें ले जावे। यह भलाई दो प्रकार की होती है। एक वह है जिसे स्वयं व्यक्ति भलाई समझता है और दूसरी वह जिसे सभी लोग भलाई समझते हैं। यहाँ यह न समझ बैठना चाहिये कि जब व्यक्ति किसी कार्य को उचित समझता है तब वह यह सोचता है कि मेरी बुद्धि से एक बात भली है पर वास्तव में दूसरी बात भली है। यदि कोई व्यक्ति वास्तविक भलाई को अपनी व्यक्तिगत भलाई से भिन्न मानता हो, तो वह जो कार्य वैयक्तिक भलाई के लिये करता है उसे किसी प्रकार से उचित कार्य नहीं माना जा सकता। उचित कार्य तो वही कार्य है जो व्यक्ति अपनी समझ में जो कुछ वास्तविक भलाई है उसकी प्राप्ति के लिये ही करे; केवल अपने व्यक्तिगत हित के लिये न करे।

अब प्रश्न आता है कि किसी विशेष मनुष्य के द्वारा समझी गई भलाई वास्तव में भलाई होती है और जिस कार्य को कोई व्यक्ति अपनी समझ के अनुसार उचित जान कर करता है वह क्या वास्तव में भी उचित होता है ? भिन्न भिन्न नीतिशास्त्रज्ञों ने इस प्रश्न के भिन्न-भिन्न उत्तर दिये हैं।

आदर्शवादी नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार मनुष्य जो कार्य अपनी बुद्धि से भली प्रकार सोचकर उचित समझता है वही वस्तुतः में भी उचित कार्य है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के कार्यों की भलाई और बुराई के माप कार्य के बाहरी परिणामों से नहीं, वरन् उनके हेतुओं से मापी जानी चाहिये। इस मत के कथनानुसार किसी कार्य के भले अथवा बुरे परिणाम मनुष्य के हेतु पर निर्भर करते हैं। यदि किसी

कार्य का हेतु बुरा है तो उसका परिणाम बुरा होता है और यदि किसी कार्य का हेतु अच्छा है तो उसका परिणाम भी अच्छा होता है।

परन्तु, उक्त आदर्शवादी सिद्धान्त व्यावहारिक जगत में ठीक नहीं उतरता। कभी-कभी किसी कार्य को करने में मनुष्य का हेतु सर्वोत्तम होता है; वह संसार के कल्याण के लिये ही कोई विशेष कार्य करता है, परन्तु अपना हेतु भला रखकर भी वह कभी भी बाहरी बुरे परिणाम पर पहुँच जाता है। मान लीजिये, हम किसी रोगी की सेवा कर रहे हैं। वह रोगी एक बन्द कमरे में है। उसे हम स्वच्छ वायु देने के लिये एक खुले कमरे में रखते हैं। इस कमरे में उसे शीत लग जाती है और इसके कारण उसे निमोनिया हो जाता है जिसके कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। यहाँ पर हमने अपने विचार से उचित कार्य ही किया, हमारा हेतु भला था, परन्तु परिणाम बुरा हो गया। अब क्या हम हेतु की भलाई के कारण इस परिणाम को भी भला परिणाम कहेंगे? किसी हेतु का परिणाम भला हो इसके लिये हेतु की पवित्रता मात्र अपेक्षित नहीं है। हेतु की पवित्रता के साथ वातावरण की अनुकूलता और उचित ज्ञान का होना आवश्यक है। इन दो के अभाव में भले हेतु से किये गये कार्य भी कभी कभी अशुभ परिणाम उत्पन्न कर देते हैं। काण्ट महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि 'कभी-कभी हमारे भले लक्ष्य की प्राप्ति में प्रकृति सौतेली माँ के समान कार्य करती है।" अपने ज्ञान की कमी भी हमें अपने भले लक्ष्य के प्राप्त करने में बाधा डाल देती है। इस तरह व्यक्तिगत दृष्टि से किये गये उचित कार्य भी कभी कभी वास्तव में अनुचित सिद्ध हो जाते हैं।

क्या सभी कार्य व्यक्तिगत दृष्टि से सही होते हैं?—कुछ दार्शनिकों का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य वही कार्य करता है जो उसे ठीक प्रतीत होता है। इस प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि कोण से उचित कार्य ही करता है। चोर चोरी इसी लिये करता है, क्योंकि वह उसे उचित समझता है। शराबी शराब इसी लिये पीता है, क्योंकि वह

उसे उचित समझता है। इसी प्रकार दूसरों को धोखा देने वाले, दूसरों को त्रास देने वाले इन कार्यों को अपने मन में उचित सिद्ध करके ही करते हैं। यदि ये लोग मान लें कि ये कार्य वास्तव में उचित नहीं हैं अर्थात् वे उन्हें कल्याण की ओर नहीं ले जाते, तो ऐसे कार्य कभी न करें। कोई भी मनुष्य स्वेच्छा से अपने कल्याण को नहीं खोना चाहता, अर्थात् कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा से अर्थात् जानबूझकर दुष्ट नहीं होता। जब कभी कोई व्यक्ति बुरा समझा जाने वाला कार्य करता है, तो इसमें दोष उसके अज्ञान का होता है। यदि उसे वास्तव में क्या भला है और क्या बुरा है, इसका ठीक ठीक ज्ञान हो जाये, तो वह भलाई को छोड़ कर बुराई की ओर कभी न जाये। यह विचार महात्मा सुकरात का है और वे इसी विचार के आधार पर कहा करते थे कि ज्ञान ही सद्गुण है।

महात्मा सुकरात के उक्त कथन में बहुत कुछ सत्यता है। कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा से अपना अकल्याण नहीं चाहता अर्थात् वह बुराई को नहीं करना चाहता। साधारणतः वह किसी बुरी बात को इसी लिये करता है क्योंकि वह जानता है कि इसमें उसका व्यक्तिगत हित है और उसके स्वार्थ की सिद्धि होती है। वह दूसरे के लाभ अथवा हानि को भूल जाता है। उसका व्यक्तिगत स्वार्थ उसकी आँखों पर पर्दा डाल देता है। इस पर्दे के हटाये बिना वह अपनी भलाई अथवा कल्याणको कभी नहीं पहचान सकता। मनुष्य की वास्तविक भलाई वही है जिसे उसका विवेक भला कहे। पर विवेक सर्व सामान्य अर्थात् व्यापक वस्तु है। विवेक मनुष्य की उसी वस्तु को व्यक्तिगत दृष्टि से भली बताता है जो सभी के लिये भली है। इस तरह मनुष्य जब कभी कोई बुरा या अनुचित कार्य करता है, तो वह अपने विवेक के प्रतिकूल कार्य करता है। कभी कभी मनुष्य का विवेक उसे क्या भला है यह बतलाता है, पर मनुष्य उस भले की प्राप्तिके लिये अपने आपमें प्रेरणा नहीं पाता। इसी प्रकार मनुष्य का विवेक उसे वास्तविक बुराई जिससे कि उसकी भी हानि होती है,

उसे बतलाता है। परन्तु, वह अपने आपको इस बुराई से रोक नहीं सकता। इस मानसिक स्थिति की अनुभूति हमें अपने प्रतिदिन की अनुभव में होती रहती है। विरला ही मनुष्य इस देवासुर संग्राम से मुक्त होता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि हमारे सभी कार्य व्यक्तिगत दृष्टि से उचित नहीं होते। हम बहुत से ऐसे कार्य भी कर बैठते हैं, जिन्हें हम स्वयं अनुचित समझते हैं। ऐसे ही कार्यों के लिये हमें आत्म-भर्त्सना और पश्चाताप होते हैं।

व्यक्तिगत उचित कार्य से हमें यह कदापि न समझ बैठना चाहिये कि वह हमारे व्यक्तिगत स्वार्थ का ही पोषण करता है और उसमें वास्तविक लोक कल्याण का ध्यान नहीं रहता। यदि ऐसा कोई कार्य हम करते हैं, जिसके करने में लोक कल्याण का अथवा समष्टि की भलाई का हम ध्यान नहीं रखते और केवल अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के पोषण का ध्यान रखते हैं, तो वह कार्य नैतिक कार्य है ही नहीं। ऐसे कार्य को किसी भी दृष्टि से उचित कार्य नहीं कहा जा सकता। अतएव व्यक्तिगत उचित कार्य का भेद वास्तविक औचित्य से इसी दृष्टि से किया जा सकता है कि हम कहाँ तक अपने नैतिक विचार में स्वार्थ से परे जा सकते हैं और अपने आप का व्यापक नैतिकभाव से एकत्व कर सकते हैं, अर्थात् उसी बात को हम उचित सोच सकते हैं जिसको कि कोई भी विवेकशील पुरुष उचित समझेगा।

क्या सभी कार्य अपने आप में वास्तविकता के अनुसार उचित होते हैं?—कितने ही दार्शनिकों का विचार है कि जो कुछ होता है सब भले के लिये ही होता है। इमर्सन महाशय का कथन है कि दार्शनिक, कवि और संत के लिये सभी वस्तुएँ पवित्र हैं। सभी घटनाएँ भली, सभी दिन शुभ और सभी मनुष्य दैवी होते हैं। * जो व्यक्ति इन

*To the philosopher, to the poet and to the saint all things are friendly and sacred, all events profitabee, all days holy and all men divine. Essays of Imerson,

विचारों से पूरित हैं उनके लिये कर्त्तव्य जैसी कोई वस्तु नहीं रह जाती। जब सभी घटनाएँ भली हैं, तो हमारे सभी काम भले काम ही हैं। वे किसी न किसी प्रकार संसार का कल्याण ही करेंगे। जब हमारा यह दृष्टि कोण हो जाता है, तब फिर नैतिक प्रयत्न के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता। मनुष्य नैतिक प्रयत्न करने वाला प्राणी है। वह विश्वास करता है कि सभी घटनाएँ भली नहीं है—कुछ भली हैं और कुछ बुरी हैं। हमारा कर्त्तव्य है कि भली घटनाओं की सम्भावना बढ़ावें और बुरी घटनाओं को घटित होने से रोकें। कभी कभी जिस बात को हम वास्तव में भली समझते हैं और हमारे समझ के सभी लोग भली समझते हैं वही पीछे बुरी सिद्ध होती है और जिसको हम बुरी समझते हैं वह पीछे कल्याण कारी सिद्ध हो सकती है अर्थात् भली सिद्ध हो सकती है। इस तरह नैतिक दृष्टि से हम सब के लिए किसी भी घटना के वास्तविक औचित्य और अनौचित्य का निर्णय नहीं कर सकते। हरबर्ट स्पेंसर का कथन है कि हम कभी भी पूर्ण रूप से यह निश्चिय नहीं कर सकते हैं कि हमारा कोई भी कार्य वास्तव में ठीक है। सम्भव है कि जिस काम को आज हम ठीक समझते हैं उसे नये ज्ञान के प्राप्त होने पर हम बेठीक समझें। अतएव उनके मतानुसार किसी भी कार्य का पूर्ण रूप से वास्तिविक औचित्य निश्चित नहीं किया जा सकता।

परन्तु, जब हम वास्तविक औचित्य की बात करते हैं, तो हमारा अभिप्राय केवल इतना ही रहता है कि वर्तमान समय के उपलब्ध मानव-ज्ञान के अनुसार किस कार्य को ठीक माना जाय। उसी कार्य को हम वास्तविक उचित कार्य मानते हैं जो हमारे वर्तमान ज्ञान में उचित सिद्ध होता है।

भलाई और बुराई के परे की स्थिति—संसार के विभिन्न दार्शनिकों ने मनुष्यों के विचार की ऐसी स्थिति की कल्पना की है जिसमें वह भले और बुरे के भेद के पार चला जाता है। तब वह सोचने लगता है कि [illegible] पुण्य दोनों ही मनुष्य की कल्पना मात्र हैं, न किसी काम

से पाप होता है न किसी काम से पुण्य। पाप तो तब हो जब हम संसार का कोई नुकसान करें और पुण्य भी तभी हो सकता है जब हम संसार की पूर्णता को बढ़ा सकें, अर्थात् जब हम परमात्मा ने इस संसार को जैसा बनाया है इसे उससे अधिक अच्छा बना सकें।* हालैण्ड देश के निवासी स्पीनोजा महाशय ईश्वर की सर्व व्यापकता का सिद्धान्त मानते थे। 'वही सब घटनाओं को अपने आप कराता है'। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रवर्तन अपनी 'एथिक्स' नामक पुस्तक में किया है। अब यदि ईश्वर ही सभी घटनाओं का प्राण और नियंता है, तो कोई घटना बुरी कैसे हो सकती है। सभी घटनाएँ भली हैं। फ्रेडरिक ब्रेडले महाशय, जो इंग्लैंड के गम्भीर आदर्शवादी दार्शनिक थे, कथनानुसार भी नैतिक भावनाएँ तात्त्विक भावनाओं से निम्न कोटि की हैं। जहाँ तक नीति शास्त्र का विस्तार है, वहाँ तक सदा प्रयत्न के लिये स्थान रहता है। नीतिशास्त्र के द्वारा बताया गया अन्तिम कल्याण अथवा भलाई सदा आगे ही सरकती जाती है। जैसे जैसे मनुष्य उसे प्राप्त करने की चेष्टा करता है, वह देखता है कि वह उससे दूर ही रह गई और उसे अनन्त काल तक इस प्रकार प्रयत्न ही करते रहना पड़ेगा। उसे ज्ञान होता है कि मनुष्य के लिये अपने नैतिक लक्ष्य तक पहुँचना असम्भव है, लक्ष्य प्राप्त करना उसके हाथकी बात नहीं है। सदा प्रयत्न करते रहने में ही उसके जीवन की सार्थकता है।

तात्त्विक दृष्टि कोण के अनुसार यह नैतिकता का आदर्श वास्तविक कल्याण का चित्र नहीं है। यह उसका आभास मात्र है, जिसके पीछे मनुष्य पड़ा रहता है। वास्तविक कल्याण के ज्ञान होने पर इस प्रकार के आभासित कल्याण को प्राप्त करने के प्रयत्न से मनुष्य मुक्त हो जाता है। पर यदि कोई कहे कि यदि वास्तविक कल्याण नैतिक कल्याण से पृथक

* इस प्रकार का विचार उपनिषद में आता है—पूर्णदमः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदीच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय-पूर्णमेवावशिष्यते।—ईशावास्योनिषद।

वस्तु है, अतएव नैतिक कल्याण के प्राप्त करने का प्रयत्न ही व्यर्थ है, तो यह भी ठीक नहीं है। नैतिकता के आदर्श को प्राप्त करने के प्रयत्न में ही मनुष्य को वास्तविक कल्याण का ज्ञान हो जाता है। नैतिक कल्याण मनुष्य की मनोवृत्तियों को शुद्ध करता है; उसकी मानसिक शक्तियों का शोध करता है, जिसके बिना तात्त्विक कल्याण का ज्ञान असम्भव है।

सोलहवाँ प्रकरण

नैतिक संस्थाएँ[1]

नैतिक संस्थाओं की उपयोगिता—मनुष्य के नैतिक विचारों को स्थायी बनाने के लिये नैतिक संस्थाओं की आवश्यकता होती है। जो कार्य मनुष्यके व्यक्तिगत जीवन में नैतिक विचार करते हैं, वही कार्य नैतिक संस्थाएँ समाज में करती हैं। नैतिक संस्थाएँ समाज को उस आदर्श की ओर ले जाती हैं, जिससे उसका कल्याण होता है। प्रत्येक समाज में अपने आप को ऊँचा बनाने की भावना होती है। यह ऊँचा बनाने की भावना नैतिक संस्थाओं का रूप धारण कर लेती हैं। फिर नैतिक संस्थाएँ सामाजिक संस्थाओं का रूप धारण कर लेती हैं।

नैतिक संस्थाओं और सामाजिक संस्थाओं में मुख्य भेद—दोनों संस्थाओं में भेद यह है कि जहाँ नैतिक संस्थाओंका विस्तार मनुष्य के विचारों में रहता है वहाँ सामाजिक संस्थाओं का विस्तार बाहरी संगठन में रहता है। नैतिक संस्था न्याय, कानून, जनमत, मनुष्य के अधिकार और उसके कर्तव्य का रूप धारण करती है, और सामाजिक संस्थाएँ परिवार, कार्यालय, संघ, सम्मेलन, धर्म-संघ, राज्य और मित्रता का रूप धारण करती हैं। इन नैतिक और सामाजिक संस्थाओं के द्वारा मनुष्य में नैतिकता के भाव स्थिर होते हैं। प्रत्येक मनुष्य में कर्तव्य करने के लिये आन्तरिक प्रेरणा होती है, यह प्रेरणा उसे नैतिक संस्थाएँ तथा सामाजिक संस्थाएँ भी देती हैं। जैसा किसी समाज के व्यक्तियों का नैतिक विकास होता है, वैसा ही उस समाज की नैतिक संस्थाएँ होती हैं और वैसी ही उसकी सामाजिक संस्थाएँ भी होती हैं। नैतिकता एक व्यापक भाव है

1. Moral Institutions.

अर्थात् सद्‌गर्भ मान्य मात्र है। किसीके व्यक्तिगत विचारको नैतिक विचार नहीं कहा जा सकता। उसके उसी विचार को नैतिक विचार कहा जा सकता है, जिसमें वह समाज के दूसरे विवेकशील लोगों के विचारों का ध्यान रखता है। समाज के सभी विवेकशील व्यक्तियों के विचार ही नैतिक संस्थाओं का रूप धारण करते हैं। पीछे ये नैतिक संस्थाएं समाज की साधारण संस्थाओं में आ जाती हैं, अतएव जब कोई व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को त्याग करके अथवा अपने व्यक्तिगत विचार को बदल कर किसी संस्था के नियम का पालन करता है, तो वह अपने व्यापक स्वत्व के नियम को ही मानता है। व्यापक स्वत्व की आज्ञा मानना मनुष्य की नैतिकता का विकास दर्शाता है। समाज की जो संस्थाएं भली समझी जाती हैं, उनके अनुसार अपना आचरण बनाना अपने नैतिक जीवन को विकसित करना है।

सामाजिक संस्थाओं की नैतिकता—मनुष्य जहाँ रहता है, समाज बनाकर रहता है। दूसरे प्राणी भी समाज में ही रहते हैं। किन्तु मनुष्य समाज एवं अन्य प्राणियों के समाज में कुछ मौलिक भेद है। दूसरे प्राणियों के समाजका निर्माण प्रकृति ही करती है, पर मानव समाज का निर्माण मनुष्य स्वयं करता है। उसे अपनी बुद्धि से काम लेना पड़ता है। यह समाज मनुष्य के नैतिक विचार के ऊपर आधारित रहता है। अतएव किसी सामाजिक संस्था की आज्ञा मानना अपनी नैतिक स्वत्व की आज्ञा मानना है। कभी कभी मनुष्य के व्यक्तिगत नैतिक विचारों में और सामाजिक नैतिक संस्थाओं, अथवा सामाजिक संस्थाओं के नैतिक विचारों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। ऐसी अवस्था में कभी कभी व्यक्ति के नैतिक विचार ऊँचे स्तर के होते हैं और कभी समाज के। जब कोई सामाजिक संस्था अनैतिक हो जाती है, तब उसकी क्रियाएँ संकीर्णतापूर्ण और विवेकहीन हो जाती हैं; अर्थात् वह संस्था इस बात का विचार नहीं रखती कि दूसरी जगह के लोग अथवा दूसरे देश के लोग उसके कार्यों की कैसी आलोचना

करेंगे। ऐसी संस्था का सुधार प्रबल नैतिक बुद्धि वाला व्यक्ति कभी कभी करने में समर्थ होता है।

सामान्यतः साधारण व्यक्ति अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण किसी सामाजिक संस्था के नियम के प्रतिकूल जाता है। चोरी, व्यभिचार आदि कार्य सामाजिक संस्थाओंके प्रतिकूल हैं। ऐसे कार्यों के करते समय मनुष्य कभी सोच बैठता है कि वह समाज के व्यर्थ बन्धनों को तोड़ रहा है, परन्तु उसके इस प्रकार बन्धन तोड़ने से उसे अपने उच्चतर स्वत्व की प्राप्ति नहीं होती। वह आत्म भर्त्सना की अनुभूति करता है। जिस काम के लिये मनुष्य बाहरी दंड के अभाव में आत्म भर्त्सना की अनुभूति करता है, उसी काम के लिये समाज व्यक्ति को दंड देता है। इस प्रकार के दंड से व्यक्ति का नैतिक उत्थान होता है।

समाज में न्याय—न्याय समाज की एक नैतिक संस्था है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने आदर्श सत्व की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि वह जिस समाज में रहता है उसमें न्याय की परम्परा हो। जहाँ जिसकी लाठी उसकी भैंस की परम्परा होती है, वहाँ मनुष्य अपने आध्यात्मिक जीवन का भली प्रकार विकास नहीं कर सकता। हमारे वर्तमान पूँजी-वादी समाज में सामाजिक न्याय की संस्था का प्रायः लोप सा हो गया है। सामाजिक न्याय का लक्षण यह है कि उसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपने आत्म विकास की अधिक से अधिक सुविधा मिले। वर्तमान समाज में संसार के मुट्ठी भर लोगों के हाथ में सभी शक्ति रहती है। उनके ही अधिकार में मानव जीवन को भौतिक सुख देनेवाले सभी पदार्थ रहते हैं। सामान्य जनता को वे सुविधाएँ नहीं प्राप्त होतीं जिससे वे अपनी बौद्धिक या आध्यात्मिक उन्नति कर सकें। पूँजीवाद समाजमें नब्बे प्रतिशत लोग गुलामों का जीवन व्यतीत करते रहते हैं। वे दिन भर परिश्रम करके भी पेट भर भोजन नहीं पाते। यह समाज के नैतिक परम्परा की स्थिति के प्रतिकूल है। जब समाज में निकम्मे और आलसी लोगों की रक्षा होती है और उनके हाथ में शक्ति रहती है और परिश्रमी, योग्य व्यक्ति

चारों ओर से दबाये जाते हैं और दास बनाकर रक्खे जाते हैं, तो समाज में अन्याय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। समाज के विवेकशील लोग फिर इस प्रकार की स्थिति का अन्त करने की चेष्टा करते हैं। उन्हें इस के कारण अधिकार सम्पन्न लोगों की अनेक प्रकार की ताड़ना सहनी पड़ती है। पर समाज में न्याय लाने के लिये और उसकी परम्परा को स्थायी रखने के लिये यह आवश्यक होता है। जो लोग समाज में न्याय की परम्परा को स्थापित करने के लिये कष्ट सहते हैं अथवा अपने प्राण खोते हैं, वे ही समाज के आदर्श व्यक्ति होते हैं। प्रत्येक समाज को हर समय ऐसे लोगों की आवश्यकता रहती है।

कानून और लोकमत—समाज में नैतिकता की रक्षा के लिये कानून और लोकमत की आवश्यकता होती है। जब समाज के लोग सुशिक्षित होते हैं, तो कानून की उतनी अधिक आवश्यकता नहीं होती, जितनी कि अशिक्षित समाज में आवश्यकता होती है। अशिक्षित समाज में पहले पहल किसी बुराई को कानून द्वारा ही रोका जा सकता है। फिर शिक्षा के द्वारा उस कानून की उपयोगिता लोगों को दिखाई जा सकती है। जब कानून से किसी बुराई का रोक हो जाता है और कोई नई परम्परा चल जाती है तब लोकमत उसके अनुकूल हो जाता है। फिर सामाजिक अभ्यास के कारण यह परम्परा सामाजिक संस्था का रूप धारण कर लेती है। उस समय कानून की आवश्यकता नहीं रह जाती। मनुष्य के आचरण के नैतिक बनाने के लिये जिस समाज में कानून की जितनी कम आवश्यकता है, वह समाज नैतिक दृष्टि से उतना ही ऊँचा है। कभी कभी किसी विशेष नियम को राज्य बना देता है, परन्तु लोकमत उसके अनुकूल न होने के कारण उस नियम की अवहेलना भी होती है। इसके कारण बहुत लोगों को दंड भोगना पड़ता है। ऐसी अवस्था में यह नियम समाज के लिये सुखद न होकर दुःखद बन जाता है। अतएव समाज सुधार के किसी भी कानून के निर्माण के पूर्व और उसके पश्चात् लोकमत को उसके अनुकूल बनाना अत्यन्त आवश्यक है। नियम का

बनाना स्वयं इस अनुकूलता को प्राप्त करने का एक साधन है। जो बातें पहले लोग भय के कारण करते हैं वही बातें वे पीछे आदत के कारण करने लगते हैं। और इसके बाद अपनी स्वतंत्र इच्छा से उन्हें अपने लिये कल्याणकारी समझ कर करने लगते हैं। पहले नियम आता है, फिर आदत आती है और फिर सद्गुण आता है। इस प्रकार नियम और लोकमत दोनों ही समाज के नैतिक विकास के लिये आवश्यक हैं।

अधिकार और कर्त्तव्य—लोकमत मनुष्य के अधिकार और कर्त्तव्य को निश्चित करता है। अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे से सापेक्ष हैं। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्त्तव्य की उत्पत्ति होती है। यह कर्त्तव्य दो कारणों से आता है। प्रथम, तो इसलिये कि यदि किसी मनुष्य को कोई अधिकार है, तो दूसरे मनुष्यका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस अधिकार को उसी के लिये रहने दे और छीने नहीं। दूसरे, अधिकार के साथ कर्त्तव्य का सम्बन्ध इस कारण से भी है कि प्रत्येक अधिकार का उपभोग नैतिक दृष्टि से तभी हम कर सकते हैं जब कि हम उस अधिकार को समाज के कल्याण के लिये काम में लाएँ।

मनुष्य के अधिकार को जानना सरल रहता है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष रहता है, परन्तु उसके कर्त्तव्य को जानना कठिन होता है क्योंकि वह अप्रत्यक्ष होता है। अधिकारों को मनुष्य कानून के द्वारा प्राप्त कर लेता है, परन्तु कानून उसे अपने कर्त्तव्य के लिये बाध्य करने में इतना सफल नहीं होता। परन्तु जिस व्यक्ति की नैतिक बुद्धि जाग्रत है वह अपने कर्त्तव्य को वैसे ही स्पष्ट देखता है जैसे वह अपने अधिकार को देखता है। कानून मनुष्य को अपने कर्त्तव्य से गिरने के लिये दंड नहीं देता, परन्तु मनुष्य की नैतिक बुद्धि अथवा आत्मा कर्त्तव्य च्युत होने पर अवश्य दंड देती है। मनुष्य को अपनी प्रत्येक वस्तु को समाज की भलाई के लिये काम में लाना चाहिये। कानून की दृष्टि से वह अपनी कहलानेवाली वस्तु को इच्छानुसार काम में ला-

रहते थे। गुलाम के मालिक उन्हें जहाँ चाहते थे वहाँ भेजते थे और जिसको चाहते थे उसे बेच देते थे। गुलामों के मालिक उनके साथ वैसा ही व्यवहार करते थे, जैसे हम लोग पशुओं के साथ करते हैं। गुलामों की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का कोई ध्यान नहीं रक्खा जाता था। आधुनिक काल में पुरानी गुलाम प्रथा का अन्त तो हो गया परन्तु एक नये प्रकार की गुलामी की संस्था का स्थापना हो गया है। इस गुलामी में मनुष्य को अपनी इच्छा-शक्ति से काम लेने का अवकाश ही नहीं दिया जाता। वह अपने मालिक के लिये मशीन के पुर्जों के समान सदा कार्य-रत रहता है। पूँजी-पतियों के कारखानों में काम करने वालों की यही दशा है।

यह बात सत्य है कि किसी भी सभ्य समाज में किसी मनुष्य को सम्पूर्ण स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती ऐसी स्वतन्त्रता न तो सम्भव है और न नैतिक दृष्टि से उचित है। मनुष्य को उतनी ही दूर तक स्वतन्त्रता दी जा सकती है, जिससे कि वह समाज व्यवस्था में किसी प्रकार की विघ्नात्मक कार्य किये बिना आत्मविकास का कार्य कर सके। मनुष्य का नैतिक आत्मविकास तभी होता है जब वह समाज के लिये हानिकारक कार्य न करके उसके विकास के लिये कार्य करता है।

स्वतंत्रता के अधिकार के साथ साथ स्वतंत्रता के कर्त्तव्य भी आते हैं। मनुष्य को अपनी स्वतंत्रता विवेकयुक्त कार्य काम में लाना चाहिये। इससे उसे आदर्श स्वत्व को प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। वही मनुष्य अपनी स्वतंत्रता का सदुपयोग कर सकता है, जो विद्वान् और भला है। साधारण लोग स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छन्दता मान बैठते हैं। जब तक समाज के लोगों को अपनी स्वतंत्रता का सदुपयोग करना नहीं आता, तब तक वास्तविक स्वतंत्रता सम्भव नहीं। अतएव जैसे जैसे मनुष्यों में ज्ञान की वृद्धि होती है और उनके आचरण में पवित्रता आती है, वैसे वैसे उनके स्वतंत्रता के अधिकार की वृद्धि होती है। इस हम देखते हैं कि स्वतंत्रता कोई खरीद लिये जानेवाली अथवा दान वस्तु नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी स्वतंत्रता स्वयं

कराना होता है। अपने ज्ञान की वृद्धि और चरित्र सुधार से स्वतंत्रता कमायी जाती है।

सम्पत्ति का अधिकार—जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति को जीवन और स्वतंत्रता का अधिकार है उसी प्रकार उसे सम्पत्ति का भी अधिकार है। सम्पत्ति के अभाव में स्वतंत्रता का अधिकार भी अर्थहीन हो जाता है। मनुष्य की स्वतंत्रता को सार्थक बनाने के लिये आवश्यक होता है कि उसे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये सब प्रकार की सुविधाएं हों। इन सुविधाओं में सम्पत्ति के रखने की सुविधा है। जिस मनुष्य के पास सम्पत्ति नहीं है, अथवा जिसे उसके रखने का अधिकार नहीं है, वह अपना किसी प्रकार से आत्मविकास नहीं कर सकता है। भिखारी की स्वतंत्रता अर्थहीन है। अतएव प्रत्येक सभ्य समाज में न केवल सम्पत्तिवान लोगों के सम्पत्ति रखने के अधिकार की रक्षा की जाती है, वरन् ग़रीबों को सम्पत्ति प्राप्ति के भी उपाय रचे जाते हैं। मानव समाज में स्वतंत्र जीवन के लिये यह आवश्यक है कि समाज के प्रत्येक सदस्य के पास कुछ न कुछ सम्पति हो। यह सम्पत्ति उसके नैतिक स्वत्व के साक्षात् कार के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

सम्पति के अधिकार के साथ साथ सम्पत्ति के उचित उपयोग करने के कर्त्तव्य की बात भी आती है। जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को समाज के कल्याण के काम में लाता है, उसे ही वास्तव में सम्पत्ति रखने का अधिकार है। जिस समाज में सम्पत्ति का उचित उपयोग नहीं किया जाता, उसको सम्पत्ति रखने का नैतिक अधिकार भी नहीं रहता। समाज की एक स्थिति में प्राचीन काल में किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति अलग रखने का अधिकार न था। पूरे गिरोह की सम्पत्ति एक साथ रहती थी। जब समाज सभ्य हो जाता है तभी किसी व्यक्ति को सम्पत्ति के रखने का अधिकार दिया जाना उचित है। सम्पत्ति को रखने का अधिकार दिये जाने के बाद उसके उपयोग का प्रश्न आता है।

नीतिशास्त्र के कुछ विद्वानों का मत है कि आदर्श समाज वह समाज

है, जिसमें किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति न हो, वरन् पूरे समाज की सम्पत्ति एक साथ हो। इस प्रकार के विचार यूनान देश के प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता प्लेटो महाशय के थे। उनका कथन था कि आदर्श समाज में लोग अपने आप का समाज से इतना एकत्व कर देंगे कि वे समाज की उन्नति में, उसकी गरीबी और अमीरी में, अपनी गरीबी और अमीरी देखेंगे। परन्तु यदि हम मानव स्वभाव को सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो इस प्रकार के आदर्श को न केवल कोरी कल्पना ही पावेंगे, वरन् इसे मनुष्य के नैतिक स्वत्व के विकास में बाधक पावेंगे। मनुष्य का नैतिक विकास तभी सम्भव है जब वह व्यक्तिगत रूप से उसके लिये प्रयत्न करे। मनुष्य अकस्मात् अपने आपको समाज के प्रति अर्पित नहीं कर सकता। जैसे जैसे उसके ज्ञान की वृद्धि होती है और उसका विवेक जाग्रत होता है, वह समाज के कल्याण में अपना कल्याण देखने लगता है। यदि कोई संस्था किसी व्यक्ति को बाध्य करके कोई कार्य करावे तो इस प्रकार के काम से उसके नैतिकता का विकास न होकर उसमें ह्रास ही होगा। जब समाज के कल्याण की दृष्टि से समाज के कुछ लोग देश की सम्पत्ति का समाजीकरण करते हैं, तो वे इससे उनके नैतिक विकास में सुविधा नहीं देते, वरन् बाधा डालते हैं। मनुष्य को अपनी सम्पत्ति के चले जाने पर उसे अपनी स्वतंत्र इच्छा शक्ति से काम लेने का अवसर कम हो जाता है, और जहाँ इस प्रकार के अवसर की कमी हो जाती है, वहाँ नैतिकता का विकास नहीं होता।

समझौते का अधिकार—मनुष्य का चौथा नैतिक अधिकार दूसरे मनुष्य से समझौते के अनुसार काम कराने का है। प्राचीन समाजों में समझौते के अनुसार काम करने की प्रथा नहीं रहती। प्रत्येक व्यक्ति के काम अथवा दूसरे व्यक्ति का सम्बन्ध जन्म से ही निश्चित रहता है। यदि कोई व्यक्ति छोटी जाति में उत्पन्न हो गया, तो वह दूसरे जाति के उन कामों की पूर्ति के लिए बाध्य नहीं कर सकता, जो ऊँचे वर्गों के लोगों के लिए हों। जैसे जैसे सभ्यता का विकास होता है, मनुष्य समाज

में अपना स्थान स्वतंत्र समझौते के अनुसार निश्चित करता है। प्रत्येक मनुष्य को स्वतंत्रता रहती है कि वह जैसे चाहे वैसे दूसरे व्यक्ति के साथ समझौता करे।

समझौते के अधिकार के साथ साथ समझौते को पूरा करने का कर्त्तव्य भी आता है। किसी व्यक्ति को ऐसे समझौते न करना चाहिये, जिन्हें वह सामान्यतः पूरा नहीं कर सकता अथवा जो उसके विवेक के प्रतिकूल है। उदाहरणार्थ, कोई व्यक्ति अपनी गुलामी के लिये समझौता नहीं कर सकता। समझौता ऐसा ही किया जाना चाहिये जो मनुष्य के नैतिक विकास के मार्ग में बाधक न हो। जुआ खेलने का समझौता करना अनैतिक है और इस प्रकार के समझौते करना मनुष्य की कर्त्तव्य बुद्धि के विरुद्ध है।

शिक्षा का अधिकार—प्रत्येक व्यक्ति को जिस प्रकार जीवन और सम्पत्ति आदि का अधिकार है उसी प्रकार उसे शिक्षा का भी नैतिक अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार भी है, और यह उसका कर्त्तव्य भी है। यहाँ अधिकार और कर्त्तव्य एक दूसरे से इतने अधिक मिल गये हैं, कि यह नहीं कहा जा सकता कि शिक्षा में अधिकार की प्रधानता है अथवा कर्तव्य की। शिक्षा के अधिकार में कर्त्तव्य बिना मनुष्य अपने आदर्श स्वरूप की प्राप्ति नहीं कर सकता। अतएव सभ्य समाज में इस अधिकार की मान्यता रहती है, परन्तु अभी तक इस अधिकार को सभी लोगों ने नहीं माना है। जहाँ तक शिक्षा के अधिकार को सभ्य समाज नहीं मानता, वहाँ तक यह व्यक्ति को अपने सम्पूर्ण नैतिक विकास के लिये अवसर भी नहीं देता।

लैटो महाशय ने मनुष्य की शिक्षा के अधिकार को बड़ा ऊँचा स्थान दिया है। उसके कथनानुसार सबसे अच्छा राज्य वह है जिसमें नागरिकों की शिक्षा का सबसे अच्छा प्रबन्ध हो। राज्य नागरिकों से अनेक प्रकार के कर लेता है। इस कर के बदले में वह उनकी जान-माल की रक्षा करता है। बहुत से राज्य अपने नागरिकों के लिये इतना ही करके

सन्तोष कर लेते हैं। वे नागरिकों की शारीरिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति की परवाह नहीं करते। यदि हम प्लेटो महाशय की दृष्टि से देखें तो इस प्रकार के राज्य को निकृष्टतम समझेंगे। आधुनिक सभ्य राज्य अपना यह कर्त्तव्य समझता है कि वह अपने प्रत्येक नागरिक को सुशिक्षित बनावे। बहुत से देशों में जनता में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य है और प्रत्येक राष्ट्र के नागरिक को यह अधिकार है कि वह अपने बच्चों को यह शिक्षा दिला सके।

शिक्षा का अधिकार मात्र ही नहीं वरन् अपने आपको सुशिक्षित बनाना यह प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। जो नागरिक अपने आपको सुरक्षित नहीं बनाते हैं वे आधुनिक काल में राष्ट्र के लिए भार रूप हैं। जब एक व्यक्ति शिक्षित बन जाता है, तो वह अनेक प्रकार के सद्गुण अपने आप में उत्पन्न कर लेता है। वह चाहे जनता की कुछ सेवा करना चाहे अथवा नहीं, अपनी उपस्थिति मात्र से दूसरे लोगों की सेवा करता है। उसे ऊँचा उठा देख कर समाज के दूसरे लोग स्वयं को ऊँचा उठाने की चेष्टा करते हैं। उसकी सफलता दूसरों को प्रोत्साहित करती है।

शिक्षित व्यक्तियों का यह कर्त्तव्य है कि जिस शिक्षा को उन्होंने समाज से प्राप्त किया है वे उस शिक्षा का लाभ दूसरों को भी उठाने दें। प्रत्येक शिक्षित नागरिक को चाहिये कि वह जान-बूझकर कुछ न कुछ दूसरों की शिक्षा के लिये यत्न करता रहे। नैतिकता की दृष्टि से यह बड़े महत्त्व का कार्य है कि जिस प्रकाश से हम प्रकाशित हुए हैं, उस प्रकाश को हम दूसरे को भी देवें।

अधिकार और कर्त्तव्य की एकता—अधिकार और कर्त्तव्य के अन्तिम उद्देश्य एक ही हैं प्रत्येक अधिकार प्राप्ति का अन्तिम लक्ष्य अपने आप को इस प्रकार बनाना है जिससे समाज का सबसे अधिक कल्याण कर सकें, अर्थात् अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति कर सकें। अधिकार हमें अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्त करने के साधन उपस्थित करते

हैं। इन साधनों के अभाव में आदर्श वस्तु प्राप्ति असम्भव है। हमारे कर्त्तव्य का भी अन्तिम लक्ष्य यही है। प्रत्येक कर्त्तव्य हमें प्रेरणा देता है कि हम अपने अधिकार के द्वारा प्राप्त किये गये साधन को भली प्रकार काम में लावें, अर्थात् आदर्श स्वत्त्व को प्राप्त करें। अधिकार और कर्त्तव्य दोनों ही इस तरह मानव समाज में नैतिकता का विकास करते हैं। मनुष्य में नैतिकता का विकास सामाजिक संस्थाओं के द्वारा होता है। मानव समाज की ये सामान्य संस्थाएँ कुटुम्ब, कारखाने, नागरिक संघ, धर्म संस्था, राज्य और मित्रता है। अब हमें देखना है कि इन भिन्न भिन्न प्रकार की सामाजिक संस्थाओं के द्वारा मनुष्य अपने सामाजिक स्वत्वको कैसे प्राप्त करता है और इन संस्थाओं की मनुष्य के नैतिक विकास में क्या उपयोगिता है।

सामाजिक संस्थाओं की नैतिक उपयोगिता

कुटुम्ब—मानव समाज की सबसे व्यापक संस्था कुटुम्ब है। कुटुम्ब के बिना किसी मनुष्य का साधारणतः जीवित रहना सम्भव नहीं है। संसार के अधिक लोग जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त कुटुम में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। कुछ लोग दुर्भाग्यवश अथव किसी विशेष आदर्श को लेकर कुटुम्ब को छोड़ देते हैं। कुछ लोग अपने बाल बच्चों की मृत्यु के पश्चात् अकेले रह जाते हैं और कुछ प्रौढ़ावस्था में विवाह नहीं करते अथवा विवाहित होनेपर भी साधु-सन्यासी अथवा भिक्षुक बन जाते हैं। परन्तु ऐसे लोगों की संख्य समाज से बहुत कम लोगों की होती है। फिर बहुत थोड़े हैं ऐसे होते हैं जो कुटुम्ब में नहीं पाले जाते हैं, वरन् किसी अनाथालय में पाले जाते हैं। इन बालकों को नैतिक विकास का वह अवसर नहीं प्राप्त होता जो सामान्य बालकों को प्राप्त होता है। इसी प्रकार जिन लोगों के कुटुम्ब का विनाश किसी दुर्घटना के कारण हो जाता है, वे भी अभागे ही हैं। उन्हें भी अपने नैतिक विकास का वैसा अवसर नहीं

एक ही कुटुम्ब में बालक जब बहुत दिनों तक रहता है, उसी में पलता, बड़ा होता और फिर उसी में अपनी गृहस्थी बना लेता है तो कुटुम्ब का प्रत्येक व्यक्ति उसके लिये महत्त्व रखता है। कुटुम्ब के विभिन्न व्यक्तियों के आपस के व्यवहार, उनके मन में ऐसे संस्कार छोड़ जाते हैं, जिससे कि वे एक दूसरे के लिये प्रेम और ममत्व का अनुभव करें। मनुष्य के सामाजिक भावों के विकास के लिये कुटुम्ब ही प्रथम साधन है। नैतिकता के विकास के लिये भी कुटुम्ब की अत्यन्त आवश्यकता है।

कुटुम्ब एक स्वतंत्र संस्था है। इसके संचालन का सम्पूर्ण भार माता पिता पर रहता है। पितृ प्रधान कुटुम्बों में पिता का स्थान मुख्य रहता है और मातृ-प्रधान कुटुम्बों में माता का। अतः जैसे चाहें अपने बच्चों का लालन पालन करती हैं और पति-पत्नी का सम्बन्ध भी स्वेच्छानुसार बनते हैं, परन्तु कौटुम्बिक स्वतंत्रता संपूर्ण स्वतंत्रता नहीं है। कितने ही माता पिता अपने बच्चों को शिक्षित बनाने के लिये उत्सुक नहीं रहते। वे बच्चों की कमाई के लिये लालायित रहते हैं। अशिक्षित माता पिता छोटे छोटे बालकों को भी कारखानों में कार्य करने के लिये भेज देते हैं। इससे उनकी भारी हानि होती है बालकों को शिक्षित बनाने के लिये और उनसे कल कारखानों में काम कराने से रोकने के लिये राज्य को प्रयत्न करना पड़ता है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह राज्य के अन्दर रहने वाले किसी नागरिक का जीवन नष्ट न होने दे। वह परिवार को उतनी स्वतंत्रता दे जिससे कि परिवार के प्रत्येक सदस्य का अधिक से अधिक नैतिक विकास हो। कितने ही अशिक्षित परिवारों में स्त्रियों के ऊपर भारी अत्याचार होते हैं। उन्हें पशुओं सा कार्य करना पड़ता है और किसी काम में भूल हो जाने अथवा कहा सुनी हो जाने से, पशुओं जैसी दंडित भी की जाती है, अर्थात् उन्हें पशुओं सी ताड़ना मिलती है। राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह स्त्रियों पर होने वाले इस अत्याचार को रोके। इसके लिये राज्य को उचित नियम बनाना होगा। प्रत्येक व्यक्ति को वहीं तक स्वतंत्रता देना

उचित है जहाँ तक यह उसके नैतिक विकास में सहायक होती है। जब किसी प्रकार की स्वतंत्रता मनुष्य के नैतिक विकास में बाधक होती है तो ऐसी स्वतंत्रता को सीमित कर देना आवश्यक है। स्त्री और पुरुष दोनों में समानता का व्यवहार होना चाहिये। जहाँ प्रेम के अभाव के कारण ऐसा नहीं है, वहाँ पर राज्य को नियम बनाने पड़ते हैं कि स्त्रियों पर किसी प्रकार के अत्याचार न हों। साधारणतः लोकमत को इसके लिये जाग्रत करना पड़ता है। जब लोकमत जाग्रत हो जाता है, तब नियमों को बनाने की आवश्यकता नहीं रहती।

कारखाने—कारखाने भी मनुष्य के नैतिक विकास के साधन होते हैं। इनके द्वारा मनुष्य अपनी जीविका कमाता है। कारखानों का आधार कुटुम्ब के आधार से भिन्न है। कुटुम्ब पारस्परिक प्रेम पर निर्भर करता है और कारखाने आपस के समझौते पर। कुटुम्ब में समानता के व्यवहार होते हैं, किन्तु कारखाने में स्वामी और सेवक का व्यवहार होता है। कैटुम्बिक सम्बन्ध में जो अधीनता रहती है उसका हेतु बड़ों के द्वारा छोटों कि देख रेख रहती है, परन्तु कारखाने में किसी बाहरी स्वार्थ की प्राप्ति के हेतु एक दूसरे की आधीनता में कार्य करते हैं। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक है कि राज्य कारखानों के सम्बन्ध में उतनी स्वतंत्रता न दे जितना कि वह कौटुम्बिक सम्बन्धों में देती है। राज्य के लिये यह आवश्यक है कि वह ऐसे नियमों को बनावे जिससे कारखाने का मालिक अपने मजदूरों को बिलकुल अपना गुलाम न बना ले। आधुनिक काल में जैसे जैसे पूँजीवाद की वृद्धि होती जा रही है वैसे वैसे कारखानों का मालिक अपने मजदूरों के प्रति उदरता का व्यवहार कम करता जा रहा है। पुराने समय में किसी कारखाने का मालिक अपने कारखाने में कार्य करने वाले व्यक्ति के साथ अपने पुत्र जैसा व्यवहार करता था। वह उसके दुःख-सुख में सहानुभूति प्रगट करता था और सहायता करता था। वर्तमान समय में इस रीति का अन्त हो गया। अब केवल पैसे कमाने के लिये ही कारखाने का मालिक अपने नौकरों का ध्यान रखता

है और नौकर भी उसी प्रकार अपने मालिक की परवाह इसलिये करता है कि उसे उससे पैसा मिलता है।

इस प्रकार के नौकर और कारखाने के मालिक के बीच के सम्बन्ध उन दोनों की नैतिक हानि करते हैं। यदि नौकर और मालिक के बीच सद्भाव और सहानुभूति का सम्बन्ध हो तो अत्यन्त भला हो। यह सद्भाव उत्पन्न करने के लिये जितने तरीके आपस के सहयोग के होते हैं, उतने सबको काम में लाना चाहिये। कई मिल-मालिक अपने नौकरों को न केवल वेतन देते हैं, वरन् उनके मनोरंजन के लिये अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद की सुविधाएँ देते हैं। किसी मजदूर पर किसी प्रकार की आपत्ति आने पर उसे सहायता देते हैं। व्यापार में अधिक लाभ पर वे बोनस के रूप में अपने नौकरों को अधिक पैसा दे देते हैं। इससे मालिक और मजदूरों में सद्भावना रहती है। इससे दोनों की आर्थिक और लौकिक उन्नति तो होती ही है, उनका नैतिक विकास भी होता है।

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार के कारखानों को नैतिकता की दृष्टि से प्रोत्साहन देना चाहिये। इतना तो निश्चित है कि सभी प्रकार के कारखानों को राज्य को एकसा प्रोत्साहन नहीं देना चाहिये। जहाँ तक किसी कारखाने से ऐसी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे कि मानव जीवन सुखी और उन्नतिशील होता है और जहाँ तक किसी कारखाने से मनुष्यों की हानि नहीं होती, वहाँ तक प्रत्येक कारखाना प्रोत्साहन देने का पात्र है। तब फिर नैतिक दृष्टि से उन्हीं कारखानों की वृद्धि रोकना उचित है, जिनसे कि मनुष्यों का नैतिक पतन होता है। ये कारखाने ऐसे होते हैं जो प्रायः विलासिता की सामग्री उत्पन्न करते हैं, अथवा जिनमें मनुष्य को अपनी जान निरर्थक जोखिम में डालना पड़ता है। जब तक किसी कारखाना से मानव समाज का लाभ उससे होनेवाली हानि से अधिक नहीं है, तब तक नैतिक दृष्टि से ऐसे कारखानों को प्रोत्साहन देना अनुचित है।

वर्तमान काल में, जब कि प्रत्येक व्यक्ति जो अपने कारखाने खोलने

की स्वतंत्रता है और जो वस्तु वे उत्पन्न करना चाहते हैं उसके लिये उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त है, तब यह आवश्यक है कि राज्य इस बात को सदा देखता रहे कि कोई कारखाने का मालिक अपने इस अधिकार का दुरुपयोग तो नहीं कर रहा है। राज्य का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह देखे कि पूँजीपति लोग अपने नौकरों का शोषण तो नहीं करते और यदि वे ऐसा करते हैं तो इसे रोकने के लिये राज्य को नियम बनाना आवश्यक होता है। जब ऐसा नहीं होता और जब राज्य कुछ पूँजी-पतियों के हाथों की कठ पुतली बन जाता है, तब समाज में बड़ी बड़ी राज्यक्रान्तियाँ होती हैं, जिनके परिणाम स्वरूप मनुष्य के कारखाने खोलने की स्वतंत्रता छीन ली जाती है। फिर राज्य ही सभी कारखानों का संचालन करता है। नैतिक दृष्टि से ऐसी अवस्था में यह उचित भी है। वर्तमान काल की प्रगति-शील विचार-धारा राज्य द्वारा कारखानों के संचालन की व्यवस्था का समर्थन करती है।

नागरिक संघ—जिस प्रकार पहले दो प्रकार की सामाजिक संस्थाएँ मनुष्य के नैतिक विकास के लिये आवश्यक हैं उसी प्रकार नागरिक संघ भी मनुष्य के नैतिक विकास के लिये आवश्यक है। नागरिक संघ कई प्रकार के होते हैं। कितने ही नागरिक संघों का कार्य विशेष वर्ग के लोगों के विचारों का आदान प्रदान और एकता रखना होता है। कुछ व्यापार से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ नागरिक संघ नगर के सभी लोगों की उन आवश्यकताओं को पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं, जिन्हें सरकार पूरा नहीं कर सकती। इस प्रकार के संघ बड़े शहरों में होते हैं। नागरिक संघों के हाथ में स्वास्थ्य रक्षा की बातें, जनता की शिक्षा की बातें, पुस्तकालय आदि, भोजन की सामग्री की शुद्धता बनाये रखना और अनाथों के लिये भोजन का प्रबन्ध करना, ऐसे सभी कार्य रहते हैं। जो राष्ट्र जितना सभ्य होता है उसमें उतने ही सुव्यवस्थित नागरिक संघ होते हैं। इन नागरिक संघों के द्वारा मनुष्य अपने नैतिक उत्तरदायित्व को उठाना सीखता है। इनसे एक ओर तो अधि-

त लोगों का लाभ होता है और दूसरी ओर शिक्षित और सम्पन्न
गों का नैतिक लाभ होता है।

धर्म संस्थाएँ—धर्म संस्थाएँ समाज के नैतिक उपकार करने की
धन हैं। पुराने समय में धर्म संस्थाओं ने जितना मनुष्य के नैतिकता
ो दृढ़ बनाने के काम किया उतना और किसी संस्था ने नहीं किया।
र्म संस्थाएँ धनी और सम्पन्न लोगों को यह प्रेरणा देती थीं कि वे निर्धन
और असहाय लोगों की सहायता करें। धर्म पुस्तकों में इस प्रकार के काम
ी महत्ता दर्शायी जाती है। ये धर्म-ग्रन्थ सामान्य जनता पढ़ा करती है
और उसके कारण समाज के लोगों के विचार उदार होते हैं। धर्म पुस्तकें
हाँ एक ओर धनी लोगों को निर्धनों के प्रति दया भाव दिखाने की
रेणा देती हैं, वहाँ दूसरी ओर संसार के निर्धन लोगों को यह आश्वासन
ती हैं कि उनका जीवन निरर्थक नहीं है। वे अपने जीवन को तुच्छ न
मझें, धन ही संसार की सबसे मूल्यवान वस्तु नहीं है। धन के अति-
रिक्त दूसरी वस्तुएँ भी हैं, जिनका मूल्य धन से कहीं अधिक है। ये मूल्य-
वान वस्तुएँ धनी मनुष्य की अपेक्षा निर्धन मनुष्य को अधिक सरलता से
मिलती हैं। मनुष्य जो एक ओर भौतिक संसार में खोता है वह दूसरी
ओर आध्यात्मिक संसार में पा लेता है।

इस प्रकार के गरीबों के विचार धनी लोगों के प्रति ईर्ष्या की आग
को शान्त कर देते हैं। धर्म संस्थाओं के अभाव में यह आग एक भीषण
विभीषिका का रूप धारण कर ले सकती है और जिसके कारण सम्पूर्ण
समाज नष्ट भ्रष्ट हो जा सकता है। जिस देश में धर्म संस्थाएँ नहीं हैं,
उस देश में मनुष्यों के एक दूसरे के प्रति द्वेष को रोकने वाली कोई
वस्तु नहीं है। धर्म संस्था रहित समाज सदा अशान्त रहता है।

धर्म संस्थाएँ मनुष्य की अनैतिक वासनाओं को नियंत्रण में लाती
हैं। धर्म संस्थाओं में अन्याय और पाप के विरुद्ध जो बातें कही जाती
हैं, उससे अत्याचारी और पापी मनुष्यों को आन्तरिक भय होता है।
धर्म संस्थाओं के विचार मनुष्य की नैतिक बुद्धि बना देते हैं। सत्र

कोई मनुष्य अपनी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल कार्य करता है, तो उसक नैतिक बुद्धि अथवा अन्तरात्मा संताप उत्पन्न करती है अर्थात् उसे पा के बाद पश्चात्ताप होता है। इस प्रकार मनुष्य की अनैतिक भावनाएँ नियंत्रण में रहती हैं।

पुराने समय में समाज के धर्म-गुरु, पंडित, पुरोहित, पादरी आदि समाज में वही स्थान रखते थे, जो किसी सुव्यवस्थित घर में पिता रखता है। वे समाज के सभी लोगों के लिये उनके शुभ कार्यों में उनके पथ प्रदर्शक होते थे। किसी प्रकार का मानसिक क्लेश होने पर वे आन्तरिक यंत्रणा पानेवाले व्यक्ति को सान्त्वना देते थे। वे समाज के लोगों को नैतिक भूल करने से रोकते ही न थे, पर यदि उनसे कोई नैतिक भूल हो जाये तो उस भूल के लिये प्रायश्चित् का मार्ग भी बताते थे। इस प्रकार प्राचीन-धर्म गुरु समाज में नैतिक साम्य स्थिति बनाये रखते थे।

पुराने समय में धर्म संस्थाएँ समाज में जो महत्त्व का कार्य करती थीं और उनका कार्य क्षेत्र जितना व्यापक था, इसकी वर्तमान समय में हम कल्पना भी नहीं कर सकते। विवाह शादी, जन्म-मरण, त्योहार, उत्सव, पुत्र का माता पिता से सम्बन्ध और माता-पिता का पुत्र से सम्बन्ध, पति पत्नी के सम्बन्ध, पड़ोसी सम्बन्ध आदि सब बातें धर्म संस्थाओं के द्वारा नियंत्रित रहती थीं। वर्तमान काल में धर्म संस्थाओं का कार्य उतना व्यापक नहीं है, जितना पहले था। परन्तु फिर भी पुराने ढाँचे पर चलने वाले देशों में धर्म संस्थाएँ समाज में बड़े महत्त्व का कार्य करती हैं।

वर्तमान काल में धर्म संस्थाओं को प्रगतिशील विचार के लोग हेय दृष्टि से देखने लगे हैं। वे इन संस्थाओं को समाज की प्रगति में बाधक समझते हैं। धर्म संस्थाओं के इस प्रकार हेय दृष्टि से देखे जाने के मुख्य दो कारण हैं—(१) विभिन्न धर्मों का आपस में संघर्ष और (२) धर्म को पूँजी पतियों द्वारा धन कमाने का साधन बनाना। वर्तमान काल में संसार में अनेक प्रकार के धर्म अथवा धर्म मत प्रचलित

। इन धर्म-मतों के कई सिद्धान्त एक दूसरों के विरोधी हैं। प्रत्येक धर्म के लोग दूसरे धर्म के लोगों को अपना शत्रु मानते हैं और उन्हें नष्ट करने की चेष्टा करते हैं। प्रत्येक धर्म कहता है कि हमारा मत ही सच्चा है और दूसरे लोग झूठे हैं। धर्म के अन्ध अनुयायियों में मानवता की वे बातें नहीं रह जातीं जो कि मनुष्य के नैतिक विकास के लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। इस प्रकार ये धर्म-संघर्ष मानव स्वभाव को ऊँचा न उठाकर उसे और नीचा गिराते हैं। जो काम मनुष्य साधारणतः मानवता की दृष्टि से नहीं करेगा वही वह धर्मान्धता की धुन में आकर कर डालता है। कितने ही कट्टर धर्म-पंथी अपने धर्म की रक्षा के लिये दूसरे धर्म के लोगों पर जंगली पशुओं से भी अधिक बुरा व्यवहार करते हैं। लूट, चोरी, हत्या, स्त्रियों का अपहरण, बच्चों पर अत्याचार इत्यादि सभी दानवी कार्य धर्म के नाम पर होते रहते हैं और धर्म संस्थाएँ इनका समर्थन करती हैं। धर्म संस्थाओं की ये करतूतें देखकर समाज के विचारवान व्यक्तियों का मन इन संस्थाओं से ऊब गया है। वे चाहते हैं कि इनसे किसी प्रकार मानव समाज का पिण्ड छूटे। समाज के विवेकशील व्यक्तियों के लिये यह घृणास्पद वस्तु बन गई है।

धर्म संस्थाओं के विरुद्ध आधुनिक काल में यह बात आती है कि वे अब गरीबों की रक्षा न करके उनके धनियों द्वारा शोषण का समर्थन करती हैं। साम्यवादियों के कथनानुसार समाज के धनी लोग इन संस्थाओं के पंडे पुजारियों को खरीद लेते हैं। ये लोग धनियों के टुकड़े खाते हुए समाज के गरीब लोगों को ऐसा परामर्श देते हैं जिससे कि वे धनिकों के अत्याचार के प्रति विद्रोह न करें। धर्म सामान्य जनता के लिये अफीम का काम करता है। सामान्य जनता जब अफीम के नशे में रहती है, तब निर्धनों लोगों का धनी लोगों द्वारा शोषण कार्य सरल हो जाता है।

वर्तमान धर्म संस्थाओं के विषय में ये सब बातें अवश्य कही जा सकती हैं, परन्तु जब तक इन संस्थाओं के बदले दूसरी किसी प्रकार

की संस्थाएँ समाज में नहीं हैं, तब तक इन संस्थाओं की उपस्थिति समाज को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिये अत्यन्त आवश्यक है। धर्म संस्थाओं का भ्रष्ट हो जाना एक दुःख की बात है। धर्म संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का नैतिक सुधार है। ये संस्थाएँ लौकिक मूल्यों के अतिरिक्त दूसरे मूल्यों की ओर मनुष्य की दृष्टि ले जाती हैं; परन्तु यदि इन संस्थाओं में भी लौकिकता आ जाये, तो समाज का कल्याण होना कैसे सम्भव है? यदि शक्कर अपनी मिठास छोड़ दे तो उसे किस पदार्थ से मीठा बनाया जा सकता है? हम इतना ही कह सकते हैं कि यदि वर्तमान धर्म संस्थाएँ अपने मुख्य उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर रही हैं, अर्थात् वे मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक विकास में यदि सहायक नहीं हो रही हैं, तो हमें समाज को सुव्यवस्थित रखने के लिये दूसरे प्रकार की धर्म संस्थाओं की स्थापना करनी होगी। धर्म संस्थाएँ ऐसी होंगी जिनके द्वारा मनुष्य नैतिक आचरण करना सीखेगा और केवल बहिर्मुखी न हो कर अपनी आध्यात्मिक उन्नति करने की चेष्टा करेगा। वर्तमान काल में न तो पुरानी धार्मिक-संस्थाओं के प्रति सभ्य समाज की कोई वास्तविक श्रद्धा है और न ऐसी नई संस्थाओं का निर्माण हुआ है, जिससे मानव समाज का वास्तविक आध्यात्मिक विकास हो। यह स्थिति एक बड़ी भयावह स्थिति है। ऐसी स्थिति में समाज के विनाश को रोकने के लिये कोई भी प्रबल साधन नहीं है। संसार के प्रमुख विद्वान अब इस अभाव की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील हैं। यदि उनका परिश्रम सफल हुआ तो समाज का भारी उपकार होगा।

राज्य—मनुष्य के नैतिक विकास के लिये जिस प्रकार उपर्युक्त चार प्रकारों की संस्थाओं की आवश्यकता है उसी प्रकार राज्य की भी आवश्यकता है। प्राचीनकाल में राज्य का कार्य-क्षेत्र इतना अधिक नहीं था जितना वर्तमान काल में है। प्राचीन काल में राज्य का मुख्य कर्तव्य समाज के लोगों की जान-माल की रक्षा करना था। यदि किसी एक राष्ट्र पर दूसरा राष्ट्र आक्रमण करता है, तो उस राष्ट्र की सरकार का यह कर्त-

च्य होता है कि वह राष्ट्र के लोगों का संगठन करके आक्रमणकारी के विरुद्ध लड़े और राज्य के भीतर रहने वाले लोगों की किसी प्रकार क्षति न होने दे। वर्तमान काल में राज्य का इतना काम तो है ही, इसके अतिरिक्त राज्य दूसरे अनेक कार्य करता है। नागरिकों को सुशिक्षित बनाना, समाज की कुप्रथाओं को बन्द करना, यातायात के साधनों को सुलभ करना, व्यापार के लिये सुविधाएँ प्रदान करना, बेकारों को काम देना, कुटुम्ब के आपस के सम्बन्ध के विषय में नियम बनाना—ये सभी काम आधुनिक काल में राज्य करने लगा है। अतएव यदि किसी देश की राज्य व्यवस्था ठीक है तो उसके नागरिकों का समुचित नैतिक विकास होता है, और यदि यह प्रणाली दोष पूर्ण है तो नागरिकों का नैतिक पतन होना निश्चित है। जिस संस्था का कार्यक्षेत्र जितना अधिक होता है, उसका नैतिक उत्तरदायित्व भी उतना ही अधिक होता है, वह संस्था समाज का उतना ही अधिक कल्याण अथवा हानि कर सकती है।

प्राचीन काल में राज्य के हाथ में नागरिकों की शिक्षा का कार्य नहीं था। यह कार्य प्रायः समाज की धर्मसंस्थाओं के हाथ में था। परन्तु वर्तमान काल में नागरिकों की शिक्षा का उत्तरदायित्व सरकार के हाथ में आ गया है। शिक्षा ही मनुष्य के नैतिक विकास का प्रमुख साधन है। प्राचीन काल में शिक्षा के साधन भी उतने अधिक नहीं थे जितने कि वर्तमान काल में हैं। वाचनालय, पत्र-पत्रिकाएँ, क्लब, सिनेमा, रेडियो, आदि द्वारा जो नागरिकों की शिक्षा वर्तमान काल में हो सकती है उसकी कल्पना भी प्राचीन काल के लोग नहीं कर सकते थे। वर्तमान काल में केवल स्कूल ही नागरिकों के शिक्षालय नहीं है, वरन् सारा समाज ही शिक्षालय बन गया है और इसपर पूर्ण नियंत्रण राज्य के अधिकारियों का रहता है। अतएव राज्य अपने नागरिकों को जैसा बनाना चाहता है वैसा बनाता है। यदि राज्य से नागरिकों की नैतिक क्षति हो सकती है, तो उससे उनका नैतिक विकास भी हो सकता है।

सत्रहवाँ प्रकरण

मनुष्य के ऋण[1] और कर्तव्य[2]

कर्तव्य का स्वरूप:—कर्तव्य शास्त्र का एक मुख्य कार्य यह है कि वह नैतिकता के अन्तिम लक्ष्य को निश्चित करके मनुष्य के सामान्य अथवा विशेष कर्तव्यों को बतलाये। संसार के सभी सभ्य कही जाने वाली जातियों में मनुष्य के कर्तव्यों का लेखा रहता है। यहूदी और ईसाई संस्कृति के लोगों में मनुष्य के कर्तव्यों को धर्म की दस आज्ञाओं के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ये दस आज्ञाएँ मनुष्य को समाज में रहने के लिए उचित शील का ज्ञान कराती हैं और उसे शीलवान बनने के लिए प्रेरित करती हैं। इसी प्रकार भारतीय विद्वानों ने मनुष्य के दस धर्म बताये हैं, जिनका उल्लेख मनुस्मृति में पाया जाता है। इन दस धर्मों से नैतिकता का स्वरूप बहुत कुछ प्रत्यक्ष होता है, परन्तु इन कर्तव्यों अथवा धर्मका नैतिक आदर्श में समावेश होता है। नीति शास्त्र का मुख्य कार्य मनुष्य के किसी विशेष कर्तव्य को बताना नहीं वरन् उसे एक ऐसे नियम को दर्शाना है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने आप ही यह पहचान करे कि उसका कर्तव्य क्या है और क्या नहीं है।

मनुष्य के कर्तव्य पहले तो उसके अधिकारों के कारण उत्पन्न होते हैं। जहाँ मनुष्य को किसी प्रकार का अधिकार है वहाँ उसे कर्तव्य भी है। प्रत्येक अधिकार के साथ कर्तव्य लगा हुआ है, परन्तु कर्तव्य का क्षेत्र अधिकार के क्षेत्र से अधिक विस्तृत है। समाज में अनेक प्रकार की संस्थाएँ हैं और मनुष्य समाज के दूसरे अनेक मनुष्यों से विभिन्न प्रकार का सम्बन्ध रखता है। ये संस्थाएँ तथा उसके सम्बन्धी उसके जीवन को सुखी बनाने में सहायक होते हैं। अतएव इन संस्थाओं के

1. Obligations. 2. Duties

प्रति और सम्बन्धियों के प्रति मनुष्य का कर्त्तव्य है। अपने बच्चों को पालना माता-पिता का कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्य की पूर्ति इसलिये नहीं की जाती कि उसके साथ साथ कोई अधिकार जुड़ा हुआ है, वरन् बालकों का पालन माता-पिता का इसलिये कर्त्तव्य है कि वे वैसा किये बिना सुखी नहीं रह सकते और न अपने आदर्श स्वत्व की प्राप्ति कर सकते हैं।

मनुष्य के सामान्य कर्त्तव्य

मनुष्य के कुछ सामान्य कर्त्तव्यों की ओर यहाँ ध्यान दिलाना आवश्यक है। नीति-शास्त्र के विभिन्न मतों के विद्वान् भिन्न-भिन्न प्रकार से इन कर्त्तव्यों का लेखा देते हैं। इन में से कुछ कर्त्तव्य नीचे दिये जाते हैं—

जीवन का आदर—मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है कि वह दूसरे के प्राणों का हरण न करे। इस कर्त्तव्य को बुद्ध भगवान् ने अहिंसा के कर्त्तव्य के नाम से बताया और ईसाई मत में भी इसे दूसरे की जान मत लो, ईसा के इस आदेश में दर्शाया है। पिछले प्रकरण में जान रक्षा के अधिकार की चर्चा की गई थी। इस अधिकार के साथ साथ यह कर्त्तव्य भी आता है कि दूसरे लोगों के जान की रक्षा भी उसी प्रकार की जाय जिस प्रकार हम अपने जान की रक्षा चाहते हैं। इस कर्त्तव्य को भारतीय नीतिशास्त्र में अहिंसा का कर्त्तव्य कहा गया है। मनु भगवान् ने इसे धर्म के दस लक्षणों में से एक बताया है। बुद्ध भगवान् ने इसे पञ्चशील के अन्तर्गत माना है। इसी प्रकार पश्चिमी विद्वानों ने भी अहिंसा को नैतिक आचरण में बड़ा महत्त्व का स्थान दिया है।

परन्तु, अहिंसा का अर्थ इतना ही न समझना चाहिए कि हम केवल दूसरे की जान न लें। इस का व्यापक अर्थ यह है कि ऐसा कोई भी काम जान बूझकर न किया जाय जिससे अपनी या किसी

दूसरे व्यक्ति की किसी प्रकार की शारीरिक क्षति हो। हर्बर्ट स्पेंसर महाशय ने दूसरे के प्राण रक्षा के नकारात्मक पक्ष की अपेक्षा सकारात्मक पक्ष पर ही अधिक जोर दिया है; अर्थात् हमें अपनी जान की रक्षा के लिये और दूसरे की जान की रक्षा के लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

स्वतन्त्रता का आदर—हमारा दूसरा नैतिक कर्त्तव्य दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता का आदर करना है। किसी व्यक्ति के जीवन के स्वतंत्र विकास में हमें बाधा नहीं डालना चाहिए। हमें दूसरों के लिए वही काम करना चाहिए जो उनके जीवन के विकास में सहायक हों। छोटे बालक अथवा बुद्धिहीन लोग अपने जीवन का विकास बिना बड़ों की सहायता के नहीं कर सकते, अतएव उनको उतनी ही स्वतंत्रता दी जा सकती है, जितना कि वे काम में ला सकते हैं, परन्तु सुशिक्षित प्रौढ़ व्यक्तियों के स्वतंत्रता में बाधा डालना नैतिक अन्याय है। प्रत्येक व्यक्ति को हमें एक मनुष्य के रूप में मानना चाहिए न कि किसी जड़ पदार्थ के रूप में। यह कर्त्तव्य हमें दूसरों को दास बनाने, उन पर अत्याचार करने, उन का शोषण करने आदि बातों से रोकता है। यह कर्त्तव्य पहले कर्त्तव्य से मिलाजुला है। यह वास्तव में अहिंसा के व्यापक अर्थ में समाविष्ट होता है।

चरित्र का आदर—प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने चरित्र को बनाये और दूसरों के चरित्र को बनाने में सहायता दे। वह ऐसी कोई बात न करे जिससे अपने अथवा दूसरों के चरित्र का ह्रास हो। यह एक ऐसा व्यापक कर्त्तव्य है जिसके अन्तर्गत बहुत से कर्त्तव्य आ जाते हैं। यह सकारात्मक कर्त्तव्य है। हमें न केवल ऐसा कोई काम करने से अपने आपको रोकना ही चाहिए जिससे दूसरे की हानि हो, वरन् ऐसे काम भी करना चाहिए जिससे दूसरों का भौतिक आध्यात्मिक लाभ हो।

सम्पत्ति का आदर—सम्पत्ति का आदर 'चोरी न करो'-इस धार्मिक आदेश के रूप में आता है। इस आदेश का समावेश एक प्रकार से पूर्व कथित आदर्शों में आ जाता है। यह कर्त्तव्य अहिंसा के व्यापक अर्थ के अन्तर्गत है। यह हमें दूसरे लोगों के जीवन-अर्जन के साधन के विनाश से रोकता है। दूसरे के धन का अपहरण करना अथवा दूसरे के मान का हरण करना उस को क्षति पहुंचाना है। उक्त कर्त्तव्य न केवल हमें दूसरे के धन चुराने से रोकता है, वरन् हमें अपने उपार्जित धन के सदुपयोग करने को बाध्य करता है। हमें अपनी सम्पत्ति अपनी न समझना चाहिए, बल्कि उसे समाज की समझना चाहिए। हमें कोई अधिकार नहीं है कि हम अपने ही घर में रक्खे हुए अन्न को सड़ने दें अथवा पेटी में बन्द वस्त्रों में कीड़े लगने दें, इन पदार्थों को हमें स्वयं अथवा दूसरे के उपयोग में लाना चाहिए। अपना समय आलस्य में बिताना भी इस दृष्टि से सम्पत्ति के आदर करने के कर्त्तव्य की अवहेलना करना है। यदि हम स्वयं काम नहीं करते हैं, तो हम अपने आप जीवित रहकर समाज के ऊपर भार बने हैं। हम अपने व्यय के लिए जो धन चाहते हैं वह दूसरों के परिश्रम से कमाया हुआ रहता है। इस धन को खर्च करके हम सामाजिक चोरी करते हैं। *

---

* गीता में कृष्ण भगवान् ने कहा—

यज्ञ शिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोन्यः कुरुसत्तम ॥ ४-३१ ॥

भावार्थ यह है कि यज्ञ से बचे हुए पदार्थ को जो उपभोग करते हैं, वे परमानन्द को प्राप्त करते हैं इसके प्रतिकूल जो लोग बिना यज्ञ के सांसारिक पदार्थों का उपभोग करते हैं, वे न इस लोक में सुखी रहते हैं न परलोक में।

यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ त्याग, परिश्रम आदि है। जो मनुष्य बिना परिश्रम के खाता है वह वास्तव में चोर ही है।

सामाजिक व्यवस्था के लिये आदर—सामाजिक व्य
लिये आदर के कर्त्तव्य में अनेक कर्त्तव्यों का समावेश
सामाजिक व्यवस्था कुटुम्ब, वर्ण, राज्य, आदि संस्थाओं
रहती है। इन सभी के नियमों का पालन करना स
व्यवस्था के प्रति कर्त्तव्य पालन करना है। कभी
जानते हैं कि घर के बड़े लोग किसी बात में भूल कर
तिस पर भी जब तक कोई भारी अनर्थ की आशंका न
उनकी आज्ञाओं का पालन करते हैं और उनके कामों में
देते हैं। इसी तरह राज्याधिकारी भूलें करते हैं परन्तु फिर
राज्य के विरुद्ध विद्रोह न करके उनके नियमों का पालन
अपना कर्त्तव्य समझते हैं। एक सिपाही जब युद्धक्षेत्र में
रहता है, तब यह उसका कर्त्तव्य होता है कि वह अपने
की आज्ञा माने। यदि वह यह जानता भी हो कि सेनाप
संचालन ठीक नहीं कर रहा है, फिर भी उसके लिये सेनाप
आज्ञा मानना उचित है और उसकी आज्ञा के विरुद्ध जाना
सैनिक अपराध है वरन् नैतिक अपराध भी है। जब कोई
किसी संस्था विशेष का सदस्य होता है तब उसका यह
होता है कि वह उस संस्था के नियमों का पालन करे और
उस अधिकारियों की आज्ञा का पालन करे। यदि इस संस्थ
कोई अधिकारी अयोग्य है, तो उसके प्रतिकूल उसका विद्रोह
नैतिक कार्य नहीं माना जायगा। जब तक वह संस्था को भला
है और उसका सदस्य बना हुआ है उसे संस्था के उच्चाधिक
की आज्ञा में ही रहना चाहिये।

के क्षेत्र में देखा जाता है कि किसी दल में शरि
...त् मनुष्य अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व को दल के
... देता है। दल की कुछ बातें उसे भली लगती हैं
...। कुछ को वह उचित समझता है और कुछ को अनु

किन्तु जब तक वह उस दल का सदस्य बना हुआ है उसे अपने दल के नियम के अनुसार काम करना होगा और उसके लक्ष्य की प्राप्ति में पूर्ण सहयोग देना होगा। समाज व्यवस्था इसी प्रकार दृढ़ रहती है।

सत्य के प्रति आदर[1]:—संसार के सभी नीति-शास्त्रज्ञों ने सत्य को धर्म का एक प्रधान लक्षण माना है। बाइबिल में कहा गया है कि 'तुम झूठ मत बोलो' यह ईसाई धर्म की आज्ञा है। इस आज्ञा का दो प्रकार का अर्थ हो सकता है। प्रथम तो प्रत्येक मनुष्य को अपने वचन के अनुसार अपना कार्य करना चाहिये, दूसरे उसे अपनी वाणी में वही कहना चाहिये जो उसकी वास्तविक इच्छा है। कुछ पहले प्रकार के सत्य का तो पालन कर लेते हैं, किन्तु दूसरे प्रकार के सत्य का पालन नहीं करते। पहले प्रकार का सत्य किसी प्रकार के समझौते में देखा जाता है। जो व्यक्ति अपने वचन के अनुसार कार्य करता है वह पहले प्रकार के सत्य का पालन करता है और जो व्यक्ति दूसरे को किसी प्रकार से धोखा नहीं देना चाहता वह दूसरे प्रकार के सत्य का पालन करता है।

मनुष्य दो प्रकार से मिथ्या आचरण कर सकता है—एक किसी काम को कह कर उसको पूरा न करके और दूसरा अपने स्वभाव अथवा आचरण से कुछ ऐसी आशाएँ दूसरों के मन में उत्पन्न करके, जिन्हें वह पूरा नहीं करना चाहता है। दूसरे प्रकार के आचरण में शब्दों का झूठ नहीं है, परन्तु वास्तविक झूठ है। इस प्रकार हम वाणी का झूठ और कार्य का झूठ—दो प्रकार का पाते हैं। संसार के चालाक मनुष्य इस प्रकार का झूठ बोलते हैं कि उनका झूठ पकड़ में नहीं आता। वे वाणी से झूठ नहीं बोलते, वरन् अपने कार्यों में झूठ को अभिव्यक्त करते हैं।

---

1. Respect for truth.

संख्या घटाई या बढ़ाई भी जा सकती है। एक एक कर्त्तव्य के अन्तर्गत अनेक दूसरे कर्तव्य कहे जा सकते हैं। अब प्रश्न यह है कि जब दो प्रकार के कर्त्तव्यों में आपस में विरोध हो तो मनुष्य को किस कर्तव्य को मानना चाहिये। मान लीजिये, सत्य बोलने का कर्तव्य और किसी के जीवन के रक्षा के कर्तव्य में आपस में विरोध होता है; कोई मनुष्य क्रोध में आकर घातक हथियार लिये एक दूसरे मनुष्य का पीछा कर रहा है। दूसरा मनुष्य जान बचाने के लिये कहीं छिप जाता है। हम उसके छिपे हुए स्थान को जानते हैं। हत्या की इच्छा रखनेवाला मनुष्य अब यदि हमसे पूछता है कि उसका शत्रु कहाँ छिपा है तो हम धर्मसंकट में पड़ जाते हैं। यदि हम सत्य बोलने के कर्त्तव्य का पालन करते हैं, तब जीव रक्षा के कर्त्तव्य पालन की अवहेलना होती है और यदि हम जीव रक्षा के कर्त्तव्य का पालन करते हैं, तो सत्य बोलने के कर्त्तव्य की अवहेलना होती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य को क्या करना चाहिये? जो शास्त्र इन धर्म संकटों के प्रश्नों को हल करने की चेष्टा करता है और इसके लिये अनेक प्रकार के कर्त्तव्य के भाष्य[1] उपस्थित करता है तथा नियम एवं उपनियम बनाता है उसे कर्त्तव्यवार्तिका कहा जाता है। *

हमारे विभिन्न प्रकार के कर्त्तव्यों में जीवन में विरोध उपस्थित होना अनिवार्य है। जीवन एक जटिल समस्या है। इसको सुचारू से चलाना सरल नहीं है। जो नियम जीवन को सरल बनाने के लिये बनाये जाते हैं, उनमें किसी परिस्थिति में आपस में संघर्ष या विरोध अवश्य हो जाता है। कोई न कोई परिस्थिति ऐसी अवश्य आ जाती है जब हमें उपर्युक्त प्रत्येक नैतिक कर्त्तव्य के प्रतिकूल

1. Interpretation.

* "Casuistry consists in the effort to interpret the precise meaning of the commandments, and to explain which is to give way when a conflict arises. —Mackenzie, *A Manual of Ethics*

आचरण करना पड़ता है। सामान्य व्यक्तियों में इतनी बुद्धि नहीं रहती कि वे किसी परिस्थिति में कर्त्तव्य के किस नियम को तोड़ सकते हैं; अतएव कर्त्तव्यवार्तिका की आवश्यकता होती है। कर्त्तव्यवार्तिका नियमों को तोड़ने के लिए नियम बनाती है; अर्थात् यह यह बताने की चेष्टा करती है कि किस परिस्थिति में हम किस नियम की अवहेलना कर सकते हैं। इस प्रकार की कर्त्तव्यवार्तिकाओं को बनाने का प्रयत्न सबसे अधिक ईसाई धर्म के जैसूट मत के लोगों ने किया था। इसका विरोध फ्रान्स के प्रसिद्ध विद्वान् पैसिकल महाशय ने किया है। उनका कथन था कि पहले तो आचरण के लिये नियम बनाना ही ठीक नहीं है। मनुष्य की अन्तरध्वनि ही उसे भले-बुरे का निर्णय देने के लिये पर्याप्त है। फिर यदि मनुष्य आचरण के लिये नियम भी बनाये तो क्षम्य माना जा सकता है; परन्तु जब वह इन नियमों को तोड़ने के नियम बनाने लगता है, तो वह एक असभ्य कार्य करता है। इस प्रकार के नियमों को बनाने से कर्त्तव्य की समस्या उलझ जाती है, सुलझती नहीं। कर्त्तव्यवार्तिका से कर्तव्यों की संख्या अत्यधिक बढ़ जाती है और वे एक दूसरे से इतने अधिक-उलझ-जाते हैं कि फिर किसी नियम का पालन करना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार की कर्तव्यवार्तिकाओं का दुरुपयोग होता है। कुशल बुद्धि के लोग इनके द्वारा अपने किसी भी अनैतिक कार्य को नैतिक सिद्ध करने की चेष्टा में लग जाते हैं।

जब दो धर्म-आज्ञाओं का कर्तव्य के नियमों में संघर्ष हो, तो नये नियमों को बनाना उचित नहीं है, वरन् हमें ऐसी अवस्थामें सभी नियमों के सर्वोपरि नियम की शरण लेना चाहिये और हमें देखना चाहिये कि कौन सा छोटा नियम बड़े नियम को अधिक

कर्तव्यवार्तिका की उपयोगिता के विषय में जिस प्रकार १६ वीं शताब्दी के नीति-शास्त्रज्ञों में मतभेद था उसी प्रकार २० वीं शताब्दी के नीति-शास्त्रज्ञों में भी मतभेद है। रशडाल, मूर और लेअर्ड महाशय कर्त्तव्यवार्तिका के समर्थक हैं। ब्रैडले, मैकेंजी और ह्वाइटहेड इसके विरोधी हैं। ब्रैडले महाशय का कथन है कि जिस प्रकार तार्किक विचार की वृद्धि तार्किक नियमों को बनाने से नहीं होती, उसी प्रकार नैतिक विचार की वृद्धि नैतिक नियमों को बनाने से नहीं होती। दोनों प्रकार के विचारों की वृद्धि अपने अपने मापदड के खोज करने से होती है। जब तार्किक विचार कला बन जाता है तब उसका ह्रास होता है, उसी प्रकार जब नैतिक विचार कला का रूप धारण कर लेता है तब नैतिक विचार का भी ह्रास हो जाता है। मैकेंजी महाशय ब्रैडले महाशय के कथन के समर्थक हैं। उनका कथन है कि तर्क-शास्त्र और नीति-शास्त्र को कला नहीं मानना चाहिए। जिस प्रकार सौन्दर्य शास्त्र किसी कवि, चित्रकार अथवा संगीतज्ञ को यह नहीं बतलाता है कि वह कैसे अपना कार्य करे, वरन् वह अपनी रुचि और बुद्धि के अनुसार उसे अपने काम करने देता है, इसी प्रकार तर्कशास्त्री अथवा नीतिशास्त्रज्ञ किसी व्यक्ति को यह नहीं बताता कि वह कब किस नियम का पालन करे और कब किस नियम को तोड़े। नीतिशास्त्रज्ञ का कर्त्तव्य इतना ही है कि वह नैतिकता के उच्चतम सिद्धान्त को बतादे और फिर वह प्रत्येक व्यक्ति पर यह छोड़ दे कि वह अपने समझ के अनुसार उस सिद्धान्त से भिन्न भिन्न नियमों को निकाले जो उसे अपने आचरण को ठीक बनाने में सहायता दे।

राज्य समाज के सुचारु रूप से संचालन करने के लिए कुछ नियम एवं कानून बनाता है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध रूप से चलाने के लिए कुछ नियम बना लेता है, परन्तु इस प्रकार के नियमों का बनाना एक व्यवहारिक बात है। उसके

लिए मनुष्य अपने अनुभव और योग्यता से काम लेता है। ये नियम कुछ व्यापक सिद्धान्तों के ऊपर निर्धारित होते हैं। राजनैतिक व्यापक सिद्धान्त के आधार पर समाज संचालन और राष्ट्र संचालन के लिए व्यापक नियम बनते हैं। और नीति-शास्त्र के व्यापक सिद्धान्तों के आधार पर मानव जीवन के संचालन के लिए नियम बनाये जाते हैं। सिद्धान्तों को निश्चित करना शास्त्रज्ञों का कर्त्तव्य है और नियमों को बनाना व्यवहार कुशल व्यक्ति का कर्तव्य है।

हमारे जीवन में अनेक ऐसी समस्याएँ आती रहती हैं, जिनके निर्णय के लिए हमें नैतिक नियमों की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु केवल नैतिक नियमों का ज्ञान इन प्रश्नों को हल करने के लिए पर्याप्त नहीं होता है। मैं अविवाहित रहूँ या विवाह करलूँ, मैं वकील बनूँ या डाक्टर, कितना धन दान में दूँ, मैं कविता पढ़ने में कितना समय दूँ, इत्यादि प्रश्न ऐसे हैं, जिनका हल करने के लिए हमें न केवल नैतिक नियमों की आवश्यकता होती है, वरन् जीवन के अनुभव और दूसरे प्रकार के विज्ञानों की भी आवश्यकता होती है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन सभी प्रश्नों को हल करने के लिए नैतिकता के मापदंड को ध्यान में रखना पड़ता है।

कुछ प्रश्न ऐसे अवश्य हैं, जिन्हें केवल नैतिकता को ध्यान में रखकर ही हल किया जा सकता है। मुझे किसी अवसर पर झूठ बोलना चाहिए या नहीं, समाज के रूढ़ियों की अवहेलना करना चाहिए या नहीं और किसी अनुचित राज्य नियम को तोड़ना चाहिए अथवा नहीं, ये प्रश्न केवल नैतिक प्रश्न हैं। इन प्रश्नों को हल करने के लिए कुछ लोगों के कथनानुसार कर्त्तव्यशास्त्रिकाओं की आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ, रशडाल महाशय का कथन है कि किसी व्यक्ति को ऐसा सत्य न कहना चाहिए जिससे उसके धार्मिक विश्वासों पर आघात पहुँचे। मनुष्य का धर्म विश्वास उसको शान्ति प्रदान करता है, अतएव यदि किसी सत्य कथन से उसके धर्म विश्वास

पर आघात पहुँचता है, तो उसे उस सत्य को नहीं कहना ही अधिक अच्छा है। स्वयं रसधाल महाशय एक पादरी थे। बाइबिल में लिखा है कि ईसामसीह बिना किसी मानवीय प्रेम के कुमारी के गर्भ में आये थे। इस कथन को सत्यता में स्वयं रशधाल महाशय विश्वास नहीं करते थे। उनका विचार था कि जिस प्रकार संसार के अन्य लोग उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार ईसामसीह का भी जन्म हुआ था। परन्तु उन्होंने कभी भी अपने इस विश्वास को अपने गिरजाघर में उपदेश सुनने वाली जनता के समक्ष नहीं कहा। वे उनके सामने बाइबिल की उसी बात को दुहराते रहते थे जिसे वे स्वयं असत्य समझते थे। इस प्रकार उनके कर्त्तव्यवार्तिका उनके अपने आचरण में सहायता देती थी।

मैकेंजी महाशय का कथन है कि इस प्रकार की कर्तव्यवार्तिकाएँ व्यर्थ है। कर्तव्य वार्तिकाओं को नैतिकता में स्थान देना नीति-शास्त्र को कानून की पोथी बना देना है। कानून की पोथियों में अनेक नियम और उपनियम होते हैं। कौनसा नियम किस परिस्थिति में लागू होता है, इस पर वकील बहस करते हैं। इस बहस में बुद्धि की चतुराई और स्मरण शक्ति की प्रवीणता का काम अधिक रहता है। यदि किसी वादी (मोवक्किल) को अच्छा वकील मिल गया, तो वह किसी भी अपराध को क्षम्य सिद्ध कर सकता है। नैतिकता को यदि कानूनी दृष्टि से देखा जाय तो वह चतुर मनुष्य की बपौती बन जायेगी। फिर जो व्यक्ति जितने अधिक नियमों को याद कर लेगा वह उतना ही अधिक अपने आचरण को नैतिक सिद्ध कर लेगा। परन्तु नैतिकता को यह रूप देना उसे अनैतिक बनाना है। जब तक हमारे पास कोई ऐसा सरल सिद्धान्त नहीं है, जिसके द्वारा हम हर समय अपने आचरण के औचित्य अथवा अनौचित्य को जानलें और दो विरोधी कर्तव्यों में विरोध उत्पन्न होने पर शीघ्रता से किसी विशेष निर्णय पर पहुँच जाएँ, तब तक हमें नैतिकता के ज्ञान से कोई लाभ न होगा। कर्तव्य-

वार्तिकाएँ नैतिकता को पंडितों की वस्तु बना देती है प्रचार समाज में नैतिक आचरण की वृद्धि न कर उल्टे उसका करता है।

सर्वोच्च सिद्धान्त—ऊपर कहा जा चुका है कि जब कर्तव्यों में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो, तो हमें किसी विशेष के कर्तव्यों के नियमों और उपनियमों की खोज न करनी वरन् किसी आधारभूत मुख्य नियम की खोज करना च यह मुख्य नियम अथवा सिद्धान्त क्या है? यह मुख्य सिद्धान्त ही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने विवेकात्मक स्वत्व को प्राप्त क चेष्टा करनी चाहिए। उसे उन मूल्यों को प्राप्त करना चाहि विवेकी स्वत्व से पहचाने जाते हैं। नैतिकता की यह व्यापक है। यह आज्ञा अस्पष्ट सी दिखाई देती है, अतएव कुछ व्यव नियमों को बनाना आवश्यक होता है। ये नियम हमें अपने प्र के आचरण में सहायता करते हैं, परन्तु जब इन नियमों में आप विरोध होता है और जब हम किसी धर्म सकट में पड़ जाते हैं यह नहीं समझ पाते कि हमें क्या करना चाहिए, तो हमें आज्ञा के ऊपर भरोसा करना चाहिए। साथ ही हमें यह जानने भी चेष्टा करनी चाहिए कि जो आचरण हम कर रहे हैं, उससे अपने विवेकी और व्यापक स्वत्व की प्राप्ति करते हैं या उसके प्रति जाते हैं। यदि हमारा आचरण हमें विवेकी और संकीर्ण बनात तथा यदि हम संसार के विवेकमय मूल्यों से वंचित रह जाते हैं, तो आचरण निन्द्य है अन्यथा वह भला है। साधारणतः प्रत्येक व्य जो अपने आचरण को सावधानी से देख सकता है, वह किसी धर्म-संकट की स्थिति में अपने कर्तव्य का निर्णय शीघ्रता से कर ले है।-अतएव धर्म-संकट की स्थिति में नैतिक निर्णयों को शीघ्र प्र करने के लिए नियम और उपनियमों को बनाने की आवश्यकता न है, वरन् अपने आपको

कता है, जिससे कि हम अपने ही आचरण को साक्षीभाव से देख सकें और उस पर अनुद्विग्न मन से निर्णय कर सकें।

शिष्टाचार के नियमों[1] का नैतिकता में स्थान—प्रत्येक समाज में ऐसे अनेक नियम प्रचलित होते हैं जिन्हें शिष्टाचार समझा जाता है। जब कोई हमारे घर पर आता है, तो प्रथम हम उसको नमस्कार करते हैं, फिर बैठका में बैठाते हैं और उसकी कुशलात पूछते हैं और फिर पान, इत्यादि देते हैं। दक्षिण भारत में नियम है कि जब किसी व्यक्ति से विदाई लेनी होती है तो उसे पान दे दिया जाता है। किसी व्यक्ति को पान दिखाने का अर्थ अब यह समझा जाता है कि अब उसे अपनी बातें समाप्त कर चला जाना चाहिए। जो व्यक्ति इस पान दिखाने के बाद भी ठहर जाता है वह अशिष्ट समझा जाता है। इसी प्रकार जो लोग अपने अतिथि का स्वागत पान तम्बाकू आदि से नहीं करते वे अशिष्ट समझे जाते हैं। आधुनिक सभ्यता के लोगों में पान का प्रचार कम होता जा रहा है। अब अतिथि को सिगरेट, सिगार आदि अधिक दिया जाता है।

यूरोप में भी अनेक शिष्ट व्यवहार के नियम हैं। इनमें से कुछ मनुष्य के लिए उपयोगी हैं और कुछ आवश्यक हैं। कपड़े पहने का ढंग, भोजन करने का ढंग, नमस्कार करने का ढंग, बातचीत करने का ढंग, सभी बँधे हुए हैं। भोजन करते समय किसी प्रकार की खड़खड़ाहट आदि शब्द करना अशिष्ट समझा जाता है। किसी विशेष अवसर पर विशेष प्रकार के वस्त्र न धारण करना अशिष्टता समझा जाता है। सुबह, दोपहर, शाम एवं विदाई के समय नमस्कार के ढंग विभिन्न हैं। इसी प्रकार बातचीत करते समय 'सर' और 'मैडम' शब्द का प्रयोग करना आवश्यक समझा जाता है। भोजन करते समय जो व्यक्ति जितना कम माँगता है और देते समय लेना अस्वीकार करता है वह शिष्ट माना जाता है।

1. Conventional rules.

स्वीकार नहीं करते, अथवा उसे स्वीकार करके भी निश्चित समय पर भी नहीं पहुँचते, अथवा उत्सव में पहुंचने पर भी अन्यमनस्क रहते हैं। ये सभी प्रकार के व्यवहार अनुचित हैं। इनको पालन करने के लिये कोई नैतिक नियम नहीं है, किन्तु यदि समाज के सभी लोग इस प्रकार का आचरण करने लगे तो समाज संगठन ही शिथिल हो जाय। इनके भीतर एक व्यापक नैतिकता का नियम कार्य करता है। यह नियम है—प्रत्येक व्यक्ति अपने समाज को सुदृढ़ बनाना चाहिये।

जो व्यक्ति समाज के प्रचलित शिष्टाचार के नियमों की अवहेलना नहीं करता, उसमें अन्य नैतिक नियमों के अनुसार अपने आचरण को बनाने की योग्यता आ जाती है। अतएव जब तक किसी महत्वपूर्ण नैतिक सिद्धान्त की हमें अवहेलना न करनी पड़े, तबतक समाज में प्रचलित रूढ़ियों के अनुसार ही आचरण करना उचित है। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि हम व्यापक नैतिक सिद्धान्त के प्रतिकूल किसी रूढ़ि के वश में होकर आचरण करें। जिस प्रकार समाज की रूढ़ियों के विरुद्ध सदा आचरण करना अनुचित है, उसी प्रकार उनका अन्धानुकरण करना भी अनुचित है। मनुष्य को सदैव अपने विवेक से काम लेना चाहिये। जहाँ पर किसी व्यापक नैतिक नियम और समाज के प्रतिदिन के नियम में संघर्ष हो, वहाँ व्यापक नैतिक नियम को मानना ही उचित है।

आवश्यक कर्तव्य और मनोनीत कर्तव्य[1]:—कुछ नीतिशास्त्रज्ञों के अनुसार कुछ कर्तव्य ऐसे हैं, जिनको पूरा करना हमारे लिये ऋण चुकाने के समान आवश्यक होता है। ये कर्तव्य ऋण रूप हैं। इन कर्तव्यों के नियम निश्चित रहते हैं। उदाहरणार्थ, अपने वचन को भंग न करने का नियम अथवा दूसरे की वस्तु को न चुराने के नियम। इन नियमों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है। इनके अतिरिक्त कुछ कर्तव्य ऐसे हैं, जिन्हें निश्चित नियमों

1. Duties of prefect obligation and duties of imperfect obligation.

में प्रकाशित नहीं किया जा सकता, और जिसका करना मनुष्य के स्वेच्छा पर निर्भर करता है। यदि इन कर्तव्यों को कोई मनुष्य पूरा करता है, तो हम उसकी सराहना अवश्य करते हैं; किन्तु यदि वह उन कर्तव्यों का पालन न करे, तब हम उसकी भर्त्सना भी नहीं करते। अपने घर पर आये आगन्तुक से मधुर वचन बोलना सभी का कर्तव्य है। जो आगन्तुक से कठोर भाषण करता है वह हमारी भर्त्सना का पात्र होता है। अब यदि कोई व्यक्ति मधुर भाषण के साथ साथ उसे जलपान भी कराता है, तो हम ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा अवश्य करते हैं; परन्तु हम यह आशा नहीं करते कि सभी लोग उसी प्रकार का आचरण करें। यह मनुष्य के स्वभाव का एक प्रशंसनीय गुण है, इतना हम अवश्य मानते हैं। यह उसके स्वेच्छित कर्तव्य का उदाहरण है।

कान्ट महाशय ने मनुष्य के कर्तव्यों को निश्चित ऋण[1] रूपी कर्तव्यों और अनिश्चित ऋण रूपी कर्तव्यों[2] में विभाजित किया है। निश्चित ऋण रूपी कर्तव्य वह है, जो अनिवार्य आज्ञा[3] के रूप में मनुष्य के सामने आता है। अधिकतर ये कर्तव्य निषेधात्मक होते हैं, अर्थात् वे हमको किसी विशेष प्रकार के अनुचित कार्य से रोकते हैं। दूसरी ओर के कर्तव्य विधेयात्मक हैं। निषेधात्मक कर्तव्य सर्वकालीन और सर्वदेशीय होते हैं और विधेयात्मक इसके विपरीत होते हैं, अर्थात् वे देश, काल और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं; अतएव इन्हें निश्चित नहीं कहा जा सकता है।

मैकेंजी महाशय ने मनुष्य के कर्तव्यों को तीन भागों में विभाजित किया है :—

(१) ऐसे कर्तव्य जिन्हें राज्य के नियम का रूप दिया जाता है और जिनकी अवहेलना दण्डनीय है।

(२) वे कर्तव्य जिन्हें राज्य के नियमों का रूप नहीं दिया

---

1. Perfect obligation 2. Imperfect obligation.
3. Categorical imperative.

जा सकता, परन्तु जिनका पालन करना प्रत्येक नागरिक को शोभा देता है।

(३) वे कर्तव्य जिनके पालन करने की आशा सभी लोगों से नहीं की जा सकती।

इन तीनों प्रकार के कर्तव्यों की अलग कोई कड़ी दीवाल नहीं है। कभी एक प्रकार का कर्तव्य दूसरे प्रकार का कर्तव्य बन जाता है। पशुओं को न मारना कुछ देशों में तीसरे प्रकार का कर्तव्य माना जाता है। इसी प्रकार शराब न पीने का उदाहरण है। जो कर्तव्य एक समय अनिश्चित कर्तव्य के रूप में माना जाता है वही कर्तव्य दूसरे समय निश्चित कर्तव्य माना जा सकता है। पशुओं की सेवा करना अशोककालीन भारत में निश्चित कर्तव्य माना जाता था और उनका वध करना दण्डनीय अपराध था; परन्तु दूसरे समय अथवा दूसरे काल में इस कर्तव्य को निश्चित ऋण का कर्तव्य नहीं माना गया है।

मनुष्य के कर्तव्य की तालिका काल के लिये कभी भी निश्चित नहीं की जा सकती है। अपने समय के लिये जो कार्य करना आवश्यक है, उन्हें समाज के अगुआ लोग निश्चित ऋण रूपी कर्तव्य के रूप में जनता के समक्ष रखते हैं। इसी प्रकार के बाइबिल की दस आज्ञाएँ हैं; मन के दस धर्म भी इसी प्रकार के हैं। इन कर्तव्यों में से कुछ कर्तव्यों पर किसी काल में कम अथवा अधिक जोर दिया जाता है। अपनी आवश्यकता के अनुसार समाज के नेता लोग कभी कभी नये कर्तव्यों को ही महत्त्व का स्थान देते हैं, तब निश्चित ऋण के कर्तव्यों की संख्या कुछ बढ़ जाती है।

मनुष्य के विशेष कर्तव्य—मनुष्य के सामान्य कर्तव्य नैतिकता के नियमों से निश्चित होते हैं, परन्तु उसे अपनी स्थिति में क्या करना चाहिये, इसका निर्णय उसे स्वयं करना पड़ता है। अपनी स्थिति को मनुष्य स्वयं ही समझ सकता है। दूसरा कोई व्यक्ति इसे

बाद वह व्यक्ति होश में आया और पानी माँगा। साधु ने राजा से निकट के तालाब से एक बर्तन में पानी लाने के लिये कहा। वह साधु की आज्ञानुसार तुरन्त दौड़ कर पानी ले आया। फिर दोनों आगन्तुक को उठा कर कुटिया में ले गये।

अब तक रात काफी बीत चुकी थी। राजा बिलकुल थक गया था। वह अपने प्रश्नों को भूल गया और सो गया। साधु भी सो गया। प्रातःकाल जब राजा उठा तो उसने घायल व्यक्ति को जगा हुआ पाया। राजा के जागते ही उस व्यक्ति ने बड़े दैन्य भाव से राजा से क्षमा माँगना प्रारम्भ किया। राजा उसकी क्षमा याचना को सुन कर विस्मय में पड़ गया। उसने राजा को अपना परिचय दिया और कहा कि मैं आपका घोर शत्रु हूँ। मेरे भाई को जब आपने फाँसी की सजा दी थी, तभी मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया था कि मैं इसका बदला अवश्य लूँगा। बदला लेने का अवसर मैं ढूँढ़ ही रहा था। मुझे मालूम हुआ था कि आप इस समय साधु के पास एक साधारण मनुष्य के भेष में आये हुए हैं। अतः मैं आपको मार डालने की नियत से झाड़ी में छुप गया था। इसी बीच आपके गुप्तचरों ने मुझे देख लिया और उन्होंने हो मेरे ऊपर हथियार चला दिया। मैं अपने प्राणों की रक्षा के लिये साधु की कुटिया की ओर दौड़ा; क्योंकि मैं जानता था कि वे गुप्तचर इस कुटिया तक न आयेंगे क्योंकि उन्हें यहाँ आने की आशा नहीं है। आपने मेरी सेवा शुश्रुषा करके मेरे प्राण बचा दिये, आपने मुझे प्राण दान दिया, इसका मैं ऋणी हूँ। आपके प्रति मेरा पुराना द्वेष-भाव सब नष्ट होगया और अब मैं जीवन भर आपका सेवक बन कर रहूँगा।"

घायल व्यक्ति की ये बातें सुनकर राजा स्तब्ध सा हो गया। कुछ देर बाद उसने घर की ओर वापस लौटने का विचार किया। अब फिर उसने अपने तीन प्रश्नों के उत्तर उक्त साधु से माँगे। साधु ने उत्तर दिया, "क्या आपको अभी तक अपने प्रश्नों के उत्तर नहीं

मिले !" उसने आगे चलकर कहा—"आपके प्रश्नों के उत्तर तो कार्यों द्वारा पहले ही दिये जा चुके हैं। सबसे महत्त्व का काम वह है, जो हमारे सामने है। सबसे महत्त्व का व्यक्ति वह है, जो हमारे पास है और सबसे महत्त्व का समय अभी है। यदि आप मेरे पास आकर मुझपर सहानुभूति दिखाकर मुझे सहायता न देते, और मुझ पर क्रुद्ध होकर जल्दी से वापस चले जाते तो आज आपके प्राण न बचते। यह व्यक्ति आपको मारने के लिये छिपा हुआ था। वह आपको अकेला पाकर अवश्य मार डालता। अतएव जब आप मेरे पास आये थे, तो सबसे महत्व का काम मुझे सहायता देना था। फिर जब यह घायल व्यक्ति दौड़ा हुआ आया तो सबसे महत्त्व का काम उसकी सहायता करना था। यदि उसकी सहायता न की जाती तो वह आपके बिना मैत्रीभावना के स्थापित किये ही मर जाता। उसकी सहायता करने से ही वह घोर शत्रु आपका मित्र बन गया है। अतएव जो व्यक्ति हमारे सामने है, उसका सहायता करना ही जीवन में सबसे महत्त्व का कर्तव्य है। जीवन अस्थायी वस्तु है। कोई नहीं जानता कि उसे कोई दूसरा भला काम करने का अवसर मिलेगा अथवा नहीं।

इसी तरह जो व्यक्ति हमारे पास है, वही महत्व का व्यक्ति है और उसी की सलाह मानना और उसी की सलाह लेना हमारा कर्तव्य है। हम नहीं जानते कि हम किसी दूसरे व्यक्ति से मिल पायेंगे या नहीं।

सबसे महत्त्व का समय वर्तमान समय है; क्योंकि वर्तमान काल ही हमारे हाथ में है। यही निश्चित काल है। भविष्य के विषय में बड़ी बड़ी कल्पनाएँ करना और वर्तमानकाल में कुछ न करना कर्तव्य हीनता की मनोवृत्ति को दर्शाता है।

उपर्युक्त 'कथानक' इस बात को स्पष्ट करता है कि हमें अपने वर्तमान समय के कर्तव्य को निश्चित करने के लिये अपनी वर्तमान

परिस्थिति और योग्यता को ध्यान में रखना आवश्यक होता है। कोई मनुष्य किसी एक प्रकार के जीवन को स्वीकार कर लेत तो उस जीवन के सहज कर्तव्य अपने आप ही उसके सामने लगते हैं। इन कर्तव्यों को करने से उसके जीवन का विकास होता किसी मनुष्य के कर्तव्य को निश्चित करने के लिये नैतिक नि को जानने की इतनी आवश्यकता नहीं है, जितना कि हम प्रकार का चरित्र बनाना चाहते हैं, इसे जानने की आवश्यकता सुविकसित चरित्रवाला व्यक्ति, चाहे उसे किसी भी परिस्थिति क्यों न रखा जाये, अपने कर्तव्य को निश्चित कर लेता है और कर्तव्य के नियमों को जान लेता है।

मैत्रीजी महाशय का कथन है कि जिस व्यक्ति की किसी काम पूरी लगन होती है, उसके लिये कर्तव्य के नियमों को जानने आवश्यकता नहीं रहती। वह कर्तव्य के नियम जाने बिना ही अ कर्तव्य को ठीक से करता चला जाता है। जब किसी मनुष्य की वि काम को करने की रुचि में कमी होती है, अथवा अपनी रुचि अनुकूल उसे काम करना पड़ता है, तभी उसे कर्तव्य के नियमों आवश्यकता पड़ती है, जिस विद्यार्थी का मन स्वयं ही पढ़ाई लगता है, उसे पढ़ाई के नियमों को जानने की आवश्यकता नहीं होत उसकी रुचि ही उसके पढ़ाई के कार्य में पर्याप्त प्रदर्शन करती है जिस व्यक्ति की सहज रुचि पढ़ाई में नहीं है और जो थोड़ा ही सम पढ़ाई के लिये दे सकता है, उसी के लिये, पढ़ाई के लिये सम देने के लिये नियम बनाने की आवश्यकता होती है।

कर्तव्य के नियम बनाने का एक समय अपनी रुचि को विरो ओर मोड़ना होता है। ये नियम हमसे ऐसे काम करा लेते हैं, ज हमें पहले कठिन दिखाई देते हैं या अप्रिय लगते हैं। जब ह किसी कठिन काम को कर्तव्य समझ कर करने लगते हैं, और उस करने में अभ्यस्त हो जाते हैं, तो वह कार्य सरल और रुचिकर है

जाता है। जब कोई काम रुचिकर हो जाता है, तब कर्तव्य सम्बन्धी नियम आवश्यक हो जाते हैं।

नैतिक आचरण के नियमः—ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि नैतिक आचरण के नियम को निश्चित करना सरल नहीं है। नैतिक आचरण के नियम गणित के नियम के समान हर समय के लिये निश्चित नहीं बनाये जा सकते। व्यावहारिक जीवन में मनुष्य को प्रतिदिन सोचकर निश्चित करना पड़ता है कि उसे आज क्या करना चाहिये। कोई भी नीति-शास्त्र का विद्वान् उसे यह नहीं बता सकता कि उसका आज का कर्तव्य क्या है। इसे मनुष्य को अपनी परिस्थिति के अनुसार स्वयं निश्चित करना होगा। नीति-शास्त्र का विद्वान् सामान्य मनुष्य को केवल इतना ही बता सकता है कि उसे अपने काम को किस भाव से करना चाहिये। नीति-शास्त्र का विद्वान् केवल यह बता सकता है कि कर्तव्य के सामान्य नियम क्या हैं और उनका मनुष्य के जीवन में क्या स्थान है? परंतु किसी व्यक्ति विशेष के जीवन में उन नियमों को कैसे लगाया जाय, इसे कर्तव्य शास्त्र नहीं बताता। जीवन परिवर्तनशील है, इसे हर समय के लिये तथा किसी नियम के लिये किसी नियम के भीतर नहीं जकड़ा जा सकता है।

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि नीति-शास्त्र का फिर मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। नीति शास्त्र मनुष्य को मानव-जीवन के सर्वोच्च आदर्श को दिखाने की चेष्टा करता है और उसकी प्राप्ति के लिये, कौन से उपाय योग्य हैं, यह दर्शाता है। इन्हें जानकर प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन को सफल एवं सार्थक बना सकता है। यह सत्य है कि प्रतिभावान् व्यक्ति बिना नीति-शास्त्र के ज्ञान के भले और बुरे आचरण का ज्ञान कर लेता है और वह बिना इस ज्ञान के ही सदाचारी बन जाता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि नीति-शास्त्र एक निरर्थक वस्तु है। दर्शन का अध्ययन मनुष्य को जो कुछ वह

अठारहवाँ प्रकरण

नैतिकता की सत्ता[1]

नैतिकता की सत्ता का प्रश्न—कर्तव्य-विज्ञान पर चिन्तन करनेवाले भिन्न-भिन्न प्रकार की विचारधाराओं के विद्वानों ने नैतिक आदर्श की सत्ता के विषय में विभिन्न प्रकार के विचार प्रगट किये हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार नैतिकता की सत्ता का आधार ईश्वर का नियम है। ईश्वर के नियम के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य को दण्ड अवश्य मिलता है इसलिए ही मनुष्य को नैतिकता का पालन करना चाहिए। दूसरे लोगों के अनुसार नैतिकता के प्रतिकूल आचरण करने से मनुष्य प्रकृति द्वारा दण्ड पाता है। अतएव प्रकृति विरुद्ध आचरण करना अनुचित है। कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार नैतिकता के विरुद्ध आचरण करना कम सुख और अधिक दुःख की उत्पत्ति करता है। अतएव मनुष्य को अपने तथा समाज के सुख-दुःख पर विचार करके सदाचार से रहना चाहिए। कुछ दूसरे विद्वानों के अनुसार नैतिक नियम की बाध्यता मनुष्य की अन्तरात्मा से ही आती है। मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा की पुकार के विरुद्ध काम इसलिए नहीं करना चाहिए कि अन्तरात्मा से निकट और कोई बड़ी वस्तु नहीं है, और इसके नियम को मानना अपने-आपके नियम को ही मानना है। कुछ दूसरे विद्वान अन्तरात्मा की जगह विवेक को सर्वोच्च स्थान देते हैं। विवेक न केवल नैतिकता में सही और गलत को बताता है वरन् विवेक में ही वह शक्ति है जो हमें गलत मार्ग को छोड़कर सही मार्ग का अवलम्बन करने के लिए बाध्य करता है। विवेक से ऊँची नैतिकता में कोई सत्ता नहीं मानी जा सकती।

---

1. Moral Authority.

संसार का प्रधान पुरुष वह है जो बाहरी सत्ता के नियम को सर्वोच्च न मानकर अपने विवेक के नियम को ही सर्वोच्च मानता है।

विभिन्न प्रकार की सत्ताओं के प्रकार—वर्तमान विज्ञान के विद्वानों ने तीन प्रकार की सत्ताएँ मानी हैं—वस्तु-स्थिति पर जोर देने वाली, आवश्यकताओं पर जोर देने वाली और विधि-निषेध पर जोर देने वाली। संसार के प्राकृतिक नियम वस्तु-स्थिति पर जोर देते हैं। उनकी सत्ता वस्तु-स्थिति पर निर्भर करती है। यदि हम अपना हाथ आग में डालें तो वह जल जायगा यह प्रकृति का नियम है। अतएव इससे हमारे आचरण का एक नियम यह निकलता है कि हमें आग को न छूना चाहिए। इसी प्रकार प्रकृति का नियम है कि बलवान् व्यक्ति निर्बल को दबा देता है। इस प्राकृतिक नियम के आधार पर नैतिक नियम बनाया जा सकता है कि बलवान से हमें लड़ाई न करनी चाहिए।

दूसरे प्रकार की सत्ता वह है जिसमें बाध्यता पर अधिक जोर डाला जाता है। राज्य के नियमों को हमें पालन करना आवश्यक है। यदि हम राज्य-नियम को न मानें तो हमें दण्ड भोगना पड़ेगा। इसी प्रकार समाज के अनेक लोकाचार के नियमों को हमें पालन करना पड़ता है। यदि हम इन नियमों को न मानें तो हमें समाज का तिरस्कार सहना पड़ेगा।

तीसरे प्रकार की सत्ता में विधि-निषेध पर जोर दिया जाता है। यहाँ किसी काम को इसलिए करना होता है कि उस काम का करना उसके लिए उचित है। पहले दो प्रकार की सत्ताएँ इसकी तुलना में बाह्य सत्ताएँ हैं। अन्तिम सत्ता आन्तरिक सत्ता है। नैतिकता में पहले तो किसी प्रकार की बाध्यता को स्थान ही नहीं है और यदि कोई इसके लिए स्थान है तो वह अपने आप द्वारा ही बाध्यता के लिए। अतएव वस्तु-स्थिति की बाध्यता और आवश्यक होने की बाध्यता को नैतिकता में कोई स्थान ही नहीं। यदि किसी प्रकार की

बाध्यता को स्थान है, तो वह आन्तरिक बाध्यता को। प्रकृति के अनुकूल आचरण करना और इसकी सत्ता को प्रमुख स्थान देना इससे नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं। प्राकृतिक नियम नैतिक नियम नहीं। वस्तु-स्थिति के अनुसार आचरण करना स्वाभाविक है। इसमें औचित्य और अनौचित्य का विचार ही क्या। कभी कभी प्राकृतिक नियम के अनुसार आचरण करने में मनुष्य की नैतिकता देखी जाती है और कभी-कभी इसके प्रतिकूल। इसी तरह देश के राज्य-नियमों को प्रत्येक व्यक्ति को मानना आवश्यक है। किन्तु इस आवश्यकता के कारण नैतिकता की माँग पूरी नहीं होती। लौकिक चतुराई ही हमें राज्य के नियमों को मानने के लिए बाध्य करती है। पर लौकिक चतुराई नैतिकता नहीं। नैतिकता इससे ऊँची और विलक्षण वस्तु है। नैतिकता में आन्तरिक प्रेरणा का प्रधान स्थान है। इस आन्तरिक प्रेरणा के प्रतिकूल आचरण करना अनैतिक आचरण है। किसी भी बाहरी नियम को वहीं तक मानना उचित है जहाँ तक उसका मानना हमारे आन्तरिक मन की प्रेरणा के अनुसार हो।

नैतिक सत्ता के तीन प्रकार—नैतिकता की जो विभिन्न कसौटियाँ मानी गई हैं उनके अनुसार ही इसकी सत्ता का निरूपण किया गया है। कुछ नीति-शास्त्र के विद्वानों के अनुसार नैतिकता किसी बाहरी नियम के पालन में है और कुछ के अनुसार आन्तरिक नियम के पालन में। एक तीसरे मत के अनुसार नैतिकता का ध्येय किसी नियम का पालन करना नहीं, वरन् किसी विशेष लक्ष्य की प्राप्ति है। पहली विचारधारा में तीन प्रकार के नियम माने गये हैं—ईश्वर का नियम, प्रकृति का नियम और राजसत्ता अथवा समाज का नियम। दूसरी विचार-धारा के अन्तर्गत अन्तरात्मा का नियम और विवेक के नियम आते हैं। तीसरी विचारधारा में सुख का आदर्श, पूर्णता का आदर्श अथवा निःश्रेय का आदर्श माना गया है। साधारणतः नैतिकता की सत्ता पर विचार विभिन्न प्रकार की नैतिकता की

कसौटी के अनुसार ही है। परन्तु इनमें भेद भी है, अर्थात् नैतिकता की कसौटी की कल्पना एक प्रकार की है और नैतिकता के लिए बाध्य करने वाली सत्ता की कल्पना दूसरे प्रकार की है। उदाहरणार्थ स्वार्थ सुखवाद की कसौटी को लीजिए। इसके अनुसार नैतिकता का आदर्श मनुष्य के मनोवैज्ञानिक स्वभाव के ऊपर निर्भर करता है और नैतिकता विशेष प्रकार के आचरण की प्राप्ति में मानी गई है। जिसकी प्रेरणा वास्तव में मनुष्य के मन में ही होनी चाहिए। किन्तु इस विचारधारा में नैतिकता की सत्ता को अर्थात् उसकी बाध्यता को बाहरी वस्तु माना है।

जहाँ तक नैतिकता की सत्ता का किसी विशेष प्रकार के बाहरी नियम के ऊपर निर्भर होने का प्रश्न आता है; वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि यह निर्भरता वास्तव में नैतिकता के प्रतिकूल है। किसी प्रकार के बाहरी नियम पर, चाहे वह समाज का, प्रकृति का अथवा ईश्वर का नियम हो, नैतिकता का निर्भर करना उसे अर्थहीन बनाना है। नैतिकता आध्यात्मिक विकास का साधन है और यह आध्यात्मिक विकास मनुष्य में बिना स्वतन्त्र इच्छाशक्ति की वृद्धि के सम्भव ही नहीं। जो व्यक्ति किसी प्रकार की बाहरी सत्ता के भय के कारण ही नैतिक आचरण करता है उसका नैतिक आचरण दिखावा मात्र होता है। इस प्रकार के नैतिक आचरण से उसके चरित्र में कोई भी उन्नति नहीं होती। चरित्र की उन्नति अपने विवेक और स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के द्वारा नियन्त्रित क्रियाओं से ही होती है। अतएव हम थोड़े में यह कह सकते हैं कि बाहरी सत्ता के भय के कारण मनुष्य में जो नैतिकता आती है वह नैतिकता ही नहीं और उस सत्ता को भी हम नैतिक सत्ता नहीं कह सकते जो बाध्य करके भय के द्वारा किसी व्यक्ति से नैतिक आचरण कराती है।

नैतिक आचरण के प्रेरक[1]—नैतिकता की सत्ता के प्रश्न

1. Sanctions.

के साथ-साथ नैतिक आचरण के प्रेरकों और बन्धनों का प्रश्न आता है। एक बार जब नैतिकता का निरूपण हो चुका तो प्रश्न उठता है कि मनुष्य को नैतिक आचरण के लिए बाध्य कौन करेगा और यदि वह अनैतिक आचरण करे तो उसे इस प्रकार के आचरण से रोकने के लिए कौन सी नैतिक शक्ति है। इस विषय में यथार्थ सुखवादियों के विचार स्पष्ट हैं। यथार्थ सुखवादियों ने नैतिकता का आदर्श अधिक से अधिक संख्या में अधिक से अधिक सुख निश्चित किये हैं। किन्तु यह स्पष्ट है कि स्वभावतः ही मनुष्य दूसरे के सुख की परवाह न कर अपने ही सुख की अधिक परवाह करेगा। अतएव यदि हमें उससे नैतिक आचरण करवाना है तो इसके लिए हमें विशेष प्रेरकों से काम लेना पड़ेगा। बेन्थम महाशय का कथन है कि मनुष्य के नैतिक आचरण का अन्तिम लक्ष्य सबका सुख अवश्य है किन्तु किसी व्यक्ति के काम का प्रेरक उसकी अपने सुख की आशाएँ होती हैं। अतएव राज्य के नियम बनाने वाले को सबके सुख को ध्यान में रखना होगा और उसे देखना होगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपना आचरण इसी आदर्श के अनुसार बनाता है। किन्तु नैतिक आचरण की प्रेरणा एक ही बात से उत्पन्न हो सकती है, वह है सुख की चाह और दुःख से भय। बेन्थम महाशय ने फिर उन सब प्रकार के दुःख और सुख पर विचार किया है जो कि मनुष्य को नैतिक आचरण करने के लिए बाध्य करते हैं और जिनका उपयोग करना इस दृष्टि से उचित माना गया है।

बेन्थम ने नैतिक आचरण के चार प्रकार के प्रेरक माने हैं—भौतिक[1], राजनैतिक[2], नैतिक[3] और धार्मिक[4]। भौतिक प्रेरक वे हैं जिनके कारण कोई व्यक्ति प्राकृतिक सुख अथवा दुःख के कारण उचित आचरण करता है। वे प्रेरक (उत्तेजक) किसी व्यक्ति की अथवा समाज की

1 Physical. 2 Political. 3. Moral, 4. Religious

वादी अन्तर्प्रेरक को कष्ट देनेवाला नहीं मानते। परन्तु इसपर भी वे इसको एक प्रबल सत्ता मानते हैं। बटलर महाशय का कथन है कि यदि हम अन्तर्प्रेरक में इस अधिकार की कल्पना न करें कि वह हमारी अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों के ऊपर नियन्त्रण कर सकता है तो ऐसी शक्ति व्यर्थ होगी। यदि इस सत्ता को मनुष्य के कामों के नियन्त्रण की पूर्ण शक्ति और अधिकार हो तो संसार में कोई काम बुरा ही न हो। प्रत्येक मनुष्य को अपने अन्तर्प्रेरक की आज्ञा को मानना चाहिए। अन्तर्प्रेरक का नियम अपने आप का ही नियम है। अतएव अन्तर्प्रेरक की आज्ञानुसार चलना अपनी ही आज्ञानुसार चलना है; अन्तर्प्रेरक का बन्धन अपने-आप का ही बन्धन है। इस भाँति अन्तर्प्रेरक न केवल हमें नीति-पथ दर्शाता है, वरन् वही उस पथ पर चलने के लिए हमें बाध्य करता है।*

बटलर महाशय नैतिकता की वास्तविक सत्ता की ओर हमारा ध्यान ले गये हैं। यह अन्तर्प्रेरक की सत्ता है। परन्तु जबतक अन्तर्प्रेरक के स्वरूप का ठीक निरूपण नहीं होता इसी को नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता मानना भ्रामक होगा। नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता का विवेक-युक्त होना आवश्यक है। अतएव जबतक विवेक और अन्तर्प्रेरक का एकत्व मान लिया जाय तबतक अन्तर्प्रेरक में ही सर्वोच्च सत्ता मानना उचित नहीं। वास्तव में मनुष्य का विवेक ही न केवल उसके नैतिक आदर्श का निर्माता और कर्तव्य का पथ-प्रदर्शक है वरन् यही नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता भी है।

विवेक की सत्ता[1]—कान्ट महाशय और आदर्शवादियों ने

---

* Your obligation is to obey this law is its being the law of your nature. That your es conscience approves of and attests to such a course of action is itself alone on obligation conscience does not only oftis itself so shew us the way we should walk in, belt it like wise carries its own authory fitnout; that it is our natural guide."

1. Autherity of reason.

विवेक की सत्ता को ही सर्वोच्च सत्ता माना है। इसी को सुकरात, प्लेटो और अरस्तू ने भी सर्वोच्च सत्ता माना है। आधुनिक काल में भी कर्तव्य-शास्त्र के गम्भीर लेखक भी इसी को सर्वोच्च सत्ता मानते हैं। प्रकृतिवादी इसे सर्वोच्च सत्ता नहीं मानते। वास्तव में उनके कथनानुसार नैतिकता की सत्ता मानना ही अनावश्यक है क्योंकि प्रकृति बाध्य करके सबसे नैतिक आचरण करा ही लेती है।

मनुष्य का सबसे ऊँचा स्वत्व विवेकमय है। अतएव जब मनुष्य विवेकानुसार आचरण करता है तो वह अपने सर्वोच्च स्वत्व को मानता है। विवेक के अनुशासन में रहना अपने सर्वोच्च स्वत्व के अनुशासन में रहना है और इसी में नैतिकता का सर्वोच्च अधिकार है।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि जो लोग तर्क बुद्धि के परे किसी विशेष स्वत्व के अस्तित्व में विश्वास करते हैं उनके लिए इसी स्वत्व की सत्ता को सर्वोच्च मानना स्वाभाविक है।

नैतिक आदर्श की सर्वोत्कृष्टता[1]—नैतिकता का सर्वोच्च आदर्श किसी विशेष नियम को मानना नहीं है, वरन् एक निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति की चेष्टा है। यह लक्ष्य अपने आप को, अपने आचरण को विवेकयुक्त बनाने का लक्ष्य है। मनुष्य का विवेक कहता है कि वह अपने आपको जितना ऊँचा उठा सके उठावे और जितना भला बना सके बनावे। किसी एक विशेष नियम के पालन करने से मनुष्य अपने नैतिक होने का भले ही आत्म-सन्तोष प्राप्त कर ले किन्तु नैतिक नियम का पालन मात्र नैतिकता की सर्वोच्च वस्तु नहीं। सबसे ऊँचा नैतिक जीवन उस मनुष्य का कहा जाता है जो किसी नैतिक आदर्श को मानकर चलता है और विभिन्न प्रकार के नियमों की परवाह नहीं करता। जिस नियम का पालन करना उसके लक्ष्य की प्राप्ति में साधक होता है उसे वह पालता है और जो नियम अपने सुनिश्चित लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक होता है उसे वह नहीं

1. Absoluteness of the moral Standard.

मानता। वह केवल अपने आदर्श अथवा ध्येय का ही अ
न कि किसी नियम का।

आधुनिक काल में हमारे देश में हिंसा और अहिंसा के
में बड़ा विवाद उठ खड़ा हुआ है। प्रश्न यह है कि हमें
लड़ने के लिए शस्त्र का उपयोग करना चाहिए या नहीं
कितने ही नियम इस विषय में क्यों न बनाए जाँय वे स
सन्तोषजनक नहीं हो सकते। यदि हमने नैतिकता का आद
मान लिया है कि हमें अपने आचरण से संसार के लोगों की
अधिक भलाई करना है तो विशेष प्रकार की हिंसा अथवा
का प्रश्न सरलता से सुलझ जाता है। फिर वही अहिंसा उ
जिससे अधिक प्राणियों का कल्याण हो और जिस हिंसा से
के चोर डाकुओं को प्रोत्साहन मिले वह त्याज्य है। इस प्रका
आचरण अपने विवेकशील स्वत्व के अनुसार आचरण होगा।

अब प्रश्न यह आता है कि यदि इन नैतिक आचरण के
नियम न बनें और सामान्य जनता की बुद्धि पर ही यह
कि वह अपने लिए अपने आदर्शानुसार उचित नियम बना ले
सम्भव है कि हम नैतिक जीवन को शिथिल कर देंगे। इसी
से प्रेरित होकर कई एक कर्तव्य शास्त्र के विद्वानों ने आचरण
कुछ नियमों को निश्चित करने पर जोर डाला है। पर, इस
आचरण के नियमों को निश्चित कर लेना नैतिक विचार के वि
को नहीं दर्शाता। सभ्यता की निम्नकोटि के लोगों में नैतिकता के
बड़े कठोर होते हैं परन्तु उनमें नैतिकता के आदर्श का ज्ञान न
के कारण वे इन नियमों का पालन करते हुए कभी कभी वास्त
नैतिकता के प्रतिकूल आचरण कर देते हैं। उनके नैतिक नियमों
पालन की कट्टरता ही समाज को हानि पहुँचाता है, और इस प्र
उनके आध्यात्मिक जीवन के विकास में सहायक न हो
रुकावट डालते हैं।

मनुष्य का उत्तरदायित्व जितना ही जटिल होता जाता है और उसके कार्यों का क्षेत्र जितना ही विस्तीर्ण होता जाता है उसके नैतिक आचरण में एक ओर दृढ़ता आती है और दूसरी ओर उसके नियमों में अनिश्चितता आती है। सेना के सिपाही की देश-भक्ति इसी में देखी जाती है कि वह सेना के कुछ बँधे नियमों का भली भाँति पालन करे। पर देश के नेता के लिए ऐसे कुछ नियम नहीं बने रहते। उसकी देश-भक्ति इसी में देखी जाती है कि वह देश के लिए ऐसा काम करे जो उसे सबसे अधिक लाभकारी हो। वह क्या काम होगा और उसे कौन से नियम पालन करने होंगे—इसे उसको स्वयं निश्चित करना पड़ता है। जो बात देश-भक्ति के आदर्श के विषय में सही है वही बात नैतिकता के आदर्श के विषय में सही है। नियमों की कट्टरता, नैतिकता की दृढ़ता की कसौटी नहीं है। नैतिकता की दृढ़ता मनुष्य की उस भावना में है जिसके अनुसार मनुष्य अपने आप को सर्वोच्च बनाना चाहता है। अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए उपयुक्त नियम अथवा मार्ग मनुष्य स्वयं ही बनाता है अथवा उनमें परिवर्तन करता है।

उन्नीसवाँ प्रकरण

सद्गुण और उनका उपार्जन

सद्गुण की व्याख्या[1]—चरित्र के सद्गुण मनुष्य के धर्म कहलाते हैं। ये मानव जीवन को सार्थक बनाते हैं। भारतीय दर्शनों में 'धर्म' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। धर्म शब्द के अर्थ 'मजहब', 'कर्तव्य', 'विशेषगुण', 'सृष्टि अथवा समाज को चलानेवाले नियम' इत्यादि माने गये हैं। यहाँ पर इस धर्म शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में कर रहे हैं। पाश्चात्य कर्तव्य-शास्त्र में धर्म शब्द के अर्थ चरित्र के वे सद्गुण हैं जिनके कारण मनुष्य अपने-आपको और समाज को सुखी बनाता है। अंग्रेजी में इसका पर्य्यायवाची शब्द 'वरचू' है। अंग्रेजी वरचू शब्द लैटिन वीर शब्द से निकला है जिसका अर्थ वही है जो संस्कृत शब्द 'वीर' का है। वीर पुरुष साहसी और शक्तिशाली होता है। संसार का सभी काम शक्ति से चलता है। इस दृष्टि से वीरता अथवा धर्म संसार का संचालक है क्योंकि संसार को धारण करनेवाला धर्म ही है। मनुष्य के व्यक्तित्व को सँभालनेवाला तत्त्व-धर्म है। इस सँभालनेवाले तत्त्व के अनेक रूप हैं जिन्हें हम चरित्र के सद्गुण कहते हैं। जिस प्रकार हम बाह्य जगत् का कोई अनुशासक मानते हैं उसी प्रकार हमारे आन्तरिक जगत् का भी हमें एक अनुशासक मानना पड़ता है। इस अनुशासक के कुछ नियम हैं। इन नियमों का पालन करना कर्तव्य माना जाता है। बाह्य जगत् के नियम प्राकृतिक नियम कहे जाते हैं और आन्तरिक जगत् के नियम नैतिक नियम कहे जाते हैं। कर्तव्य-शास्त्र इन नैतिक नियमों की व्याख्या

1. Cardinal Virtues.

करता है। इन नैतिक नियमों के पालन में ही कर्तव्य-परायणता मानी जाती है। कर्तव्य के पालन करने से मनुष्य के मन में विशेष प्रकार के संस्कार उत्पन्न होते हैं। ये संस्कार बार-बार कर्तव्य के पालन से दृढ़ हो जाते हैं। मनुष्य की भली आदतों के कारण यही संस्कार हैं। ये भली आदतें ही चरित्र के सद्गुण अथवा धर्म कहे जाते हैं।

प्रत्येक आदत एक क्रियात्मक मनोवृत्ति है। जिस मनुष्य का जिस प्रकार का अभ्यास होता है उसकी मानसिक प्रवृत्ति उसी प्रकार की हो जाती है। आदतें दो प्रकार की होती हैं। एक वे जो जानबूझ कर प्रयत्न द्वारा अपने-आप में डाली जाती हैं और दूसरी वे जो अपने-आप पड़ जाती है। चरित्र के सद्गुण अथवा धर्म वे आदतें हैं जो मनुष्य जानबूझकर अर्थात् विवेक की जाग्रतवस्था में अपने-आप में डालता है। जो आदतें अनायास पड़ जाती हैं अथवा अज्ञानावस्था में आ जाती हैं, अथवा जो बाध्य होकर डाली जाती [हैं] उनका नाम चरित्र के सद्गुण नहीं कहा जाता है। वे धर्म नहीं [हैं]। जहाँ तक मनुष्य अपनी स्वतंत्र इच्छाशक्ति को किसी प्रकार [क]ी आदत के डालने के काम में लाता है और जहाँतक, वह इस आदत के द्वारा इस इच्छाशक्ति को बली बनाता है वहाँ तक उस आदत को हम सद्गुण या धर्म कहते हैं। धार्मिक होने का अर्थ यह है कि हमारा चरित्र ऐसा बना है कि मनुष्य में सत्यपथ पर चलने का अभ्यास दृढ़ हो गया है। जब सदाचारी व्यक्ति किसी धर्म संकट में पड़ जाता है तो वह प्रेय मार्ग को ग्रहण न कर श्रेय मार्ग को ग्रहण करता है।

सद्गुणी जीवन में कुछ कठोरता पाई जाती है। इसमें त्याग और तपस्या की आवश्यकता होती है। चरित्र का प्रत्येक सद्गुण आत्म-नियन्त्रण के द्वारा प्राप्त होता है। अरस्तू महाशय के कथनानुसार सद्गुण का एक लक्षण अतिक्रम का अभाव है। किसी प्रकार का अति-

अत चरित्र का सद्गुण न मानकर दुर्गुण माना गया है। इस प्रकार घोर तपस्या की आदत अथवा पूर्णतया निर्मोह रहने की आदत चरित्र के सद्गुण नहीं हैं। इनसे मनुष्य को और समाज को लाभ न होकर हानि होती है। अतिक्रम से एक ओर मानसिक उथल पुथल पैदा होती है तथा मनुष्य का जीवन शान्तिमय न होकर अपूर्ण हो जाता है और दूसरी ओर अनेक प्रकार की सामाजिक झगड़े उठ खड़ी होती हैं। किसी प्रकार के अतिक्रम से मनुष्य का अहंकार बढ़ता है जो अनेक प्रकार के अनर्थ का कारण होता है। अतएव अरस्तू महाशय ने मध्यमार्ग को ही नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ मार्ग माना है और ऐसी आदत को सद्गुण कहा है जिसके द्वारा मध्यममार्ग का अनुसरण हो। जिस प्रकार भोग-विलास का अतिक्रम चरित्र का दुर्गुण है उसी प्रकार घोर तपस्या करना भी चरित्र का दुर्गुण है। अरस्तू महाशय के कथनानुसार सद्गुण का एक लक्षण प्रसन्नता की उत्पत्ति है। किसी प्रकार के अतिक्रम से प्रसन्नता का नाश होता है। अतएव अतिक्रम का होना चरित्र के दोष को दर्शाता है। अतिक्रम मनुष्य की इच्छा-शक्ति की दृढ़ता का सूचक नहीं है वरन् उसकी निर्बलता अथवा ढीलेपन का सूचक है *।

जैसा कि पिछले एक प्रकरण में कहा जा चुका है मध्यममार्ग सभी व्यक्तियों के लिए एक ही नहीं होता। व्यक्ति-

---

*अरस्तू के मध्यम मार्ग के सिद्धान्त में हम बुद्ध भगवान् के मध्यम प्रतिपदा का आभास पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है मानो दो भिन्न-भिन्न भाषाओं में दो व्यक्तियों ने एक ही बात कही है। बुद्ध-भगवान् ने एक ओर विषय-लोलुपता के जीवन की निन्दा की है और दूसरी ओर घोर तपस्या के जीवन की। उन्होंने दोनों प्रकार के जीवन का अनुभव किया और दोनों को ही दुःख और अज्ञान की वृद्धि करनेवाला पाया। बिना समता के भाव के मनुष्य के मन में न तो शांति आती है और न तो उसे सच्चा ज्ञान ही होता है।

गत भेद और परिस्थितिभेद के अनुसार यह भिन्न भिन्न होता है। जितनी त्याग और तपस्या की आशा एक भिक्षु से की जाती है उतनी एक गृहस्थ से नहीं की जाती। भिक्षु के लिए हँसी मजाक न करना, समय समय पर मौन रहना, एक बार भोजन करना आदि अभ्यास चरित्र के सद्गुण हैं; पर ये सद्गुण किसी-किसी परिस्थिति में दूसरे व्यक्तियों के चरित्र में दुर्गुण का रूप धारण कर लेते हैं। जितनी बहादुरी की आशा हम एक सैनिक से करते हैं उतनी एक वाणिज्य-व्यवसायी से नहीं करते। जब कोई व्यक्ति अपनी परिस्थिति को समझकर उसके उपयुक्त अभ्यास नहीं डालता तो वह चरित्र में सद्गुण को उत्पन्न न कर दुर्गुण को ही उत्पन्न करता है। उचित मात्रा में किसी प्रकार का त्याग, तपस्या, साहस, उदारता आदि दर्शाना चरित्र के शुभ लक्षण हैं। उचित मात्रा क्या है?—इसका निर्णय समाज के कल्याण को देखकर अथवा मनुष्य के सामाजिक जीवन के लाभ को देखकर निश्चित करना चाहिए। अरस्तू महाशय के कथनानुसार मध्यममार्ग का निर्णय मनुष्य की बुद्धि की कुशलता और सूक्ष्म-दृष्टि पर करता है। संसार के महान् पुरुषों के चरित्र इस र्णय में सहायक होते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सद्गुण के तीन प्रधान क्षण हैं—

(१) विवेकशीलता अर्थात् स्वतन्त्र इच्छाशक्ति का कार्य,

(२) प्रसन्नता, और

(३) अतिक्रम का अभाव।

सद्गुण में देश-काल का स्थान—मनुष्य के सद्गुण देश और काल के ऊपर निर्भर करते हैं। मनुष्य के चरित्र के एक प्रकार के गुण एक देश में अथवा एक काल में बहुत भले माने जाते हैं और दूसरे देश तथा दूसरे काल में उतने भले नहीं माने जाते हैं। भिन्न भिन्न समय के लोगों के सद्गुण-सम्बन्धी विचार भिन्न-भिन्न होते हैं।

जिन लोगों को दूसरे लोगों से लड़ने की हर समय आवश्यकता पड़ती रहती है उनमें युद्ध में वीरता को एक बड़ा सद्गुण माना जाता है, शान्तिप्रिय देशों में अथवा शांति की अवस्था में शम और आत्म-निग्रह को अधिक बड़ा गुण माना जाता है। मुस्लिम देशों में आत्म-निग्रह अथवा शम और संतोष को उसी दृष्टि से नहीं देखा जाता जिस दृष्टि से इन गुणों को भारतवर्ष में देखा जाता है। जिस प्रकार सतीत्व के भाव को हमारे देश में महत्व दिया जाता है उसी प्रकार दूसरे देशों में नहीं दिया जाता। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वर्तमान समय के सद्गुण और पुराने समय के सद्गुणों में कोई साम्य है ही नहीं है, अथवा एक देश और दूसरे देश के सद्गुणों में साम्य नहीं है। प्राचीनकाल में रणभूमि में प्रदर्शित की गई वीरता की प्रशंसा की जाती थी और वर्तमानकाल में समाज की रूढ़ियों के विरोध करने में साहस की प्रशंसा की जाती है। अब वैयक्तिक जीवन की पवित्रता पर उतना महत्व नहीं दिया जाता जितना सामाजिक जीवन की पवित्रता पर महत्व दिया जाता है। प्रत्येक समय समाज में चरित्र के उन गुणों की प्रशंसा की जाती है जो समाज को स्थिर बनाये रखते हैं। प्रत्येक सुगठित समाज में बहादुरी, उदारता, आत्म-संयम और विवेकशीलता की आवश्यकता पड़ती है। बिना इन गुणों के कोई समाज चल नहीं सकता। अतएव इन सभी गुणों की किसी न किसी रूप में वृद्धि की जाती है।

सद्गुणों में व्यक्तिगत भेद—चरित्र के सद्गुण सभी लोगों के एक से नहीं होते। इनमें व्यक्तिगत भेद होते हैं। जिस प्रकार मनुष्यों के व्यवसायों के अनुसार उनके कर्तव्यों में भेद होते हैं उसी प्रकार उनके चरित्र के सद्गुणों में भेद होते हैं। एक बुद्धिजीवी अथवा वणिक से उतनी शूरवीरता की आशा नहीं की जाती जितनी कि एक सैनिक से की जाती है। इनसे शम और दानशीलता की अधिक आशा की जाती है। अरस्तू महाशय ने सद्गुण को पाँच

का मार्ग कहा है। किन्तु भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए बीच का मार्ग भिन्न-भिन्न होता है। अपने जीवन के व्यवसायों के अनुसार और अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार मनुष्य को भिन्न भिन्न मात्रा में किसी सद्गुण की वृद्धि करनी पड़ती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने मनुष्यों के धर्मों को उनके गुण और कर्म के ऊपर आधारित बताया है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करने का आदेश दिया है। *

स्वार्थ-सद्गुण और परार्थ-सद्गुण—पाश्चात्य नीतिशास्त्र के पंडितों ने मनुष्य के सद्गुणों को स्वार्थ और परार्थ भागों में विभाजित किया है। स्वार्थ-सद्गुण वे हैं जो मनुष्य को अपने-आप को ही उन्नत बनाने के काम मे आते हैं और परार्थ-सद्गुण वे हैं जो समाज का सेवा करने अथवा समाज को उन्नत बनाने के काम में आते हैं। इन्द्रिय-निग्रह, सन्तोष, मित-भाषण, विवेक शीलता आदि सद्गुण अधिकतर अपने-आप से ही सम्बन्ध रखते हैं और मनुष्य के जीवन को उन्नतिशील बनाते हैं। इसके प्रतिकूल दानशीलता, न्यायप्रियता और शूर वीरता सामाजिक सद्गुण हैं। इनके द्वारा मनुष्य अपने सामाजिक जीवन को सफल बनाता है और समाज का कल्याण करता है। अतएव ये गुण परार्थ-सद्गुण कहे जाते हैं।

स्वार्थ और परार्थ सद्गुणों का भेद वास्तव में कोई मौलिक भेद नहीं है। यह केवल ऊपरी भेद है, वास्तव में जिन सद्गुणों से मनुष्यों

---

* भगवान् कृष्ण कहते हैं—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः।

यहाँ स्वधर्म का अर्थ किसी मतमतान्तर से नहीं है वरन् मनुष्य के कर्तव्य अथवा चरित्र के सद्गुणों से है। अपने गुण कर्म के प्रतिकूल जो मनुष्य किसी काम को करता है अथवा किसी गुण का अभ्यास करता है वह अपने जीवन को क्लेशमय [illegible] तैयारी करता है।

प्रधान सद्गुण—प्रधान सद्गुण सम्बन्धी विचार भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न भिन्न हैं। यूरोप में भी जिन गुणों को पुराने समय के यूनानी लोग प्रधान सद्गुण मानते थे उन्हें मध्यकालीन यूरोप के ईसाई लोग प्रधान सद्गुण नहीं मानते थे। यूनानी मत और ईसाई मत में कुछ भेद अवश्य रह आया है पर भेद होते हुए भी कुछ समानता भी है। यूनानी विचारधारा के अनुसार मुख्य सद्गुण चार हैं—आत्म संयम[1], शौर्य[2], विवेकशीलता[3] और न्यायप्रियता[4]। इन इन *गुणों की रूप-रेखा प्लेटो महाशय की 'रिपब्लिक' नामक* पुस्तक में पाते हैं। संयम का अर्थ अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण है। शौर्य का अर्थ लड़ाई में बहादुरी है। विवेकशीलता अपने जीवन को समझ-बूझकर चलाने में है और न्यायप्रियता दूसरे को उसके उचित अधिकार के अनुसार काम करने देने में है। ईसाई धर्म में दूसरे प्रकार के ही सद्गुणों पर जोर डाला गया है। उसमें आशा[5], श्रद्धा[6], उदारता[7], चरित्र की पवित्रता[8] और आत्म-समर्पण[9] महान् सद्गुण बताये गये हैं। यूनानी लोगों ने अपने नैतिक विचारों में ईश्वर और धर्म को स्थान

---

1. Temperance 2. Courage 3. Wisdom 4. Justice 5. Hope 6. Faith 7. Charity 8. Purity 9. Self-abnegation.

नहीं दिया है। जिस व्यक्ति में सभी प्रकार के चरित्र के सद्गुण हैं किन्तु उसमें आत्मसमर्पण करने का भाव नहीं है वह ईसाई दृष्टि से सद्गुणी नहीं कहा जायगा। महात्मा कबीर ने चरित्र के गुणों को शून्य के रूप में माना है और ईश्वरोपासना को अंक के रूप में माना है। अंक के अभाव में शून्य अर्थहीन है और उसकी उपस्थिति में शून्य सार्थक हो जाता है। इसी तरह मनुष्य के चरित्र के सभी सद्गुण तभी सार्थक होते हैं जब वे ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण करने के पश्चात् होते हैं। आत्म-समर्पण की मनोवृत्ति के अभाव में मनुष्य के सद्गुण उसका कोरा अभिमान बढ़ाते हैं और उसे विनाश की ओर ले जाते हैं। जो मत कबीर का है वही मत ईसाई धर्म के एक महान् सन्त सेन्ट अगस्टाइन का भी है। *

सेन्ट अगस्टाइन महाशय का निम्नलिखित कथन इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—

* For though the soul may seem to rule the body admirably, and the reason the vices, if the soul and reason do not themselves obey God, as God has commanded them to serve Him, they have no proper authority over the body and the vices. For what kind of mistress of the body and the vices can that mind be which is ignorant of the true God, and which, instead of being subject to His authority, is prostituted to the corrupting influences of the most vicious demons? It is for this reason that the virtues which it seems to itself to possess, and by which it restrains the body and the vices that it may obtain and keep what it desires, are rather vices than virtues so long as there is no reference to God in the matter For although some suppose that virtues which have a reference only to themselves, and are desired only on their own account, are yet true and genuine virtues, the fact is that even then they are inflated with pride, and are therefore to be reckoned vices rather than virtues For as that which gives life to the flesh is not derived from flesh, but is above it, so that which gives blessed life to man is not derived from man but is something about him; and what I say of man is true of every celestial power and virtue whatsoever—Saint Augustine. *The City of God* Bk XIX, Sec 25.

सद्‌गुण सम्बन्धी विचारों का समय के अनुसार परिवर्तन होता जाता था। एक ही नाम से पुकारे जानेवाले सद्‌गुण यूनानी काल में एक अर्थ रखते थे और वर्तमान काल में दूसरा अर्थ रखते हैं। उदाहरणार्थ—शौर्य (बहादुरी) को लीजिए। यूनानी काल में रण में जो वीरता दिखाई जाती थी उसी को शौर्य कहा जाता था, पर वर्तमान काल में समाज की कुरीति के विरुद्ध आवाज उठाने में जो हिम्मत की आवश्यकता होती है उसे भी शौर्य कहते हैं। अपने विरोधियों की आलोचना सहते हुए न्यायपक्ष पर डटे रहना उतना ही कठिन है जितना किसी प्रबल शत्रु का रण में विरोध करना। आत्म-संयम शब्द के अर्थ में भी इसी प्रकार परिवर्तन हुआ है। किसी प्रबल प्रलोभन से चलायमान न होने की मनोभावना को आत्म-संयम कहा जाता है, परन्तु लगन के साथ काम करने में भी आत्म-संयम की आवश्यकता होती है। अतएव अब आत्म - संयम के अन्तर्गत मनोयोग से अपने काम में लगे रहने का भाव भी आ जाता है। इसी प्रकार न्यायपरता के अन्तर्गत दूसरों के प्रति उदारता का भाव दिखाना भी आ जाता है। सामान्यतः न्यायपरता दूसरों के प्रति अपने ऋण को ठीक से चुकाने का अर्थ रखती है। जिस व्यक्ति ने हमारे प्रति भला किया उसके प्रति हमें भी भला करना चाहिए, यही न्याय-परता है। न्यायपरता में साधारणतः उदारता का भाव नहीं आता। पर विचारों के विकाश के साथ साथ अब यह भाव भी आता जा रहा है। विवेकशीलता के पुराने अर्थ समाज में कुशलता पूर्वक आचरण करना था। अदूरदर्शता को अविवेकशीलता कहा जाता था। पर अब विवेकशीलता का अर्थ अपने आपको उचित आदर्श की प्राप्ति में लगाना भी माना जाता है।

यूरोप में जिन सद्‌गुणों को ऊँचा माना गया है उन्हें भारतवर्ष में वैसा ही ऊँचा नहीं माना गया। अतएव यूरोपीय विचारधारा को समझते समय वहाँ के सद्‌गुण द्योतक शब्दों को जानना आव-

श्यक है। जिस भाव का समावेश किसी विशेष शब्द के द्वारा यूरोप में होता उस भाव का समावेश उसके पर्यायवाची हिन्दी अथवा संस्कृत शब्द में नहीं होता। किसी राष्ट्र की संस्कृति का विकास उसकी भाषा के विकास के साथ होता है, अतएव बिना सांस्कृतिक भावों के द्योतक शब्दों को जाने किसी समाज की संस्कृति को समझना कठिन है।

सद्गुणों की एकता—चरित्र के सद्गुण अनेक माने गये हैं। इनमें देश काल का भी भेद होता है। पर यदि हम तात्विक दृष्टि से देखें तो चरित्र के सभी सद्गुणों में एकता रहती है। एक सद्गुण की वृद्धि से मनुष्य के दूसरे सद्गुणों की भी वृद्धि होती है, और एक के ह्रास से दूसरों का ह्रास होता है। अतएव यह यूनानी कहावत सार्थक है कि जिस व्यक्ति में एक सद्गुण पाया जाता है उसमें दूसरे सद्गुण भी पाये जाते हैं। ऐसा कोई सद्गुण नहीं जिसके प्राप्त करने के लिये विवेक की आवश्यकता न हो। अतएव विवेक को सुकरात महाशय ने प्रधान सद्गुण माना है। विवेकयुक्त साहस ही साहस माना जाता है, विवेक के प्रतिकूल जो साहस दिखाया जाता है उसे हठीलापन कहा जाता है। हमारा विवेक हमें साहसी, आत्मसंयमी और न्यायप्रिय बनाता है। अतएव विवेक द्वारा सभी सद्गुणों में एकता आती है। अब यदि हम आत्म-संयम की दृष्टि से देखें तो भी हमें सभी चरित्र के सद्गुणों में एकता दिखाई देगी। जिस व्यक्ति को अपने ऊपर काबू नहीं वह न तो विवेकी है, न उसमें साहस हो सकता है और न न्यायपरता। आत्मसंयम करने से विचारों में स्पष्टता और दृढ़ता आती है, उत्साह की वृद्धि होती है और मनुष्य न्याय-प्रिय बनता है। विचार और आत्मसंयम का अभ्यास सभी सद्गुणों के प्राण हैं। इनके [illegible] संभव नहीं। विचार और आत्म-संयम भी

चरित्र निर्माण के साधन

निर्देश और उदाहरण का प्रभाव—नीति-शास्त्र के अध्ययन
:क प्रधान उद्देश्य अपने चरित्र को नैतिक बनाना है। बालकों का
नैतिक कैसे बनाया जाता है, इसे हम शिक्षा-मनोविज्ञान से
ते हैं। जो ढंग बालकों के चरित्र के निर्माण का है, वही ढंग
आप के चरित्र निर्माण का भी है। चरित्र के निर्माण में ऊँचे
शों का ज्ञान और अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होना आवश्यक है,
इनके अतिरिक्त भली आदतों के बनने की भी आवश्यकता
है। ये भली आदतें दूसरे लोगों के सद्‌निर्देश और आचरण के
न से बनती हैं। हम जिस प्रकार के वातावरण में रहते हैं और
दूसरे भले लोगों को आचरण करते देखते हैं, उसी प्रकार का
रण करने की प्रवृत्ति हमारे मन में भी उत्पन्न हो जाती है।
क मनुष्य अपने आप को भला बनाना चाहता है, परन्तु यदि उसमें
ा-शक्ति का बल नहीं है, तो केवल भले आदर्शों के ज्ञान से वह
नहीं बन जाता। कभी कभी नैतिकता पर विचार न करके
रण करनेवाले व्यक्ति को नैतिक ज्ञान से लाभ न होकर हानि होती
इच्छा-शक्ति की निर्बलता की अवस्था में जब किसी मनुष्य को
क ज्ञान दिया जाता है, तब इससे उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व की
ते उत्पन्न हो जाती है। उसका बाह्य मन आदर्शवादी बन जाता
किन्तु उसका अन्तर-मन पाशविक अवस्था में ही रहता है।
का परिणाम स्वरूप उसके मन के दोनों भागों में संघर्ष आरम्भ हो
ा है जिससे उसकी मानसिक शक्ति का अपव्यय होता है। इससे
की इच्छाशक्ति और भी निर्बल हो जाती है और वह अपनी
ा के प्रतिकूल अपने आपको अपराध की ओर जाते हुए पाता है।
यदि ऐसे व्यक्ति को नैतिक उपदेश न देकर सहज भाव से सदा-
ण के लिये निर्देश दिये जायें, उसकी प्रशंसा करके उसके आत्म-

विश्वास को बढ़ाया जाय, तो उसका अधिक कल्याण है। अपने आप को दिये गये कल्याणकारी आत्म-निर्देश भी हमें अधिक उन्नत बना सकते हैं। अंग्रेजी में कहावत है कि 'सफलता के समान सफलता देनेवाली दूसरी कोई वस्तु नहीं है।' जो मनुष्य अपने विचारों को रचनात्मक बना लेता है, वह अपने आप में नैतिक सुधार करने में समर्थ होता है।

भले लोगों का आचरण भी हमें चरित्र निर्माण में प्रोत्साहन देता है। जैसा काम दूसरे लोग करते हैं वैसा ही काम करने की प्रवृत्ति हम में भी उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक बुरा अथवा भला आचरण संक्रामक होता है। जब किसी व्यक्ति का विशेष प्रकार का आचरण होता है, तो दूसरे लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। फिर उसका विभिन्न क्रियाएँ दूसरे लोगों के मन में उसी के समान आचरण करने के लिये प्रेरणा उत्पन्न करने लगता हैं। अतएव किसी विशेष व्यक्ति के आचरण में सामान्य व्यक्ति की अपेक्षा दूसरे लोगों को प्रभावित करने की शक्ति अधिक होता है। यदि इस विशेष व्यक्ति का चरित्र बहुत ही सुन्दर हुआ तो उसके आसपास रहनेवाले सभी लोगों का चरित्र अपने आप ही सुन्दर हो जाता है।

एक बार सेण्ट फ्रैंसिस नामक ईसाई महात्मा ने अपने एक मित्र से कहा "चलो आज हम इस नगर के लोगों को कुछ धर्मोपदेश दे आयें।" उनकी यह बात सुनकर उनके शिष्य उनके साथ हो लिये प्रातःकाल वे अपने मठ से निकले और पूरे दिन उस नगर में घूमते रहे। यहाँ तक कि एक भी गली ऐसी न रही जहाँ वे न गये हों। जब दिन ढलने लगा तब वे मठ की ओर लौटने लगे। इसी बीच एक शिष्य ने सेण्ट फ्रैंसिस पूछा—"पिता! हम धर्मोपदेश देना प्रारम्भ कब करेंगे?" इस पर सेण्ट फ्रैंसिस ने कहा, "हम लोग अभी तक क्या कर रहे थे? हम इस नगर के एक एक गली में गये। इस नगर के लोगों के लिये यह धर्मोपदेश था। उन लोगों ने हमें देखा हमारे उपदेशों के बारे में कुछ ने आपस में चर्चा की और वे त्याग के जीवन की महत्ता

व्यापक उद्देश्य की आवश्यकता—चरित्र निर्माण का दूसरा उपाय अपने को किसी एक प्रकार के आदर्श की प्राप्ति में लगा देना है। जब तक कोई मनुष्य किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति में अपने आपको नहीं लगा देता, तब तक उसमें वे सद्गुण नहीं आते, जो उसके जीवन को आदर्श जीवन बनाने के लिये आवश्यक हैं। किसी महान् उद्देश्य में लगने पर उसे उस उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु दूसरे लोगों के साथ काम करना पड़ता है और यह दूसरों के साथ काम करना मनुष्य के चरित्र का स्वाभाविक निर्माण करता है। किसी मनुष्य का उद्देश्य विज्ञान का अध्ययन, किसी का समाज सेवा, किसी का कविता अथवा कला की वृद्धि अथवा धर्म का प्रचार करना आदि हो सकता है। मनुष्य का उद्देश्य चाहे जो कुछ हो पर जब तक वह इस प्रकार का नहीं हो जाता कि उसके लिये वह अपने आपको भूल जाये, तब तक उसका चरित्र सुगठित नहीं होता। किसी सद्गुण के विकास के लिये आवश्यक है कि हम दूसरों से मिलकर किसी ऐसे उद्देश्य के लिये प्रयत्न करें जो महत्ता और तात्विक है।

अभ्यास की महत्ता—चरित्र का प्रत्येक सद्गुण अभ्यास से आता है। ऐसा कोई सद्गुण नहीं जो मनुष्य अभ्यास के द्वारा प्राप्त न कर ले। चरित्र के सद्गुणों को प्राप्त करने के उपाय मनोविज्ञान की पुस्तकों में बताये जाते हैं। भली आदतें ही चरित्र के सद्गुण

पड़ जाते हैं और बुरी आदतें चरित्र के दुर्गुण। आदत डालने के जो नियम हैं वे ही सद्गुण प्राप्ति के नियम हैं। किसी सद्गुण को प्राप्त करने के लिये हमें पहले उस पर पर्याप्त विचार करना पड़ता है, फिर नित्य प्रति अभ्यास करना पड़ता है। जिस व्यक्ति का जितना दृढ़ संकल्प होता है वह उतना ही अधिक किसी सद्गुण को प्राप्त करने में समर्थ होता है। अभ्यास को लगातार जारी रखना आवश्यक है। प्रारंभ में ही अभ्यास में ढिलाई डाल देने पर आदत नहीं बनती और कोई भी सद्गुण प्राप्त नहीं होता।

तप और त्याग—चरित्र निर्माण के लिये तप और त्याग भी आवश्यक होते हैं। जितना ही हम अपनी प्राकृतिक इच्छाओं के वश में होकर अपने आपको किसी एक ओर मोड़ देते हैं उतना ही हमें स्वयं को दूसरी ओर मोड़ने की आवश्यकता होती है, जिससे कि हम स्वाभाविक साम्य को प्राप्त कर सकें। इस प्रकार जिस मनुष्य को विलासिता की लत लग गई है, उसे मानसिक साम्य प्राप्त करने के लिये तप के जीवन की आवश्यकता होती है। अतएव जो व्यक्ति जितना ही आराम का जीवन व्यतीत कर रहा है उसे अपने चरित्र निर्माण के लिये उतना ही कठोर जीवन व्यतीत करना होता है।

तप के जीवन की एक और उपयोगिता है। तप में मनुष्य को अपने आप पर नियंत्रण करना पड़ता है। उसे अपनी पाशविक प्रवृत्तियों पर अधिकार प्राप्त करने के लिये यत्न करना पड़ता है। इससे उसकी इच्छा-शक्ति बलवती होती है। जो व्यक्ति जितना ही स्वयं से लड़कर अपने पाशविक स्वभाव पर अधिकार करता है, वह अपनी इच्छा-शक्ति को उतना ही अधिक बलवान बनाता है। परन्तु यह अन्तर्द्वन्द्व तभी उपयोगी होता है जब यह मनुष्य के जीवन में सहज रूप से उपस्थित हो जाता है। जब जान-बूझ कर इस प्रकार के अन्तर्द्वन्द्व को लाया जाता है, अर्थात् जब मनुष्य अपने प्राकृतिक स्वभाव पर नियंत्रण करने के लिये ही कोई कठोर तप करने लगता है, तब उसमें

असाधारण अभिमान उत्पन्न हो जाता है। आत्म-विजय रखने वाले व्यक्ति के मन में अभिमान का उत्पन्न होना सौम्य के बिगड़ने की स्थिति को दर्शाता है। इसे मानसिक अवस्था कहा जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य की भोगेच्छा तृप्ति का गुप्त मार्ग खोज निकालती है।

आत्म-निरीक्षण—चरित्र निर्माण के लिये आत्मनिरी रहना कुछ दूरतक आवश्यक रहता है। इससे मनुष्य स्वयं दूर तक नैतिक भूलों से बचाता रहता है। परन्तु सदा ही अप की आलोचना करते रहना और उसके लिये आत्मभर्त्सना क एक प्रकार का मानसिक रोग है। इससे मनुष्य की इच्छा-शक्ति न होकर क्षीण हो जाती और मनुष्य का चरित्र विघटित होने ल इस प्रकार की मनोवृत्ति से बचने का एक उपाय यह है कि हम सदा ही रचनात्मक कार्य में लगाये रहें। किसी दुर्बलता का सर्वोत्तम उपाय उस दुर्बलता पर ध्यान न जमा कर उसके सद्गुण के अभ्यास में अपना ध्यान लगाना है। मनुष्य का ध्या ओर केन्द्रित रहता है, उसी ओर वह अनायास अपने आपको पाता है। यदि कोई मनुष्य किसी बुराई के लिये अपनी भर्त्सना रहता है, तो वह देखेगा कि वह आगे न बढ़कर पीछे की ढकेला जाता है। आत्म-भर्त्सना का भाव उसमें वह दुर्गुण न आने दे जिसके लिये वह आत्म-भर्त्सना करता है, पर प्रकार उसमें कोई ऐसे सद्गुण दृढ़ न होंगे जिससे कि उसका दृढ़ बने। चरित्र की दृढ़ता अपने ध्यान को किसी रचनात्मक के ऊपर केन्द्रित करने से ही आती है। एमर्सन महाशय कथन में मौलिक सत्य है कि भले लोग अपनी भूलों का मा नये भले काम करने के अतिरिक्त दूसरे किसी प्रकार से नहीं क वे पुरानी भूलों के लिये सदा आत्म-भर्त्सना नहीं करते रहते।

* "New Actions are the only apologies and explanations of old which the noble can bear to receive or to offer" — Emerson, Complete W

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य को अपनी दुर्बलताओं को जानने की चेष्टा ही न करनी चाहिये तथा आत्मनिरीक्षण न करना चाहिये। आत्मनिरीक्षण करना एवं अपनी दुर्बलताओं को पहचानना अपने आपको सुधारने के लिये और दृढ़ चरित्र गठन के लिये नितान्त आवश्यक है। परन्तु जो व्यक्ति इतने से ही संतोष कर लेता है वह अपने आपको धोखा देता है। वह सदा आत्म-भर्त्सना की अनुभूति करता रहता है। ठोस चरित्र का निर्माण आलोचनात्मक विचारों से नहीं वरन् रचनात्मक विचारों से होता है। इसके लिये मनुष्य को ऐसा आचरण करना चाहिये, जिससे उसे आत्म-प्रसाद और आत्म संतोष की अनुभूति हो।

आत्म-निरीक्षण से चरित्र का कोई भी सद्गुण प्राप्त किया जा सकता है। पर इस अभ्यास के जारी रखने के लिये मनुष्य में इच्छा की प्रबलता होना आवश्यक है। मनुष्य जिस लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता है उसे वह अवश्य ही प्राप्त कर लेता है। इच्छा की प्रबलता ही उसकी लगन का आधार होती है। यह इच्छा की प्रबलता किसी पदार्थ के ऊपर बारबार विचार करने से आती है।

चरित्र का कोई भी सद्गुण एकाएक प्राप्त नहीं होता। चरित्र के सद्गुणों का प्राप्त करना अपने प्राकृतिक स्वभाव के प्रतिकूल जाना है। जब कोई व्यक्ति किसी एक गुण की एकाएक वृद्धि कर लेता है तो उसकी आन्तरिक प्राकृतिक इच्छाओं का प्रबल दमन हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप उनके मन में अनेक प्रकार की प्रतिक्रियायें उत्पन्न हो जाती हैं और उसका सद्गुण ही उसकी मानसिक अशान्ति का कारण बन जाता है।

आत्म-संयम—चरित्र के सभी गुणों के लिये आत्म-संयम की आवश्यकता है। यह दूसरों के कल्याण के लिये और आत्म-कल्याण के लिये आवश्यक है। जिस व्यक्ति को समाज का कोई काम करना है उसे आत्म-संयम की आवश्यकता तो है ही

पर जो अपना जीवन सुखी बनाना चाहता है उसे भी आत्म-संयम की आवश्यकता है।

आत्म-संयम का उलटा विषय-लोलुपता है। विषय लोलुपता से नैतिक हानि है। जिस मनुष्य में आत्म-संयम का अभाव रहता है और विषय लोलुपता की वृद्धि होती है वह विषय भोग से सुख भी प्राप्त नहीं कर पाता। उसकी विषयों का भोग करने की शक्ति नष्ट हो जाती है। सब प्रकार के भोग अपने समक्ष रहकर भी वह उनसे सुख प्राप्त नहीं करता। इससे यह स्पष्ट है कि सुख विषयों में नहीं, हमारी मानसिक शक्ति में ही है। जो व्यक्ति जितना ही विषयोन्मुख होता है वह उतना ही शक्ति हीन होता है और उसमें विषय सुख भोगने की उतनी ही कमी होती है। बार बार मन को सुख में ले जाने से एक और हानि होती है। मनुष्य की इच्छा शक्ति इस प्रकार निर्बल हो जाती है। इच्छा शक्ति के निर्बल हो जाने पर मनुष्य वासनाओं का दास बन जाता है। इस प्रकार की मानसिक गुलामी से मनुष्य सदा दुखी बना रहता है।

अब प्रश्न आता है कि आत्म-नियंत्रण कैसे प्राप्त किया जाय। इस प्रसंग में रूस के प्रसिद्ध लेखक और समाज सुधारक महात्मा टाल्सटाय के निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं—"आत्म-नियंत्रण के प्राप्त करने के लिये पहले उन बुराइयों को जीतना चाहिये जो स्थूल रूप से दिखाई देती हैं। पीछे सूक्ष्म बुराइयों को वश में किया जा सकता है। बकवाद करना, निंदा करना, किसी के बारे में अशुभ सोचना, ईर्ष्या करना यह सूक्ष्म बुराइयाँ हैं। चोरी करना, व्यभिचार करना, आलस्य करना, चटोरा होना, पेटू होना ये स्थूल रूप से चरित्र की बुराइयाँ हैं। पहले हमें स्थूल बुराइयों को छोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये, पीछे सूक्ष्म बुराइयाँ धीरे-धीरे छूटेंगी। महात्मा टाल्सटाय ने आत्म-नियंत्रण को प्राप्त करने के लिये पहला कदम उपवास का रखना बताया है। उपवास मनुष्य की

जिव्हा को वश में करने का साधन है, यह चटोरापन और पेटूपन की आदत का विनाशक है। वर्तमान सभ्यता चटोरेपन की सभ्यता है। इससे जिह्वा का नियंत्रण शिथिल होता है। हमारे प्रत्येक मंगल कार्य में खाने का ही प्रथम स्थान रहता है। किसी के मिलने जुलने में, शादी विवाह में, भजन कीर्तन में, गाने रोने में—सभी जगह भोजन का स्थान अवश्य रहता है। मंदिर में प्रसाद के लिये जितने लोग जाते हैं उसमें हरिकीर्तन के लिये नहीं जाते। जहाँ प्रसाद की कमी हो जाती है, वहाँ दर्शकों की भीड़ भी कम जाती है। इस प्रकार हमारे सभी कार्यों के द्वारा जिह्वा का नियंत्रण शिथिल होता है।

फिर भोजनों में भी नये नये आविष्कार होते जाते हैं। धनी लोग दिन में कभी चार बार और कभी छै बार खाते हैं। प्रत्येक समय कुछ नये खाद्य-पदार्थ की चाह रहती है। बहुत से धनी लोगों के रसोइये दिन भर कुछ न कुछ रसोई ही तैयार करते रहते हैं। फिर जितना ही खाने के पदार्थों में परिवर्तन किया जाता है मन उससे भी संतुष्ट नहीं होता।

इस प्रकार की सब बीमारी की उचित चिकित्सा उपवास ही है। यदि प्रत्येक धनी व्यक्ति महिने में दो बार उपवास करे तो एक ओर उसे भूख अधिक लगे और इसके कारण उसे नित्य प्रति नई नई खाने की वस्तुओं को खोजने की आवश्यकता न हो, और दूसरी ओर समाज के रसोइया कहलाने वाले लोगों का समय बचे। इससे उनके स्वास्थ्य में भी पर्याप्त सुधार हो जावे। उपवास का लक्ष्य न केवल किसी एक दिन बिना भोजन के रह जाना है, वरन् बार-बार भोजन करने की आदत और चटोरापन छोड़ देना है। इसके अनेक प्रकार के लाभ हैं।

जो व्यक्ति पेटूपन छोड़ देता है उसमें आलस्य भी नहीं ठहरता। जब आलस्य की आदत छूट जाती है तो मनुष्य में कामुकता भी कम जाती है। जो जिव्हा के लालच को वश में कर लेता है वह कामुकता

के प्रलोभन को भी जीत लेता है। इसी प्रकार उसमें धीरे धीरे वाणी और विचारों पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है। अतएव व्यक्ति आत्म-नियंत्रण प्राप्त करना चाहता है उसे भोजन में नियं से प्रारंभ करना चाहिये। किसी प्रकार के अतिक्रम के प्रायश्चि रूप भी उपवास लाभ कारी होता है।

जब आत्म-नियंत्रण प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले व्य सुख को एकाएक त्याग करके कठोर तपस्या का जीवन व्यतीत क लगते हैं, तब इस प्रकार की तपस्या के जीवन में आत्मसंयम वृद्धि नहीं होती, अपितु रोगों की उत्पत्ति होती है एकान्तता से मनुष्य एक प्रकार के सद्‌गुण को भले ही प्राप्त कर उसमें दूसरे दुर्गुण उत्पन्न हो जाते हैं। दुर्वासा ऋषि भारी तपि थे, पर उनमें क्रोध की मात्रा भी अधिक थी। वे रामचंद्र को भी म करने को तैयार हो गये थे। इसी प्रकार विश्वामित्र में तपस्या बल था किन्तु अभिमान भी भारी था। इनसे अधिक आत्म-नियंत्र जनक राजा और रामचंद्र में पाया जाता है। गृहस्थ जीवन जितनी आत्म-नियंत्रण होने की संभावना है भिक्षु जीवन उतनी संभावना नहीं है। सच्चे आत्म-नियंत्रण की परीक्ष विषयों की उपस्थिति में अपने आपको वश में करके रखने में है क्रोध का वातावरण होने पर शान्त मन रहना जितना श्रेयस्कर उतना क्रोध के वातावरण के अभाव में क्रोध के अनुभव न करने नहीं है।

सरलता—व्यवहार की सरलता और सचाई एक ऐसा सद्‌गुण वैयक्तिक और सामाजिक कल्याण की दृष्टि से लाभकारी है। इसे प्राप्त करना हमारे चरित्र के निर्माण के लिये लाभकारी है। जिस व्यक्ति के व्यवहार में सचाई और सरलता नहीं रहती उसका मन सदा दुःखी रहता है। उसपर न दूसरे लोग विश्वास करते हैं और न वह दूसरे लोगों पर विश्वास करता है। वह सदा संदेहयुक्त मनोवृत्ति का

बना रहता है। अपने व्यवहार में सचाई न रखने से समाज का हित नहीं होता। व्यवहार की सचाई चित्त की सचाई से आती है। प्रत्येक मनुष्य को वही कहना चाहिये जो उसका अर्थ हो, वह शब्दों को अपने भाव छिपाने के लिये काम में न लावें। पर यहाँ की अतिशयता अनर्थमूलक होती है। कितने ही अवसर पर अपने विचारों को दूसरों के समक्ष प्रकाशित न करने में ही अपना और दूसरों का कल्याण होता है। मनुष्य को सदा प्रिय और लाभकारी सत्य ही बोलना चाहिये। व्यर्थ की सत्यवादिता चरित्र का सद्गुण नहीं अपितु, उसका दुर्गुण है।

मनुष्य के नैतिक विकास का अर्थ क्या है, इस प्रश्न के विषय में भिन्न भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार मनुष्य के अपने आपको समाज के प्रति समर्पण करने में उसका नैतिक विकास होता और दूसरों के अनुसार मनुष्य को अपने कर्तव्य को अपने आप ही निश्चित करना चाहिए। कभी समाज के नैतिक नियम कभी ठीक होते हैं और कभी ये ठीक नहीं होते। हमें समाज के उन्हीं नैतिक नियमों को मानना चाहिए जो हमारी अन्तरात्मा तथा विवेक के प्रतिकूल नहीं है। समाज भी अपनी नैतिक लक्ष्य की प्राप्ति व्यक्ति के द्वारा ही करता है। व्यक्ति न केवल समाज के उच्च से उच्च आदर्शों को चरितार्थ करके उसे जीवित रखता है वरन् वह अपने नैतिक जीवन को सामाजिक आदर्शों से ऊँचा उठाकर समाज का सुधार भी करता है। वह समाज का नैतिक विकास करता है। अतएव किसी भी व्यक्ति को अपने आपको नैतिक विकास के लिए समाज के ऊपर निर्भर न करके, अपनी बुद्धि से ही काम लेना चाहिए। उसे कभी समाज के अनुसार काम करना पड़ेगा और कभी उसे समाज के प्रतिकूल भी काम करना पड़ेगा।

इग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् एफ० एच० ब्रेडले महाशय का कथन है कि जो व्यक्ति अपने आपको संसार के दूसरे लोगों से बहतर बनाने की इच्छा करता है वह वास्तव में अनैतिकता की ओर जाता

है।* ब्रेडले महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने व्यक्तित्व को समाज के व्यक्तित्व से ऐक्य कर देता है वह उतना ही अधिक नैतिक है और जो अपने आपको किसी प्रकार का विशेष व्यक्ति मानकर समाज के लोगों से भिन्न प्रकार का आचरण करता है, वह अपना पतन ही करता है। उसे अभिमान हो जाने की संभावना रहती है कि वह दूसरे लोग से अधिक श्रेष्ठ है। इसके कारण वह भूल करने पर दूसरे लोगों से शिक्षा ग्रहण नहीं करता, उनकी बात नहीं सुनता और अपने हठ में ही लगा रहता है। उसकी हठ की मनोवृत्ति के कारण उससे कठिन भूलें भी होती हैं। जो व्यक्ति उसका विरोध करता है वह उसका विनाश करने के लिए अथवा उसे दूसरे लोगों की दृष्टि में गिराने के लिए तुल जाता है। इस प्रकार वह दूसरे व्यक्ति को नीचा सिद्ध करने की चेष्टा करता है। पर इस प्रकार की चेष्टा करना ही अनैतिक आचरण है। जब कोई व्यक्ति अपने आपको असाधारण व्यक्ति— संत, महात्मा, साधु आदि मानने लगता है तो उससे भारी नैतिक भूलें अवश्य होती हैं। उसके अभिमान को नष्ट करने के लिये ऐसी भूलें होना आवश्यक भी है।

परन्तु अपने आपको समाज का विशेष व्यक्ति मानना जिस प्रकार नैतिक भूल है, उसी प्रकार समाज की अविवेकयुक्त प्रथाओं अथवा विचारों का समर्थन करना भी नैतिक भूल है। हमें समय समय पर समाज की प्रचलित रूढ़ियों और विचारों का विरोध करना पड़ता है। इस विरोध के लिये समाज के प्रमुख लोग हमसे अप्रसन्न हो जाते हैं और दण्ड देने की भी ठान लेते हैं। पर यदि उन लोगों के दण्ड के भय से हम अपने सत्य और विवेक पर आधारित निश्चयों को बदल दें तो हमारा नैतिक विकास होना संभव न हो। अपने

* "To wish to be better than the world is to be already on the way to immorality"—F. H. Bradley.

आपको समाज का विशेष व्यक्ति सिद्ध करने के लिये समाज की रूढ़ियों का विरोध करना एक बात है और समाज के वास्तविक कल्याणहेतु उसकी रूढ़ियों को बदलने की चेष्टा करना दूसरी बात है। अमेरिका में गुलामों से काम लेने की प्रथा प्रचलित थी। वहाँ के धनी लोग अफ्रिका से नेग्रो मंगाकर उन्हें अपने खेतों पर जबरदस्ती काम कराते थे। इसे वे बिलकुल नैतिक आचरण मानते थे। गुलाम लोग किसी प्रकार के काम में त्रुटि दिखाने के लिये पीटे जाते थे। उन्हें खाने, पीने, सोने और विवाह-शादी की कोई भी विशेष सुविधा नहीं दी जाती थी। वे जानवरों जैसे रखे जाते थे। इन लोगों की यह दशा देखकर वहाँ के कुछ सहृदय व्यक्तियों ने अपने मन में इस प्रथा को अन्त करने की ठान ली। जिन लोगों ने इसका आन्दोलन उठाया उन्हें प्रारम्भ में जनता का विरोध करना पड़ा और इस विरोध के कारण उन्हें अनेक प्रकार की यंत्रणा सहनी पड़ी। परन्तु अन्त में वे सफल हुए। यदि वे समाज में प्रचलित विचारों के अनुसार ही अपने विचारों को बना लेते तो गुलामों से काम लेने की प्रथा का अमेरिका में अन्त न होता। इसी प्रकार लूथर, सुकात आदि महा पुरुषों ने जिन विचारों को उचित समझा उन्हीं के अनुसार अपने आचरण को बनाया और ऐसे ही विचारों का उन्होंने समाज में प्रचार किया।

पर जिस नियम का पालन करना समाज के इन विशेष व्यक्तियों के लिये ठीक है उस नियम का पालन करना समाज के साधारण व्यक्तियों के लिये ठीक नहीं है। समाज के कई लोग सामाजिक नियम अथवा रूढ़ियों का विरोध समाज के कल्याण के लिये नहीं करते, वरन् अपनी किसी प्रकार की भोगेच्छाओं के तृप्त करने के लिये करते हैं। जब किसी सामाजिक नियम अथवा रूढ़ियों का उल्लंघन किसी स्वार्थवश किया जाता है और जब इस प्रकार का उल्लंघन मनुष्य को पाशविकता के स्तर से ऊँचा न उठाकर नीचे गिराता है तब वह अनैतिकता कहा जायगा। कभी कभी अपने आपको विशेष प्रकार

को व्यक्ति सिद्ध करने के हेतु ही कोई व्यक्ति किसी सामाजिक प्रथा, नियम अथवा संस्था का विरोध करता है, पर उसे अपने ही वास्तविक हेतु का ज्ञान नहीं रहता। वह अपने विचारों को उच्च कोटि के नैतिक विचार ही मानकर उक्त कार्य करता है। उसकी ज्ञात भावनायें बहुत ही ऊँची होती हैं, पर उसकी अज्ञात भावनायें नीचे स्तर की होती हैं। अतएव ऐसी स्थिति में यह निश्चय करना कठिन होता है कि नैतिक सुधार की चिन्ता करने वाले व्यक्ति का वास्तविक हेतु ऊँचा है अथवा निम्न स्तर का। इसी कारण ही ब्रेडले महाशय की शिक्षा पर हमें ध्यान देना चाहिए। हमें विशेष प्रकार का व्यक्ति न बनकर सामान्य व्यक्ति बने रहने की चेष्टा ही करना चाहिए। यदि हम संसार में अपनी नैतिक विचारों के लिए क्रान्ति मचाये बिना समाज का कल्याण कर सकें तो अत्युत्तम हो। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने आचरण में पहले उतनी नैतिकता को चरितार्थ करे जितनी कि समाज में प्रचलित है, फिर वह उससे आगे बढ़ने की चेष्टा करे। आगे बढ़ते समय उसे खूब समझ बूझ लेना चाहिए कि उसका आगे बढ़ना सभी प्रकार से उचित है अथवा नहीं। यदि किसी समाज में कोई ऐसी प्रथा प्रचलित है जो संसार के दूसरे समाजों में नहीं पाई जाती और उससे समाज की वास्तविक क्षति हो रही है तो उसे इस प्रथा का विरोध करना ही उचित है। इसमें ही उसका नैतिक विकास है। संकुचित नियम को छोड़कर व्यापक नियम के पालने से व्यक्ति का नैतिक विकास होता है चाहे वह अपने देश का हो अथवा दूसरे देश का।

किसी व्यक्ति का नैतिक विकास एकाएक नहीं होता, एकाएक समाज का विरोध करना भी अनर्थकारी है। अतएव मनुष्य को अपने स्वभाव का ज्ञान बढ़ाते हुए धीरे धीरे नैतिक उन्नति में आगे बढ़ना चाहिए। जो व्यक्ति अपने आचरण में किसी प्रकार की एकान्तता अथवा अतिक्रम दिखाते हैं वे नैतिकता से आगे न बढ़कर पीछे ही

चले जाते हैं। उनके उतावलेपन से न उनका कल्याण होता है और न समाज का।

नैतिक विकास के उपकरण[1]

वैयक्तिक और सामाजिक विचारों का साम्य—व्यक्ति का नैतिक विकास सभी बातों में मध्यम मार्ग के अनुसरण से होता है। मनुष्य के एक ओर व्यक्तिगत विचार होते हैं और दूसरी ओर समाज के विचार होते हैं। इन दोनों प्रकार के विचारों में जब संघर्ष होता है तो व्यक्ति को चाहिए कि वह आवेश में आकर समाज के विचारों का विरोध न करने लग जाय। जो व्यक्ति ऐसा व्यवहार करता है उसकी सभी बातों को भी समाज नहीं मानता और उसे पीछे पछताना पड़ता है। यदि वह समाज का सुधारक है तो उसे समाज को उतना ही आगे ले जाने की चेष्टा करना चाहिए जितना कि समाज जा सकता है। यदि समाज को एकाएक आगे बढ़ाने की चेष्टा की गई तो प्रतिगामिनी क्रियायें आरम्भ हो जाती हैं। इससे समाज आगे न बढ़कर पीछे ही चला जाता है।

पर समाज के विचार हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व के प्रतीक होते हैं। कभी मनुष्य के कुछ विचार आगे बढ़े रहते हैं, परन्तु उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व पिछड़ा हुआ ही रहता है। ऐसी अवस्था में जब कोई व्यक्ति कोई भारी त्याग और उदारता का कार्य कर डालता है और समाज उसका आदर न करके उसके प्रतिकूल जाता है तो उसके मन में आत्मभर्त्सना की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह अपने आपसे और समाज से निराश हो जाता है। ऐसा व्यक्ति फिर मृत्यु का आवाहन करने लगता है। अतएव हमें उतना ही ऊँचा उठने की चेष्टा करना चाहिए जितनी ऊँचाई पर हम सदैव रह सकें।

मान लीजिये भारतवर्ष में विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा के

[1] Condition of Moral Evolution.

तोड़ने के लिये हम अपने सम्बन्धी का पुनर्विवाह कर डालते हैं। पर पीछे समाज हमारा बहिष्कार करता है और इसके कारण हमें आत्मभर्त्सना होती है तो ऐसी अवस्था में हमारा कार्य हमारा नैतिक उत्थान न करके नैतिक पतन करता है। मनुष्य का नैतिक उत्थान उसके उसी कार्य से होता है जिसके करने के पश्चात् उसे आत्म-सन्तोष होता है और जिसके करने के लिये उसे कितने ही कष्ट क्यों न सहना पड़े वह उसे सहर्ष सहता है। समाज में सदा अनेक प्रकार के अनाचार, पाखंड, लूट-खसोट आदि बने रहते हैं। इनका अन्त करना उचित है। पर हमें इनके अन्त करने में वहीं तक भाग लेना चाहिये जहाँ तक हम इस काम को पूरा करने के लिये अपने आप में समर्थ देखते हैं। इस प्रकार मध्यम मार्ग का अनुसरण मनुष्य का नैतिक विकास करता है।

सत्संग का प्रभाव—मनुष्य का नैतिक विकास सत्संग से होता है। भले लोगों का आचरण साधारण व्यक्ति के आचरण को प्रभावित करता है। जितना ही मनुष्य अपना समय भले लोगों की संगत में देता है उसका आचरण सुधारने की उतनी ही अधिक सम्भावना है। समाज के सुधारक भी व्यक्ति के चरित्र को सुधारने में भारी काम करते हैं। वे व्यक्ति के सामने ऊँचे ऊँचे आदर्श रखते हैं। वे सदा प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्तव्य का स्मरण कराते रहते हैं। प्रत्येक सजीव समाज में इस प्रकार के समाज सुधारक रहते हैं। इन सुधारकों से व्यक्ति को अपने सुधार के लिये आदेश और निर्देश मिलते रहते हैं।

किसी विशेष घटना का प्रभाव—कभी कभी मनुष्य के जीवन में कोई विशेष घटना घटित हो जाती है। यह घटना ऊपरी दृष्टि से भले ही महत्वहीन हो मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन के लिये बड़ी महत्व की होती है। कभी कभी ऐसी घटना उसके सारे जीवनधारा को बदल देती है। जब एक डाकू किसी सन्त को मारना चाहता है और सन्त

उसमें विशेष उदारता का व्यवहार करता है तो कभी कभी ऐसे डाकू का हृदय परिवर्तन हो जाता है और वह अपने दुराचरण को छोड़ सदाचारी महात्मा बन जाता है।

मनुष्य के जीवन में एकाएक परिवर्तन[1] प्रायः नैतिकता के विरुद्ध आचरण के अतिक्रम से होता है। जब मनुष्य किसी प्रकार के व्यभिचार में अतिक्रम कर बैठता है तो उसे आत्म-भर्त्सना होने लगती है। इसके परिणाम स्वरूप वह काम वासना को अपना शत्रु मानने लगता है। वह पहले जितना विषयभोगी था, पीछे वह उतना ही तपस्वी बन जाता है। यह तपस्या की मनोवृत्ति जब फिर साम्य भाव को आ जाती है तो व्यक्ति का स्थायी नैतिक सुधार होता है।

जागरूकता—मनुष्य के नैतिक विकास में अपने आचरण और विचारों के प्रति सदा जागरूक रहना महत्व का स्थान रखता है। जो व्यक्ति अपने आपको भला बनाना चाहता है वह अपने काम के उचितानुचित पर विचार करके उसे करता है। जो व्यक्ति सदा काम की धुन में लगा रहता है और उसके औचित्य पर विचार नहीं करता वह अपने आपको किसी प्रकार के प्रवाह में बहा हुआ पाता है। अतएव काम के साथ साथ काम की आलोचना करते रहना अपने कामों को नैतिक बनाने के लिये और अपने जीवन में नैतिक विकास के लिये आवश्यक है।

जागरूक मनुष्य न केवल अपने बाहरी कामों का विचार करता है, वरन् उन कर्मों के हेतुओं पर भी विचार करता है। उसकी इच्छा रहती है कि उसके काम भले हों और वे ऊँचे से ऊँचे हेतुओं से किये गये हों। जब मनुष्य अपने कामों को तथा विचारों को इस प्रकार देखता रहता है तो उसे जागरूक मनुष्य कहते हैं। बुद्ध भगवान् ने जागरूकता को मनुष्य के नैतिक विकास में महत्व की

[1] Moral Conversion

वस्तु मानी है। इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक टामस हिल ग्रीन महाशय ने भी इसे महत्व का स्थान दिया है।

आत्म-परीक्षा—प्रत्येक मनुष्य को समय समय पर आत्म-परीक्षा की आवश्यकता होती है। हृदय परिवर्तन करने वाली विशेष घटना के समय आत्म-परीक्षा का कार्य विशेष रूप से होता है। पर साधारणतः भी मनुष्य समय समय पर आत्म-परीक्षा की आवश्यकता देखता है। ऐसी अवस्था में वह अपने पुराने कामों की आलोचना करता है। वह जानना चाहता है कि वह अपने सिद्धान्तों को अपने पुराने आचरण में बरत सका है अथवा नहीं। इस प्रकार की आत्म-परीक्षा में वह किसी विशेष परिस्थिति में न केवल अतीत काल के बाहरी कामों की आलोचना करता है वरन् उन हेतुओं तथा सिद्धान्तों की भी आलोचना करता है जो उन कामों के प्रेरक अथवा पथप्रदर्शक थे। यदि इनमें कुछ त्रुटि हुई तो उसे वह सुधारने की चेष्टा करता है। कभी कभी मनुष्य अपने आचरण में भूल करता है अर्थात् उसका आचरण उसके द्वारा स्थिर किये गये नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार नहीं होता। कभी वह सिद्धान्तों के निश्चय करने में ही करता है, अर्थात् उसके सिद्धान्त निम्नकोटि होते हैं, और कभी कभी वह अपने हेतुओं के विषय में नैतिक भूल करता है, अर्थात् वह जिन हेतुओं को ऊँचा हेतु मानता है वे वास्तव में नीचे हेतु होते हैं। आत्म-परीक्षा से मनुष्य को इन सब बातों का पता चल जाता है और फिर वह अपने नैतिक सुधार करने में समर्थ होता है।

परन्तु निरन्तर आत्म-परीक्षा करते रहना स्वस्थ मनोवृत्ति का परिचायक नहीं है। इससे मनुष्य के विचार नकारात्मक बन जाते हैं। अपनी बुराइयों पर ही विचार करते रहने उसे उत्साह न होकर निरुत्साह आ जाता है। निरन्तर आत्म-परीक्षा से मनुष्य में आत्म-भर्त्सना की मनोवृत्ति अति प्रबल हो जाती है। फिर मनुष्य अपने

ही उसी प्रकार आचरण करने लगता है जिस प्रकार आदर्श करता था। जो काम सिद्धान्तवादी पुरुष प्रयत्न पूर्वक कर्तव्य में करता है वही काम अपने आदर्श के रंग में रंजित पुरुष आनंद से करता है। संसार के सभी देशों में ऐसे आदर्श पुरु गाथायें प्रचलित रहती हैं। कितने सभ्य देशों में इन आदर्श को अवतार के रूप में माना जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपना आदर्श पुरुष अपने आप चुनना है। किसी का आदर्श पुरुष कृष्ण है तो किसी का बुद्ध अथवा कभी कभी ये आदर्श पुरुष हमारे वर्तमान काल में ही रहते उनकी आत्म कथाओं और चरित्र के बारे में चिन्तन करने मनुष्य का नैतिक विकास होता है। कवि और उपन्यासकार कभी कभी अपनी कृतियों में एक विशेष आदर्श का किसी महान् के रूप में चित्रण करते हैं। इनका भी मनुष्य के नैतिक विकास पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

एकान्त सेवन—मनुष्य के नैतिक विकास के लिये कुछ तक एकान्त सेवन अच्छा होता है। साधारणतः हम दुनियाँ के में व्यस्त रहते हैं और दूसरे लोगों के विचारों से प्रभावित होते हैं। यदि हमारा जीवन सदा इसी प्रकार का रहा और हमने आत्म उन्नति के लिये कोई थोड़ा बहुत अलग समय नहीं दिया एका एक कोई अचानक नैतिक भूल हो जाने की आशंका रहती मनुष्य जिस काम में लगा रहता है, उसी की उन्नति में उसका रहता है। जब तक मनुष्य अपना ध्यान किसी विशेष दिशा की नहीं मोड़ता तब तक उसकी उस ओर उन्नति नहीं होती। अतएव आध्यात्मिक उन्नति करने के लिये कुछ समय के लिये अपना ध्य सांसारिक झंझटों से अलग करके आध्यात्मिक चिन्तन में लगा है। इसके लिये मनुष्य को प्रति दिन एकान्त सेवन कर

चाहिये। एकान्त के समय मनुष्य को अपने जीवन के सिद्धान्तों और आचरण पर विचार करने का अवसर मिलता है।

कितने ही लोग अपने सारे जीवन को एकान्त सेवन और आध्यात्मिक चिन्तन के लिये दे देते हैं। वे संसार को छोड़कर कभी कभी साधु हो जाते हैं और अपना सारा जीवन किसी मठ अथवा जंगल में व्यतीत करते हैं। इस प्रकार के जीवन में वह समता नहीं रहती जो साधारण गृहस्थ जीवन में रहती है। ऐसे लोग केवल चिन्तन करते हैं पर उन्हें अपने चिन्तन की सत्यता को अनुभव करने का अवसर नहीं मिलता। अतएव उनका ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। जो लोग पहले गृहस्थ जीवन में होकर फिर सन्यास लेते हैं वे प्रारंभ से ही घर छोड़ने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक आध्यात्मिक लाभ उठाते हैं। उनके चिन्तन के पीछे अनुभव रहता है अतएव उनके विचारों में एकान्तता आने की संभावना नहीं रहती। ऐसे व्यक्ति प्रत्येक समाज के लिये आवश्यक होते हैं। ये लोग समाज के साधारण लोगों के बदले चिन्तन करते, और अपने चिन्तन का लाभ समाज को देते हैं।

कभी कभी कोई व्यक्ति अपना घर द्वार छोड़े बिना ही किसी विशेष काम में लगे रहने के कारण एकान्त सेवी हो जाता है। वह संसार में उतना ही आता है जितना कि अपने जीवन यापन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे लोग समाज की निधि होते हैं। संसार के महान दार्शनिक, सन्त और कवियों का जीवन इसी प्रकार का होता है। वे दुनियाँ की भीड़ से अलग रहकर अपनी साधना में ही लगे रहते हैं। जब तक कोई व्यक्ति अपनी शक्ति को संसार के साधारण कार्यों में व्यर्थ [illegible] बचाता नहीं वह कोई भी विशेष कार्य करने [illegible] अतएव अपने जीवन के प्रतिक्षण [illegible] शक्ति को व्यर्थ की बकवाद [illegible] में खर्च न कर उसे अपने [illegible] व्यक्ति बिना यह त्याग किये

एकान्त से भी बन जाता है। समाज को ऐसे व्यक्तियों की स
श्यकता रहती है। इसके बिना न दर्शन, न कला, और न क
ही सृष्टि होती है। राष्ट्र का सांस्कृतिक विकास ऐसे ही लोगों की

तपस्या करना—नैतिक जीवन के विकास का एक
साधन अपनी इन्द्रियों को वश में करके रखना है। शारीरि
मानसिक तप दोनों ही मनुष्य के नैतिक विकास के
इन्द्रियों को वश में करने के प्रयत्न से मनुष्य की इच्छा-शक्ति
होती है। जब मनुष्य की इच्छा-शक्ति बलवान हो जाती है तो
काम को करना चाहता है उस काम को वह सरलता से कर
है। वह कठिनाइयों के सामने आने से उनसे भयभीत नहीं

परन्तु तपस्या के लिये तपस्या करने लग जाना, अपनी
को त्रास देने के लिये अपने आपको भुलाना नैतिक उत्था
मार्ग नहीं है। इन्द्रियों पर कठोर नियंत्रण रखना वहीं तक
जहाँ तक वे किसी भले काम के करने में बाधा डालती हैं।
को अपने मन को भी निर्बल बनाने का आयोजन न बना लेना च
कई दिनों के उपवास करना, शीतोष्ण को अपने मन में कठोरता
के लिये ही सहना तथा अनेक प्रकार की आत्मयंत्रणा देना मनु
आध्यात्मिक विकास के लिये लाभप्रद नहीं है। संसार के प्रमुख
शास्त्र के विशेषज्ञों ने इस प्रकार के जीवन को अनर्थमूलक
है। इससे मन निर्बल हो जाता है और उसमें सोचने की शक्ति
नष्ट हो जाता है। वह जिस ओर मुड़ गया उसी ओर काम
रहता है और अपने काम के बुरे परिणाम को देखते हुए भी हठ
उसे नहीं छोड़ता।

अत्यधिक तपस्या से मनुष्य में अभिमान की वृद्धि होती
इसलिये ही वह त्याज्य है। तपस्या के अतिक्रम से मनुष्य की
इच्छायें प्रबल हो जाती हैं जिन्हें दमन करने की वह चेष्टा करता
शरीर पर घोर नियंत्रण रखने वाले एकान्तसेवी व्यक्तियों

कभी कभी मानसिक रोग भी उत्पन्न हो जाते हैं। उन्हें वे ही इच्छायें त्रास देने लगती हैं जिनके ऊपर विजय प्राप्त करने के लिये वे सतत चेष्टा करते रहते हैं। अतएव अपने विचार को रचनात्मक बनाना और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जितने त्याग और तपस्या की आवश्यकता है उतना ही त्याग और तपस्या करना अपने नैतिक विकास के लिये श्रेयस्कर है। इस प्रसंग में श्री जान एस० मेकन्जी महाशय का अपनी "मेनुअल आफ एथिक्स" नामक पुस्तक में दिया हुआ निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय है :—

"अपने जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य को प्राप्त करने के हेतु अपनी इच्छाओं को दबाना उत्तम है। परन्तु तपस्वी इच्छाओं को दबाना स्वयं लक्ष्य बना लेता है और इस प्रकार इच्छाओं को दबाने का प्रयत्न स्वभावतः ही विफल होता है। इससे मनुष्य का चित्त इच्छाओं के विषयों के ऊपर एकाग्र हो जाता है और इससे वह उनका वैसा ही गुलाम हो जाता है जैसा कि उन इच्छाओं के वृत्त में लगा हुआ व्यक्ति रहता है। अतएव अपनी इच्छाओं से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय अपने आपको किसी योग्य उद्देश्य की प्राप्ति में लगाये रखना है। लिपे-पुते खाली घर में ही भूत का वास होता है; सब प्रकार से भरे पूरे घर में भूत (शैतान) नहीं आता।" *

* It is important to repress our lower desires, in order that we may be able to devote ourselves, without let or impediment, to the highest ends of life. But the ascetic regards the suppression of desire as the end in itself And the effort thus to suppress all natural desire . frequently own aim. It concentrates attention on the objects of in a sense makes a man the slave of his desires as se of him who yields to them. The best our lower desires is, as we lves in something better. shed that the devils can occupied they can find no . 858.

आदर्श जीवन के लक्षण

नैतिक जीवन के विकास के विषय में जो कुछ ऊपर कहा गया है उससे आदर्श जीवन की रूप रेखा स्पष्ट हो जाती है। यहाँ पर हम आदर्श जीवन के ऐसे लक्षणों की चर्चा करेंगे जिन्हें संसार के प्रमुख नीति-शास्त्र के विद्वानों ने निश्चित किया है।

चिन्तन शीलता—आदर्श जीवन विवेक मय जीवन है। अपने जीवन को विवेक युक्त बनाने के लिये मनुष्य को नित्यप्रति चिन्तन करने की आवश्यकता है। बिना विचार किये मनुष्य कोई स्थिर नैतिक सिद्धान्त पर नहीं पहुंचता और अपने जीवन को वह संसार के धाराप्रवाह में बहते रहने देता है। संसार में सच्ची सफलता सिद्धान्त की सफलता है। दूसरे प्रकार की सफलता अस्थायी होती है। संसार का वैभव वह दिखाऊ धन है जो चार दिन बाद नष्ट हो जाता है। उच्च जीवन उसी व्यक्ति का है जो अपने सिद्धान्तों के लिये सर्वस्व त्याग करने के लिये तत्पर रहता है।

परन्तु अपने नैतिक सिद्धान्त अनायास नहीं आ जाते इनके लिये मनुष्य को ज्ञानोपर्जन करना पड़ता है और अपने जीवन को चिन्तनशील बनाना होता है। किसी प्रकार का नैतिक सिद्धान्त प्राप्त कर लेना अन्वेषण का कार्य है। जिस प्रकार वैज्ञानिक अन्वेषण के लिये मनुष्य को कई दिनों तक विचार करने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार नैतिक सिद्धान्त के अन्वेषण के लिये भी कई दिनों के विचार की आवश्यकता होती है। फिर सिद्धान्त के ठीक से बरतने के लिये भी सतत् चिन्तन की आवश्यकता होती है। चिन्तन के समय हम अपने सिद्धान्तों की कमियों को भी नाप लेते हैं।

क्रियाशीलता—ऊपर नित्य चिन्तन की महत्ता को दर्शाया है। केवल चिन्तन का जीवन भी सर्वश्रेष्ठ जीवन नहीं है। चिन्तन

के समय हम जिन सिद्धान्तों को प्राप्त करते हैं उनकी सत्यता प्रमाणित करने के लिये व्यावहारिक जगत में आना भी आवश्यक है। नैतिक जीवन व्यावहारिक जीवन है। जंगल में बैठकर जिस आदर्शवादिता का हम निरूपण कर सकते हैं उस आदर्शवादिता की सत्यता लौकिक जीवन की कसौटीपर परखी जाती है। कितने ही आदर्शवादी व्यक्ति लौकिक जीवन में पड़ जानेपर अपनी आदर्शवादिता को खो देते हैं। इससे उनका एकाएक अधःपतन हो जाता है। जो व्यक्ति अपने सिद्धान्तों को लौकिक जीवन में अव्यवहार्य पाकर उनमें उचित परिवर्तन कर लेते हैं वे सफल जीवन के व्यक्ति कहे जा सकते हैं। ऐसे ही लोगों का जीवन आदर्श जीवन माना जायगा।

मध्यम मार्ग का अनुसरण—आदर्श जीवन वास्तव में वह जीवन है जिसमें न तो लौकिक व्यवहार अथवा क्रिया का अतिक्रम है और न चिन्तनशीलता का। जो मनुष्य चिन्तन और क्रिया में साम्य रखता है वही आदर्श व्यक्ति है। चिन्तन के अभाव में जीवन की नाव का अनिश्चित लक्ष्य की ओर बह जाने का भय रहता है। पर यदि मनुष्य संसार से अलग रहकर सदा चिन्तन ही करे तो उसे अपने अवगुणों का ही पता न लगेगा। मनुष्य को गुण, अवगुणों का पता तभी चलता है जब वह संसार के कामों में हाथ बटाता है और अनेक लोगों के सम्पर्क में आता है। जब मनुष्य संसार में आता है तो उससे अनेक प्रकार की भूलें होती हैं। इनके लिये उसे पश्चाताप अथवा आत्मवेदना होती है। इस प्रकार की वेदनाओं को बार बार-सहकर मनुष्य अपने आपको सुधारने में समर्थ होता है। जब मनुष्य संसारी कामों से अपने आपको अलग कर लेता है तो वह अपनी कमजोरियों को जानने का अवसर ही खो देता है। फिर उसकी आन्तरिक कमजोरियाँ, उसी रूप मे उसके मन में बनी रहती हैं और वे उसे दुःख देती रहती हैं। अतएव बिना बाह्य संसार में काम किये और लोगों से अपना सम्पर्क बढ़ाये मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती। आदर्श

जीवन में क्रिया और ज्ञान का भाग रहता है। यही मध्यमार्ग है जिसका प्रदर्शन कृष्ण, बुद्ध और शंकर महाराज ने किया है।●

आदर्श व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध

आदर्श व्यक्ति समाज में रहकर समाज के लोगों से सहानुभूति दिखाते हुए उन्हें अपने नैतिक विचारों और आचरण में ऊँचा उठाने की सदा चेष्टा करते रहता है। उसका मस्तिष्क स्वतन्त्र विचार के जगत में विचरण करता है, परन्तु उसका हृदय संसार के सामान्य लोगों में रहता है। वह उनकी त्रुटियों को जानता है, पर उन त्रुटियों के कारण उनसे घृणा नहीं करता और न वह उनसे अलग रहने का ही प्रयत्न करता है। उसे पतित लोगों की मनोवृत्ति से छूत लग जाने का भय नहीं रहता; वह स्वयं उन्हें अपने सम्पर्क से अनायास सुधार देता है।†

● मार्केन्जी महाशय का निम्नलिखित कथन इस प्रसंग में उल्लेखनीय है—

Action and reflection are the gymnastics and music of moral culture. In retirement we criticise the acts of life, in life we criticise the ideas of retirement—*A Manual of Ethics* p 303.

क्रिया और विचार नैतिक जीवन के व्यायाम और संगीत हैं। एकान्त के समय जीवन के कार्यों की आलोचना की जाती है, और एकान्त में प्राप्त सिद्धान्तों की जीवन में परख होती है।

† इस प्रसंग में इमरसन महाशय का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

Solitude is fatal, society vulgar. We must keep our head in the one and hands in the other. The conditions are met when we maintain independence of thought and yet do not lose sympathy

Essay on Society and Solitude

एकान्त घातक है और समाज अशिष्ट; हमें अपना मस्तिष्क एक में रखना चाहिए और हाथ दूसरे में। जब हम अपने विचार को

एकान्तवास से मनुष्य अपने आपका कल्याण भले ही कर सके, समाज को उसके जीवन से कोई लाभ नहीं होता। फिर वह नैतिक जीवन कैसा, जिससे किसी का उपकार भी न हो। मनुष्य का नैतिक आदर्श वृहदात्मा की प्राप्ति है। जो मनुष्य अपने आपको दूसरे लोगों के हित में जितना ही खोता है वह अपने आपको उतना ही अधिक पाता है। जिसे अपने आपके सुधार की सदा इतनी चिन्ता लगी रहती है कि उसके कारण वह समाज की आवश्यकताओं के ऊपर कोई ध्यान नहीं देता उसका नैतिक विकास होना कैसे संभव है?

आदर्श जीवनवाला व्यक्ति समाज सुधारक होता है। प्रत्येक भला व्यक्ति एक तरह से समाज का सुधार करता है। उसके विचारों और आचरण का सहज प्रभाव दूसरे लोगों पर पड़ता है और इसके कारण उनके मन में आत्म सुधार की प्रेरणा उत्पन्न होती है। कभी कभी वह उन्हें उचित सलाह भी देता है। इस प्रकार सदाचारी मनुष्य दूसरों के सुधार का विशेषरूप से प्रयत्न किये बिना ही उनका सुधार कर डालता है। इमरसन महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि हम अपने सद्‌गुण अथवा दुर्गण का प्रकाशन केवल बाहरी क्रियाओं से नहीं करते, ये सद्‌गुण अथवा दुर्गण प्रतिक्षण अपनी विशेष सुगन्ध व दुर्गन्ध छोड़ते रहते हैं।* समाज के लोग इनसे सदा प्रभावित होते रहते हैं। अतएव समाज में रहकर अपने आपको ऊँचा बनाने की चेष्टा करना ही समाज की सबसे अधिक मौलिक सेवा है। जो मनुष्य इस प्रकार अपने आपको ऊँचा बनाता है वह समाज के लोगों को भी ऊँचा बना देता है। जब मनुष्य अपने

स्वतन्त्र रखते हैं और अपनी संसर्ग के लोगों के प्रति सहानुभूति नहीं खोते तो आदर्श जीवन को चरितार्थ करते हैं।

* Men imagine that they communicate their virtue or vice only by overt actions and do not see that virtue or vice emits a breath every moment—*Essay on Character*

आपको लौकिक विभूतियों के उपार्जन में न खोकर और आसपास के विचारों से विचलित न होकर आत्म-कल्याण में लगाता है और अपने इस परिश्रम का फल संसार के अन्य लोगों को उनके हित के लिये देने की इच्छा रखता है तभी वह अपना जीवन आदर्श जीवन बनाता है। संसार के सर्वोच्च व्यक्ति वेही हैं जो अपने आध्यात्मिक प्रयोगों का फल सदा समाज को सहज भाव से देते रहते हैं। प्रयोग के करने के लिये मनुष्य को एकान्त चाहिये, पर प्रयोग करना ही स्वतः उद्देश्य न बन जाना चाहिए। प्रयोग तभी सार्थक होता है जब उससे संसार का लाभ होता है। इस तरह जैसे जैसे समाज ऊँचा उठता है व्यक्ति भी अपने आप ही ऊँचा उठ जाता है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे से गुथे हुए हैं। एक के उत्थान से दूसरे का [illegible] है और एक के पतन से दूसरे का पतन।

इक्कीसवाँ प्रकरण

नैतिक रोग और उनके उपचार

नैतिक रोग का स्वरूप

नैतिक रोग का अर्थ[1]—जब कोई मनुष्य अपने नैतिक आदर्श से गिर जाता है और वह नीचे स्तर के जीवन में रहने लगता है तो उसकी मानसिक अवस्था को नैतिक दृष्टि से दोष युक्त माना जाता है। यह नैतिक बुराई[2] है। यदि सदाचार का जीवन नैतिक स्वास्थ्य है तो दुराचार का जीवन नैतिक रोग है। जब किसी मनुष्य में अपने आपको सम्हालने का सामर्थ्य रहता है, जब उसके कार्य सुचारू रूप से चलते हैं और वह नित्यप्रति अपने शारीरिक बल में उन्नति करता है तो उसे हम शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ मनुष्य कहते हैं; इसी प्रकार जो व्यक्ति अपने नैतिक जीवन को सुचारू रूप से चलाता है, जिसके जीवन में आदर्शों की उपस्थिति है और उनकी ओर वह प्रति दिन के अभ्यास से बढ़ता जाता है उसे नैतिक दृष्टि से स्वस्थ कहा जाता है। इसके प्रति कूल शारीरिक अथवा मानसिक परिस्थिति को रोग की स्थिति कहा जाता है। रोग की स्थिति में मनुष्य का आचरण दूषित हो जाता है। उसके कार्य न अपना ही लाभ करते हैं और न दूसरों का। नैतिकता की दृष्टि से अपना वास्तविक लाभ दूसरों का लाभ करके ही होता है। जब मनुष्य अनैतिक आचरण करता है तो इससे दूसरों की क्षति होती है। परन्तु स्वयं उसकी भी क्षति होती है। वह अपने आपको दण्ड का भागी बनाता है।

---

1. Moral Pathology. 2. Moral evil.

प्रयत्न से ही ये वस्तुयें प्राप्त होती हैं। सतत् प्रयत्न से चरित्र के गुण स्थिर रहते हैं, प्रयत्न के अभाव में अनेक प्रकार की चरित्र की बुराइयाँ अपने आप ही चली आती है। जब मनुष्य अपने आपको ऊँचा उठाने की चेष्टा बन्द कर देता है तो वह प्राकृतिक नियम के अनुसार स्वभावतः वह नीचे गिरने लगता है। जिस प्रकार कपड़े को स्वच्छ रखने के लिये हमें सदा सावधान रहना पड़ता है और कभी कभी उसे धोना भी पड़ता है, उसी प्रकार अपने चरित्र को स्वच्छ रखने के लिये भी मनुष्य को सदा सावधान रहना पड़ता है और कभी कभी उसे प्रायश्चित के रूप में अनायास आये हुए दोषों को धोना पड़ता है।

चरित्र के दोषों के प्रकार—मनुष्य के चरित्र के दोष दो प्रकार के होते हैं—एक चरित्रहीनता सूचक और दूसरा चरित्र का एकाङ्गि सूचक। संसार के अधिक लोगों में पहले प्रकार के दोष होते हैं, दूसरे प्रकार का दोष विशेष व्यक्ति को होता है। संसार के साधारण कामों में लगे रहनेवाले व्यक्ति चरित्र का मूल्य उतनी दूर तक ही करते हैं जितनी दूर तक वह उन्हें सांसारिक सफलता प्राप्त करने में सहायक होता है। उनके जीवन का मुख्य लक्ष्य धन, ऐश्वर्य, सुख आदि प्राप्त करना होता है। ऐसे व्यक्ति किसी प्रकार के सद्गुणों को वहीं तक प्रदर्शित करते हैं जहाँ तक वे सद्गुण लौकिक दृष्टि से लाभकारी दिखाई देते हैं। जब किसी प्रकार का सद्गुण लौकिक दृष्टि से लाभकारी नहीं दिखाई देता तो वे उस सद्गुण का अभ्यास छोड़ देते हैं। फिर उनके चरित्र में वे ही दोष दिखाई देने लगते हैं जिनकी वे पहले निंदा करते थे। जब किसी व्यापारी को सच बोलकर पैसे का लाभ होता है, उसकी दूकान की साख जमती है तब वह सच बोलता है; पर जब इससे उसे बार बार व्यापार में घाटा उठाना पड़ता है तो वह झूठ बोलकर भी मुनाफा उठाने की चेष्टा करता है। दूकान को ... होने देने के बदले वह झूठ बोलना ही उचित समझता है।

इस प्रकार चोर बाजारी अच्छी साख वाले व्यापारी भी करने लगते हैं।

चरित्र की इस प्रकार की कमी चरित्र दृढ़ता की कमी को दर्शाता है। ऐसे लोगों में कोई वास्तविक नैतिक विचार नहीं रहता। उनके जीवन में आदर्शों का अभाव रहता है। ऐसे लोग अवसरवादी होते हैं। वे जिधर अधिक लाभ होते देखते हैं उधर को ही ढुल जाते हैं। जीवन के किसी नैतिक सिद्धान्त का वे पालन वास्तव में नहीं करते। नैतिकता के अधिक दोष जीवन में सिद्धान्त के अभाव के कारण ही होते हैं।

दूसरे प्रकार के चरित्र दोष संसार के प्रतिभाशाली लोगों में पाये जाते हैं। प्रतिभा में कुछ न कुछ एकाङ्गिता पाई जाती है। बिना एकाङ्गिता के मनुष्य में किसी विशेष प्रकार की योग्यता अथवा चरित्र के सद्गुण का विकास नहीं होता। पर किसी प्रकार की एकाङ्गिता स्वयं चरित्र का दोष है। अतएव चरित्र के विशेष दोष उन्हीं लोगों में पाये जाते हैं जिनमें विशेष प्रकार के गुण होते हैं। मेकेन्जी महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि मनुष्य के चरित्र के दोष उसके सद्गुणों की छाया है; पारदर्शी भलाई की अर्थात् पूर्णता की भले ही परछाई न पड़े, परन्तु जब मन्डल ने इसे प्राप्त नहीं करली तबतक मनुष्य दृढ़तम सद्गुण घनी छाया भी डालता है।*

संसार के विशेष पुरुषों में हठीलापन रहता है। यह हठीलापन उन्हें अपनी लगन में बल प्रदान करता है। वे प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण अपने सिद्धान्तों को नहीं बदलते। जितनी प्रतिकूल परिस्थित उन्हें मिलती है वे अपनी लगन में और भी दृढ़ हो जाते हैं। उनका कार्यक्षेत्र एक विशेष क्षेत्र में सीमित रहता है, इसी प्रकार

* A man's sins are the shadows of his virtues, and though a life of transparent goodness would caste no shodow, yet so long as men fall short of this the strongest virtues will often have the deepest shades—*A Manual of Ethics* p. 363.

उनके विचार भी विशेष प्रकार के होते हैं। विरोधी विचारों अथवा सिद्धान्तों का वे अपने सिद्धान्तों में समावेश नहीं करते। इसके कारण उनका नैतिक विकास उतना नहीं होता जितना कि पूर्णता की प्राप्ति के लिये आवश्यक होता है। जिस व्यक्ति के नैतिक विचार और आदर्श प्रगतिशील होते हैं, जो अपने सिद्धान्तों में उचित परिवर्तन के लिये तैयार रहता है वही नैतिक पूर्णता की प्राप्तिकर सकता है। पर जैसा मनुष्य का स्वभाव है उससे यह आशा करना ठीक नहीं है। कविता की धुन में लगा हुआ मनुष्य जीवन की दूसरी आवश्यकताओं की ओर अपनी दृष्टि नहीं ले जाता, वह समाज के रूढ़िवादी नियमों के पालन की परवाह नहीं करता। इसी प्रकार समाज सुधारक दूसरे लोगों की कमजोरी को ध्यान में न रखकर कभी कभी अपराधी के लिये अत्यधिक दण्ड देने की सूझ देता है। उसकी दृष्टि आलोचनात्मक होती है। वह दूसरे लोगों को बुरा लगता है, वह इसकी परवाह नहीं करता। विद्याध्ययन में लगन वाला विद्वान प्रायः अपने घरेलू जीवन में असफल हो जाता है। इस प्रकार देखा जाता है कि मनुष्य के चरित्र का सद्गुण उसके जीवन के विशेष प्रकार के दुर्गुण का कारण भी हो जाता है। यह प्रकृति के आध्यात्मिक समीकरण के नियम के अनुसार ठीक ही है।*

चरित्र के दोषों का निवारण—चरित्र के दोषों का निवारण दो प्रकार से होता है—एक प्राकृतिक रूप से और दूसरे अपने प्रयत्न के द्वारा। हमारा विश्वास है कि संसार की सभी क्रियाओं का संचालन

* मनुष्य के सद्गुण जिस प्रकार उसके उत्थान के कारण होते हैं, उसके दोष उसी प्रकार उसके पतन के कारण भी होते हैं। अतएव प्रत्येक विवेकी पुरुष का काम है कि वह अपना आत्म-निरीक्षण करता रहे और अपने गुण तथा दोषों को साक्षीभाव से देखने की चेष्टा करे। दूसरे लोगों के विचारों की सर्वथा अवहेलना करना और अपने ही सिद्धान्तों को ठीक मानना ऊँची नैतिकता को नहीं दर्शाता।

विवेकीतत्व अथवा नियम के द्वारा होता है। इस नियम की उपस्थिति को स्वीकार न करने पर नैतिक आचरण अर्थ हीन हो जाता है। हमारे शुभ कामों का परिणाम शुभ और अशुभ कार्यों का परिणाम अशुभ होता है, यह एक अटल नियम है। इस नियम को चाहे आध्यात्मिक नियम कहा जाय अथवा प्राकृतिक—पर इस नियम की सत्यता में विश्वास करना प्रत्येक विवेकशील और सदाचारी व्यक्ति के लिये अनिवार्य होता है। यह नियम अथवा सत्ता किसी प्रकार के दोष को मनुष्य के चरित्र में ठहरने नहीं देता। वह उसका परिष्कार करते रहता है।

प्राकृतिक रूप से जब मनुष्य के चरित्र के दोष का निवारण होता है तो पहले वह अपनी अप्रकाशित अवस्था से प्रकाशित अवस्था में आता है। चरित्र का दोष का प्रकाशन पापाचरण, अपराध और शारीरिक तथा मानसिक रोग में होता है। दोष कारण है और पाप तथा अपराध कार्य। चरित्र के दोषों को रखने की अपेक्षा पापाचरण करना अथवा अपराध करना भला है। जबतक चरित्र के दोष बाहर नहीं आते तबतक चरित्र का सुधार नहीं होता। जिस प्रकार यह मनुष्य को कोई शारीरिक व्याधी किसी फोड़े, फुंसी, खुजली, छाजन का रूप धारण कर लेती है तो उसकी चिकित्सा होना सरल हो जाता है, इसी प्रकार जब कोई चरित्र का दोष पापाचरण अथवा अपराध का रूप ले लेता है तो उसका नाश करना सरल हो जाता है। पापाचरण और अपराध के परिणाम स्वरूप मनुष्य को आत्म-भर्त्सना होती है, अथवा उसे समाज से या प्रकृति से दण्ड मिलता है। दण्ड यदि थोड़े समय के लिये न मिला तो वह पीछे ब्याज सहित मिलता है। इस दण्ड में चरित्र को सुधारने की शक्ति होती है। दण्ड चरित्र के दोष की औषधि है।

कभी कभी चरित्र का दोष किसी बाहरी दण्ड की अपेक्षा न रख कर अपने आप द्वारा दण्ड के रूप में ही प्रकट होता है। ऐसी अवस्था में वह शारीरिक अथवा मानसिक रोग का रूप धारण कर

जिस प्रकार चरित्र के दोषों का निवारण [illegible]
हम अपने प्रयत्न से भी उसी तरह उनका निवारण कर सकते हैं। किसी
कुकृत्य के लिये सदाचारी मनुष्य को पश्चात्ताप अपने आप होता है।
पश्चात्ताप स्वयं दोष का निवारण नहीं करता; पश्चात्ताप दोष
निवारण की आवश्यकता को दर्शाता है। दोष का ज्ञान
पश्चात्ताप उत्पन्न करता है; प्रायश्चित दोष का परिष्कार करता है।
जब पश्चात्ताप प्रायश्चित का कारण बन जाता है तभी वह दोष का
निवारण करता है। प्रायश्चित अपने आपको दण्ड देना है। इस
प्रकार का दण्ड चरित्र के परिष्कार के लिये आवश्यक है।

पाप और अपराध

पाप और अपराध की व्याख्या—चरित्र के दोष का बाहरी
रूप पाप और अपराध है। पाप और अपराध मनुष्य की क्रियाओं से

सम्बन्ध रखते हैं, दोष उसके स्वभाव से सम्बन्ध रखता है। पुण्य नैतिक शुभाचरण का नाम है और पाप नैतिक दुराचरण का। पाप ही अपराध के रूप में प्रकाशित होता है। सभी पाप अपराध नहीं कहे जाते। अपराध वे पाप हैं जो समाज द्वारा दण्डनीय हैं। किसी व्यक्ति की अकेले में निंदा करना पाप है; यह अपराध नहीं है। पर जब किसी व्यक्ति की निंदा खुलेआम जनता के समक्ष की जाती है तो वह अपराध बन जाता है। इसके लिये समाज ऐसे व्यक्ति को दण्ड देता है। इस प्रकार के अपराध को रोकने के लिये राज्य सत्ता कानून बनाती है और उनके विरुद्ध चलने वाले को दण्ड देती है।

पाप के प्रकार—पाप दो प्रकार के होते हैं, एक मानसिक और दूसरे शारीरिक तथा वाचिक। किसी किसी समाज में बुरे काम में प्रकाशित पाप को ही पाप समझा जाता है; मानसिक पाप को पाप नहीं माना जाता। पर यह भूल है। उन्नतशील समाज के नेता जनता को न केवल शारीरिक पाप से अपने आप को रोकने की शिक्षा देते हैं, वरन् मानसिक पाप से भी अपने आपको रोकने की शिक्षा देते हैं। हजरत ईसा का कथन है कि जो व्यक्ति किसी स्त्री की कामुकता की दृष्टि से देखता है वह उसके साथ हृदय में व्यभिचार कर ही चुका है।* भगवान बुद्ध की शिक्षा का भी सार भाग यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को न केवल शारीरिक बुरे कामों से बचना चाहिये, वरन् मानसिक बुरे कामों को भी न करना चाहिये। मानसिक पाप शारीरिक पापों से इसलिये अधिक बुरा है कि शारीरिक पाप कभी न कभी प्रकाशित हो जाता है और इसके लिये हमें दण्ड भोगना पड़ता है। इस प्रकार हमारे चरित्र का दोष नष्ट हो जाता है। मानसिक पाप प्रकाशित न होने के कारण दण्डनीय नहीं होते और इस प्रकार हमारे चरित्र के दोष को नष्ट नहीं होते। मान-

* Who ever looked on a women to lust after her, has committed adultery with her already in heart—*New Testament.*

प्रकार के कामों को उदारता की दृष्टि देखने की भावना उत्पन्न हो रही है। जो बालक किसी मानसिक ग्रन्थि के कारण दुराचारी बनते हैं, अथवा कोई अपराध कर डालते हैं तो उन्हें साधारण जेलों में न भेजकर न्यायाधीश सुधारगृह में भेजता है। ऐसे बालक को योग्य शिक्षा देकर, उसकी मानसिक ग्रन्थियों का निराकरण करके सदाचारी बनाने की चेष्टा की जाती है। अतएव इस प्रकार के कार्य उस प्रकार अपराध नहीं समझे जाते जिस प्रकार पूरी तरह समझ बूझकर किये गये कार्य अपराध समझे जाते हैं।

किसी आवेग में आकर भी मनुष्य बहुत से अनुचित काम कर बैठता है। इन आवेगों का कारण प्रायः कोई मानसिक ग्रन्थि रहती है। अपने आप पर पर्याप्त नियंत्रण न रहने के कारण भी मनुष्य आवेग में आ जाता है। अपने आप पर नियन्त्रण कई दिनों के अभ्यास से आता है। जिन लोगों को बाल्यकाल में योग्य शिक्षा नहीं मिलती उनमें आत्म-नियंत्रण की शक्ति नहीं आती। ऐसे व्यक्ति किसी प्रकार के आवेगों में आ जाते हैं। जो काम वे मन की इस अवस्था में करते हैं उन्हें अपराध ही कहा जाता है। पर इच्छा शक्ति का पूरा प्रयत्न न होने के कारण वे कार्य उतने निंद्य नहीं होते जितने सोच विचार कर किसी निकृष्ट हेतु से प्रेरित होकर किये गये काम होते हैं। किसी व्यक्ति की गाली सुनकर उसे घातक शस्त्र से मारना उतना निंद्य अपराध नहीं जितना पुराना वैर भंजाने के लिये अथवा उसका रुपया छीनने के लिये उसे मारना निंद्य है।

बुद्धि की कमी भी अपराध का कारण होती है। जिन लोगों में बुद्धि की कमी होती है उनमें किसी बुरे काम को अपराध समझने की शक्ति ही नहीं होती। वे बुरे काम के बुरे परिणाम को नहीं देख सकते। क्या ऐसे लोगों के अनुचित कामों को अपराध मानना ठीक है? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि बुद्धि की कमी के कारण किये गये कामों को अपराध मानना ही होगा। उनकी बुद्धि

की कमी शिक्षा से पूरी हो सकती है। समाज इस शिक्षा को दण्ड के रूप में अपराधी को देता है।

अन्त में वे काम आते हैं जिन्हें व्यक्ति जानबूझकर अपनी स्वतंत्र इच्छा से करता है। यदि ये काम उचित हैं तो उन्हें हम भले काम अथवा पुण्य मानते हैं। हम काम करने वाले की इन कामों की पूरी प्रशंसा भी करते हैं। यदि ये काम अनुचित हैं तो हम काम करनेवाले की निंदा करते हैं और उसे दोषी अथवा अपराधी समझते हैं। जिस प्रकार के कामों के लिये मनुष्य अपने आपको स्तुति का पात्र समझता है उसी प्रकार के कामों के लिये वह निंदा का भी पात्र होता है। यदि ये काम उसे सर्वोच्च नैतिक आदर्श की ओर ले जाते हैं तो वे स्तुत्य हैं और यदि वे उसे इससे गिराते हैं तो वे निंद्य हैं।

दण्ड विधान

दण्ड की आवश्यकता—दण्ड अपराध की मनोवृत्ति का सुधार करता है। यदि कोई मनुष्य कोई प्राकृतिक भूल करता है तो प्रकृति भी उसे दण्ड देती है, यदि वह सामाजिक भूल करता है तो समाज उसे दण्ड देता है, और यदि वह नैतिक भूल करता तो उसे उसकी अन्तरात्मा कोसती है। इस तरह प्रत्येक प्रकार की भूल के लिये मनुष्य को दण्ड सहना पड़ता है। दण्ड अपराध की मनोवृत्ति की चिकित्सा है। यदि अपराधी को प्रारंभ में दण्ड न दिया गया तो उसकी भूल करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप उसे आगे चलकर भारी दण्ड सहना पड़ता है। संसार में कोई भी गंदगी, भूल अथवा अन्याय देर तक नहीं ठहर सकता। सृष्टि का संचालन विवेक युक्त सत्ता करती है, यह नीति-शास्त्र की तथा नैतिक आचरण की पूर्व मान्यता[1] है। अतएव जितनी देर किसी प्रकार की भूल के सुधार में होती है उतनी ही वह भूल करने वाले व्यक्ति के लिये घातक होती है।

1. Postulate.

दण्ड के सिद्धान्त[1]—दण्ड प्रयोजन के विषय में नीति-शास्त्रों के तीन प्रकार के मत हैं—प्रतिबंधात्मक[2], सुधारात्मक[3] और प्रतिशोधात्मक[4]।

प्रतिबंधात्मक—प्रतिबंधात्मक सिद्धान्त के अनुसार दण्ड का मुख्य उद्देश्य समाज के लोगों को दुराचरण से रोकना है। जब कोई अपराधी अपराध करता है तो दूसरे लोगों के मन में भी अपराध करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। जब अपराधी को उसके अपराध के लिये दण्ड दिया जाता है तो समाज के दूसरे लोग उसके दुःख से शिक्षा ग्रहण करते हैं। वे जान लेते हैं कि अपराध दण्डनीय कार्य है। दण्ड का ध्यान उन्हें कुमार्ग पर जाने से रोकता है। यदि अपराधी को दण्ड न दिया गया तो दूसरे लोग उसका अनुकरण करके अपने आप अपराधी बन जावेंगे। इससे समाज व्यवस्था ही नष्ट भ्रष्ट हो जायगी। अतएव दण्ड से अपराधी का भला होता है अथवा नहीं, यह दण्ड का प्रधान उद्देश्य नहीं। इससे समाज व्यवस्था ठीक बनायी जाती है। यूनान के एक न्यायाधीश का अपराधी को यह कहना उल्लेखनीय है कि तुम्हें भेड़ें चुराने के लिये दण्ड नहीं दिया जाता है, वरन् इसलिये दण्ड दिया जाता है कि भेड़ों की चोरी न हो।

कुछ लोगों के कथनानुसार दण्ड के द्वारा अपराधी को समाज के अन्य लोगों से अलग कर दिया जाता है ताकि वह समाज की और अधिक क्षति न कर सके। यह सिद्धान्त पहले सिद्धान्त से मिलता जुलता है। जब किसी अपराधी को चोरी के लिये जेल में भेज दिया जाता है अथवा जब किसी हत्यारे को फाँसी का दण्ड दिया जाता है तो वह समाज को और अधिक नुकसान नहीं कर पाता। समाज के दूसरे लोगों का धन अथवा जन इससे बचा रहता है।

दोनों प्रकार के सिद्धान्तों का उद्देश्य एक सा ही है। इन

1. Theories of Punishment. 2. Deterent. 3. Reformative. 4. Retributive.

सिद्धान्तों में अपराधी के कल्याण को ध्यान में नहीं रखा जाता, वरन् समाज के कल्याण को ही ध्यान में रखा जाता है। पहले सिद्धान्त में समाज को नैतिक क्षति से बचाने को महत्ता दी गई है और दूसरे में भौतिक क्षति से बचाने को। परन्तु नीति-शास्त्र के ऊँचे उद्देश्य की दृष्टि से इस प्रकार का दण्ड नैतिक नहीं कहा जा सकता। नैतिक दण्ड वह है जिसमें स्वयं अपराधी का लाभ हो। दूसरे व्यक्ति के लाभ के लिये किसी दूसरे को ताड़ना देना अनैतिक है। इस सिद्धान्त में मनुष्य को एक जड़ पदार्थ के समान मान लिया गया है। उसकी मानवता का आदर नहीं किया गया। जो दण्ड मानवता की अवहेलना करके दिया जाता है वह अनैतिक है। प्रत्येक मनुष्य का जीवन अपने लिये है न कि दूसरों के लिये। यह नैतिकता की आधार भित्ति है।

सुधारात्मक सिद्धान्त—सुधारात्मक सिद्धान्त के अनुसार अपराधी का सुधार करना ही दण्ड का प्रधान उद्देश्य होना चाहिये। यह सिद्धान्त उन लोगों का है जो अपराधी को सहानुभूति की दृष्टि से देखते हैं। इस प्रकार के दण्ड को शैक्षिक दण्ड[1] कहा जा सकता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक दण्ड देने के इसी हेतु को विशेष महत्व देते हैं। जिस दण्ड से अपराधी का सुधार नहीं होता वह दण्ड व्यर्थ समझा जाता है। बहुत से अपराधी दण्ड पाने के पश्चात् अपने आचरण में सुधरते नहीं वरन् और भी बिगड़ जाते हैं। इन लोगों को दिया गया दण्ड व्यर्थ समझा जाना चाहिये। फिर कई प्रकार के दण्ड ऐसे होते हैं जिससे अपराधी का कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। मृत्यु का दण्ड इस प्रकार का है। इससे अपराधी का कोई लाभ होना सम्भव ही नहीं।

यदि इस सिद्धान्त को माना जाय तो कई प्रकार के अपराधियों को दण्ड नहीं दिया जायगा। जहाँ प्रेम से काम चल सकता है वहाँ

1 Educative Punishment

किसी अपराधी को दण्ड देना अनैतिक है। बहुत से अपराधियों में प्रेम के द्वारा पश्चाताप की भावना उत्पन्न की जा सकती है। जो व्यक्ति अपने अपराध के लिये पश्चाताप करता है उसके लिये दण्ड की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रतिकारात्मक सिद्धान्त—दण्ड के प्रयोजन सम्बन्धी तीसरा सिद्धान्त प्रतिकारात्मक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार दण्ड बुरे काम का पुरस्कार है। यदि कोई मनुष्य भला काम करता है तो उसे सुखद पुरस्कार मिलता है और यदि वह कोई बुरा काम करता है तो उसे दुःखद पुरस्कार मिलता है। ये पुरस्कार भले और बुरे कामों के स्वाभाविक परिणाम हैं। समाज जब किसी व्यक्ति को दण्ड देता है तो इससे वह उसका कल्याण करता है। मनुष्य का स्वत्व और समाज का स्वत्व एक ही है। आदर्शवाद के अनुसार समाज मनुष्य का वृहत और व्यापक स्वत्व माना गया है, अतएव जब समाज मनुष्य को उसके किसी बुरे काम के लिये दण्ड देता है तो हम कह सकते हैं कि वह मनुष्य ही अपने आपको सुधारने के हेतु दण्ड देता है।

हीगेल महाशय, जो उक्त सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक हैं, के कथनानुसार किसी अपराधी को दण्ड न देना उसे अपने नैतिक अधिकार से वञ्चित करना है। जिस प्रकार भले काम करने वाले व्यक्ति का यह अधिकार है कि उसे भला पुरस्कार मिले इसी प्रकार बुरे काम करने वाले व्यक्ति का यह आध्यात्मिक अधिकार है कि उसे दण्ड मिले। जब हम किसी अपराधी को उसके अपराध के लिये दण्ड नहीं देते तो हम उसे अपने जन्म सिद्ध अधिकार से वञ्चित करते हैं। हम उसे अपने आपको सुधारने का अवसर नहीं देते। इस प्रकार हम किसी व्यक्ति को अपने अधिकार से वञ्चित करके उसके प्रति अन्याय करते हैं।

उक्त सिद्धान्त को निर्दयता का सिद्धान्त कुछ लोगों ने माना है। उदार विचार के सामान्य लोग किसी प्रकार का कष्ट दूसरे व्यक्ति को देना नहीं चाहते और न वे किसी ऐसे सिद्धान्त का समर्थन करते हैं जिससे किसी को कष्ट दिया जाय। पर कष्ट के बिना मनुष्य को शिक्षा मिलना और उसके चरित्र का दोष से मुक्त होना सम्भव भी नहीं। जब हमारे पहनने के कपड़े में कोई दाग लग जाता है, तो हमें उसे हटाने के लिये कपड़े पर साबुन लगाना पड़ता है, उसे भट्टी में डाल पड़ता है और उसे पत्थर पर पटकना पड़ता है। इसी प्रकार जब किसी व्यक्ति के चरित्र में कोई दाग लग गया हो तो उसे अनेक प्रकार के कष्ट सहने ही पड़ते हैं तभी उसका नैतिक सुधार होता है। पर जब हम उसे किसी प्रकार का दण्ड देते हैं तो हमारे मन में प्रतिशोध की भावना अथवा बदला लेने की भावना नहीं रहनी चाहिये। बदला लेने की भावना से किसी व्यक्ति को दण्ड देना अपने आपको नीचे गिराना है। यदि कोई व्यक्ति हमारे प्रति कोई बुराई करे तो उसे दण्ड देने की भावना मन में लाना अपने आपको गिराना है। परन्तु यदि व्यक्ति समाज की बुराई करता है और उसके आचरण से समाज का नुकसान होता है तो उसे दण्ड न देने से न केवल समाज की हानि होगी वरन् अपराधी की भी हानि होगी। अतएव दण्ड से बदला लेने की भावना निकाल कर स्वयं अपराधी के कल्याण की दृष्टि से ही उसे दण्ड दिया जाना चाहिये। न्यायाधीश जब किसी चोर को दण्ड देता है तो उसका ध्येय चोर को सुधारना मात्र रहता है; उसके मन में प्रतिशोध की भावना नहीं रहती।

दण्ड देने का वास्तविक हेतु अपराधी के मन में यह भावना जाग्रत करना है कि अपराध स्वभावतः ही दण्ड को लाता है। अपराध और दण्ड कारण और कार्य के समान एक दूसरे से लगे हुए हैं, जहाँ कारण होगा वहाँ कार्य भी होगा। जैसे फूल और फल एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, इसी प्रकार अपराध और दण्ड भी एक

किसी अपराधी को दण्ड देना अनैतिक है। वह
प्रेम के द्वारा पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न की
व्यक्ति अपने अपराध के लिये पश्चात्ताप करता है
की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रतिकारात्मक सिद्धान्त—दण्ड के प्रयोजन
सिद्धान्त प्रतिकारात्मक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त
बुरे काम का पुरस्कार है। यदि कोई मनुष्य भ
तो उसे सुखद पुरस्कार मिलता है और यदि वह
करता है तो उसे दुःखद पुरस्कार मिलता है। ये
बुरे कामों के स्वाभाविक परिणाम हैं। समाज जब
दण्ड देता है तो इससे वह उसका कल्याण कर
स्वत्व और समाज का स्वत्व एक ही है। आदर
समाज मनुष्य का वृहद और व्यापक स्वत्व माना
जब समाज मनुष्य को उसके किसी बुरे काम के
तो हम कह सकते हैं कि वह मनुष्य ही अपने आ
दण्ड देता है।

हीगेल महाशय, जो उक्त सिद्धान्त के मुख्य प्रव
नुसार किसी अपराधी को दण्ड न देना उसे अप
से वञ्चित करना है। जिस प्रकार भले काम करने व
अधिकार है कि उसे भला पुरस्कार मिले इसी प्र
वाले व्यक्ति का यह आध्यात्मिक अधिकार है कि
जब हम किसी अपराधी को उसके अपराध के लि
तो हम उसे अपने जन्म सिद्ध अधिकार से वञ्चि
अपने आपको सुधारने का अवसर नहीं देते। इ
व्यक्ति को अपने अधिकार से
करते हैं।

आदर्श से गिर गया है और वह अपना सर्वस्व खो चुका है। जिस प्रकार कोई कंजूस मनुष्य अपने धन के खो जाने से दुःख की अनुभूति करता है, इसी प्रकार चरित्रवान व्यक्ति अपने आदर्श के प्रतिकूल आचरण करने से दुःख की अनुभूति करता है। वह अनुभव करता है मानो उसका सर्वस्व खो गया है।

आधुनिक मनोविज्ञान के पण्डितों का कथन है कि इस प्रकार की भर्त्सना की अनुभूति मनुष्य के चरित्र को बली नहीं बनाती वरन् उसे निर्बल बनाती है। उनके इस कथन में मौलिक सत्य है पर यह तो मानना ही होगा कि यदि किसी मनुष्य को पाप के लिये पश्चाताप कुछ भी न हो तो वह अपना पापाचरण कभी भी न छोड़ेगा। मनुष्य पाप प्रलोभन वश करता है। पाप से सुख की उत्पत्ति होती है। इस सुख का त्याग मनुष्य तभी कर सकता है जब उसे किसी भारी दुःख का ध्यान हो। राज दण्ड, समाज दण्ड आदि बाहरी दुःख हैं, और पश्चाताप का दण्ड भीतरी दुःख है। जो व्यक्ति इस दुःख की अनुभूति करता है वह इसके भय से डरता भी है। ऐसा व्यक्ति अनायास ही सदाचारी बना रहता है। यदि उससे कोई भूल हो गई

उसे किसी बुरे काम के करने से नहीं रोकती। ऐसी अवस्था में उसको अपनी भूल को बताने का उपाय बाहरी दण्ड मात्र रह जाता है। यह दण्ड मनुष्य में आत्म-सुधार की वैसी प्रेरणा उत्पन्न नहीं करता जैसा पश्चाताप का भाव करता है।

यदि यह मनुष्य में चरित्र लाभ के प्रति निराशा उत्पन्न करता है तो वह मनुष्य का नैतिक लाभ न कर उसका ह्रास करता है। अत्यधिक आत्म-भर्त्सना का होना उसी प्रकार बुरा है जिस प्रकार उसका सर्वथा न होना है। हालैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक स्पैनोजा महाशय के इस कथन में मौलिक सत्य है कि पश्चाताप दो तरह से बुरा है, एक वह इच्छाशक्ति की कमजोरी दर्शाता है और दूसरे वह इच्छाशक्ति को और भी कमजोर करता है। अतएव आत्म-भर्त्सना की स्थिति को मिटाना चाहिये। जब मनुष्य जान बूझकर इस स्थिति को मिटाने की चेष्टा नहीं करता तो वह उसे भुलाने की चेष्टा करने लगता है। ऐसी अवस्था में ही मनुष्य के अनेक प्रकार के मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है। ये रोग अपराधी ने जिस दण्ड को भोगने से जान बचाई उसी को उसे भुगाते हैं। ये उसके चरित्र के दोष को बाहर लाते हैं।

आत्म-भर्त्सना का अन्त प्रायश्चित अथवा नये शुभ कर्मों से होता है। ये आत्म-सुधार के उपाय हैं। इमरसन महाशय के कथनानुसार नये शुभ कर्म करना पुराने पाप के लिये उत्तम से उत्तम प्रायश्चित है। अतएव जिस प्रकार दूध के लिये देर तक रोते रहना बुरा है, इसी प्रकार किसी भूल के लिये अपने आपको बार बार धिक्कारते रहना भी बुरा है। जो भूल हो गई उसे ध्यान में रखकर अपने आप का आगे सुधार करने की सतत् चेष्टा करते रहने से ही मनुष्य के जीवन का नैतिक विकास होता है।

क्षमा की उपयोगिता

क्षमा का ध्येय—क्षमा का ध्येय वही है जो दण्ड का ध्येय है। जिस प्रकार दण्ड से किसी व्यक्ति का नैतिक सुधार होता है इसी प्रकार क्षमा से भी मनुष्य का नैतिक सुधार होता है। पात्रता के अनुसार मनुष्य को क्षमा और दण्ड देने चाहिये। दण्ड मनुष्य के नैतिक सुधार का नकारात्मक उपाय है और क्षमा उसका विधेयात्मक उपाय है। जब किसी ऐसे अपराधी को क्षमा प्रदान कर दी जाती है जिसका सामान्य नैतिक जीवन भला है तो यह क्षमा उसके मन में आत्म भर्त्सना का रूप धारण कर लेती है। अब वह बाहर से दण्ड न पाकर भीतर से ही दण्ड पाने लगता है। भले लोगों में क्षमा एक ओर कृतज्ञता का भाव उत्पन्न करती है और दूसरी ओर वह अपने नैतिक जिम्मेदारी के प्रति सचेत करती है। जिस व्यक्ति को क्षमा मिली है वह दूसरे लोगों के प्रति उदारता दिखाने की चेष्टा करता है। वह जानता है कि जिस प्रकार उसके अपराध क्षमा किये गये उसी प्रकार उसे दूसरे लोगों के अपराध क्षमा करने चाहियें।

क्षमा की पात्रता—सभी लोग क्षमा के पात्र नहीं होते। ऊँचे नैतिक आदर्श के लोग ही क्षमा के पात्र होते हैं। जिन लोगों में अपनी भूल को सम्भालने की शक्ति है उन्हें क्षमा देकर हम उनका नैतिक सुधार करते हैं। क्षमा देने के बाद वे अपने कामोंपर और भी अधिक विचार करते हैं और अपने आपको फिर उसी प्रकार की परिस्थिति में पड़ने से बचाने की चेष्टा करते हैं। क्षमा उसी मनुष्य को देना उचित है जिसे क्षमा प्राप्त करने की शर्म होती है, जिसमें पश्चाताप का सामर्थ्य है। जिस व्यक्ति का यह सामर्थ्य नहीं उसके अपराध को क्षमा करना उसके प्रति अन्याय करना है। उसे दण्ड दिया जाना चाहिये। विवेकशील को क्षमा और अविवेकी को दण्ड देना उचित है। चरित्रवान् के लिये क्षमा ही दण्ड होता है।

मनुष्य को क्षमा अथवा दण्ड देते समय एक ही बात का ध्यान आवश्यक है—उसका इससे नैतिक सुधार होगा अथवा नहीं। लोगों के साथ एकसा व्यवहार करना, अथवा किसी एक ही के साथ सभी परिस्थितियों में एक सा व्यवहार करना नैतिक के नियम की अज्ञता दर्शाता है।

लोभी, हठी और दुराचारी व्यक्ति को क्षमा करने से उसकी की प्रवृत्ति और बढ़ जाने की सम्भावना है। उसे यह धारणा ती की सम्भावना है कि संसार में कोई नैतिक नियम काम ही रता। ऐसे लोगों को द्वेष वश नहीं वरन् उनके अथवा समाज को ध्यान में रखकर जब दण्ड दिया जाता है तो उनका सुधार है और इससे समाज की भी भलाई होती है। ऐसे व्यक्ति को करना न केवल अपने प्रति अन्याय है वरन् समाज के प्रति वयं अपराधी व्यक्ति के प्रति अन्याय है। जब कोई व्यक्ति अपने को झूठ बोलने, चोरी करने, गाली बकने के लिये क्षमा कर तो वह उसका भविष्य कल्याणमय नहीं बनाता, वरन् वह लिये नरक की तैयारी कर रहा है। उसका वर्तमान जीवन ही लिये नरक की यन्त्रणा देनेवाला होगा। जिस मनुष्य को इन्द्रियोंपर अधिकार प्राप्त करने की शिक्षा नहीं मिली उससे अभागा कौन है!

जिस प्रकार ऊँचे आदर्शवाले व्यक्ति की भूलों को क्षमा करने से सुधार होता है उसी प्रकार कभी-कभी मानसिक ग्रन्थि के लोगों के अपराधों को क्षमा करने से भी उनका सुधार ता है। पर इस प्रकार के सुधार की योग्यता थोड़े ही व्यक्तियों ती है। आधुनिक शिक्षावैज्ञानिक जटिल बालकों के सुधार उपाय उनके प्रति प्रेमपूर्वक व्यवहार करना ही बताते हैं। इस कथन में मौलिक सत्य है। जिस व्यक्ति का अपने नैतिक में आत्म-विश्वास चला जाता है उसे भला बनाना कठिन होता

है। इस आत्मविश्वास के लाने के लिये जटिल अपराधी के साथ प्रेम का व्यवहार करना आवश्यक होता है पर सभी प्रकार के अपराधियों के साथ इस प्रकार व्यवहार करना अनुचित है।

पागलों के व्यवहार को क्षमा करना ही होता है। पागलों के नैतिक सुधार की सम्भावना नहीं। अतएव उनके नैतिक सुधार में दण्ड का कोई महत्त्व नहीं। यदि उन्हें कोई लाभ हो सकता है तो उनके प्रति प्रेम प्रदर्शन से। अतएव सभ्य समाज में पागलों पर दया ही की जाती है।

अज्ञानी व्यक्ति का अपराध क्षम्य है अथवा नहीं, यह उसके विशेष प्रकार के अज्ञानपर निर्भर करता है। इसकी चर्चा पहलेकर आये हैं। पर उसी व्यक्ति के अपराध को अज्ञान के कारण क्षमा करना उचित है जो अपराध के परिणाम का ज्ञान कर लेनेपर उसके लिये पश्चाताप की अनुभूति करता है। जो व्यक्ति अपनी भूल को समझकर भी उसके लिए आत्म-संताप की अनुभूति नहीं करता, उसे भूल के महत्त्व को दर्शाने के लिए दण्ड देना ही उचित है। जो व्यक्ति किसी भूल के लिए एक बार पश्चाताप की अनुभूति करता है वह उस भूल को दूसरी बार नहीं करता। अतएव पश्चाताप की भावना उत्पन्न हो जाने पर किसी भी अपराधी को क्षमा कर देना उचित है। पश्चाताप ही उसके नैतिक सुधार के लिये पर्याप्त है।

नैतिक सुधार

मनुष्य का नैतिक सुधार तभी होता है जब कि वह अपने आपको बुरे कामों से अलग करके भले कामों में लगा देता है। दण्ड और पश्चाताप अपराधी के सुधार के नकारात्मक उपाय हैं। इनसे मनुष्य की दुराचरण की प्रवृत्ति दुर्बल हो जाती है, पर उसके चरित्र को बलवान बनाने के लिये दण्ड और पश्चाताप के अतिरिक्त और कुछ भी करना आवश्यक होता है। दण्ड, चाहे वह दूसरों के द्वारा

दिया गया हो अथवा अपने आप के द्वारा ही, मनुष्य के मन में अपराध के फल के प्रति भय उत्पन्न करता है। भय मनुष्य को बुरे काम से रोकने में समर्थ भले ही हो, वह उसे भले काम में लगाने के लिये पर्याप्त नहीं है। इसके लिये मनुष्य के मन में फल के प्रति आशा का भाव उत्पन्न करना आवश्यक है। दण्ड केवल बुरे काम करने के प्रति मनुष्य के मन में अनिच्छा उत्पन्न करता है, पर जबतक मनुष्य के मन में भले काम करने की इच्छा उत्पन्न नहीं होती तबतक उसमें नैतिक सुधार नहीं होता।

किसी मनुष्य को बार बार दण्ड देने से उसका आत्म सुधार का विश्वास चला जाता है। इस विश्वास के अभाव में उसके आचरण का सुधार होना असम्भव है। जब किसी व्यक्ति का शुभाचरण कर सकने का विश्वास चला जाता है तो उसे सदाचारी नहीं बनाया जा सकता है। वह फिर निकम्मा, भाग्य को कोसनेवाला अथवा रोग का अवाहन करनेवाला व्यक्ति बन जाता है।

जिस प्रकार अपराधी का सुधार उसे बार बार दण्ड देने से नहीं होता, वरन् उसमें आत्म-विश्वास की उत्पत्ति से होता है, इसी प्रकार किसी पाप के लिये हर समय आत्म-भर्त्सना से भी मनुष्य का वास्तविक और स्थायी आत्मसुधार नहीं होता। अपने आपको रचनात्मक काम में लगाने से ही मनुष्य के चरित्र का वास्तविक सुधार होता है। इससे उसकी इच्छा शक्ति का बल बढ़ता है और फिर वह सहज भाव में सदाचारी बन जाता है। सदा भले काम में लगे रहने से मनुष्य के बुरे कामों के संस्कार अपने आप नष्ट हो जाते हैं।

अपने दोषों से मुक्त होने के लिये मनुष्य को अपने विचार नकारात्मक न बनाकर रचनात्मक बनाना चाहिये। मनुष्य की दृष्टि ... ओर रहती है, उसका आचरण भी उसी ओर जाता है। दोष ... की चिन्ता मनुष्य को अनायास दोषों की ओर ही ले

जाती है और रचनात्मक कार्य करने की चिन्ता मनुष्य को रचनात्मक कार्यों की ओर ले जाती है। बार बार दण्ड के भय और आत्मभर्त्सना के परिणामस्वरूप जब मनुष्य की इच्छा शक्ति निर्बल हो जाती है तो उसके द्वारा अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी अपराध हो जाते हैं। इनके लिये वह दुःख की अनुभूति करता है, पर फिर भी वह मानसिक साम्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। रचनात्मक विचारों के अभाव में वह वर्जित काम में अपने आपको अनायास लगा हुआ पाता है। अतएव अपराधी को किसी न किसी प्रकार रचनात्मक काम में लगाये रखना चाहिये।

इसके लिये उसके प्रति सहानुभूति दिखलाना आवश्यक होता है। न्यायाधीश उद्दण्ड बालक को दण्ड के रूप में सुधारगृह में भेजता है, पर यदि सुधारगृह में उसे कठोरता का ही व्यवहार मिले तो उसका सुधार न होकर वह और भी बिगड़ जायेगा। सुधारगृह में बालक को रचनात्मक काम में लगाना आवश्यक होता है। सुधारगृह का लक्ष्य बालकों को उनकी पुरानी आदतों से मुक्त करना मात्र नहीं है, उनमें उत्तम आदतें डालना भी उसका लक्ष्य है।

नैतिक जिम्मेदारी

नैतिक जिम्मेदारी की अनुभूति का स्वरूप—जब हम कोई बुरा अथवा भला काम करते हैं तो हम आत्म-प्रसाद अथवा आत्म-भर्त्सना की अनुभूति करते हैं। हमारी यह अनुभूति नैतिक जिम्मेदारी का आधार है। जिस मनुष्य को भले काम करने के लिये कोई आह्लाद नहीं होता और जिसे बुरे काम करने के लिये भर्त्सना नहीं होती उसमें नैतिक जिम्मेदारी की अनुभूति का भी अभाव रहता है। नैतिक जिम्मेदारी का भाव मनुष्य में विवेक की वृद्धि के साथ साथ आता है। जिस मनुष्य का विवेक जितना ही कम विकसित रहता

है उसमें नैतिक जिम्मेदारी का भाव भी उतना ही कम होता है। बालक में नैतिक जिम्मेदारी का भाव कम रहता है, पर जैसे जैसे वह बढ़ता जाता है और उसे योग्य शिक्षा मिलती जाती है उसमें नैतिक जिम्मेदारी का भाव आता जाता है। जैसे जैसे मनुष्य के चरित्र का विकास होता है उसका नैतिक जिम्मेदारी का भाव भी बढ़ता जाता है। यह जिम्मेदारी का भाव मनुष्य में तबतक रहता है जबतक उसे अपने व्यक्तित्व का ज्ञान और उसका अहंकार रहता है। जब मनुष्य अपने व्यक्तित्व के ज्ञान से रहित हो जाता है और उसमें आत्म-प्रतिष्ठा की आकांक्षा नहीं रहती तो उसके नैतिक जिम्मेदारी के भाव का अन्त भी हो जाता है। मन की विक्षिप्त अवस्था में अथवा पूर्णता की अवस्था में मनुष्य में नैतिक जिम्मेदारी का भाव नहीं रहता। विक्षिप्त अवस्था में मनुष्य के व्यक्तित्व में एकत्व नहीं रहता। वह अपने भूतकाल के अनुभवों का स्वीकार करने और उनके लिये प्रायश्चित करने से बचना चाहता है। अतीत के अनुभव जब इतने अप्रिय होते हैं कि मनुष्य उनका स्मरण मात्र नहीं करना चाहता तो उसके व्यक्तित्व का एकत्व नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह अपने पुराने कृत्यों के लिये अपने आपको जिम्मेदार न समझकर किसी दूसरी सत्ता को जिम्मेदार समझने लगता है।

नैतिक जिम्मेदारी की अनुभूति की महत्ता—नैतिक जिम्मेदारी की अनुभूति ही नैतिकता का आधार है। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको अपने शुभ काम के लिये पुरस्कार का और अशुभ काम के लिये दण्ड का भागी मानता है—यह दण्ड चाहे उसे समाज से मिले अथवा वह अपने आपको स्वयं ही देले। समाज द्वारा दिया गया पुरस्कार अथवा दण्ड उसकी प्रशंसा अथवा उसकी निन्दा का रूप लेता है; जब कोई काम बहुत ही भला अथवा बुरा होता है तो ऐसे काम करनेवाले को राज्य के द्वारा सम्मान और मिलता है। अपने आप द्वारा दिया गया पुरस्कार आत्म-

संतोष का रूप लेता है और दण्ड आत्मभर्त्सना का रूप लेता है। जबतक मनुष्य पूर्णता को प्राप्त नहीं हो जाता उसे सम्पूर्ण आत्म-संतोष नहीं होता। उसे भूलों के लिये सामाजिक दण्ड अथवा आत्म-भर्त्सना के भय से सदा सचेत होकर काम करना पड़ता है। नैतिकता की विकसित अवस्था में मनुष्य बाहरी पुरस्कार अथवा दण्ड के प्रति उदासीन हो जाता; उसका लक्ष्य आत्म-संतोष प्राप्त करना और आत्म-भर्त्सना के अवसर को न आने देना हो जाता है।

जो मनुष्य अपने कामों के लिये नैतिक जिम्मेदारी की अनुभूति नहीं करता वह अपना नैतिक विकास भी नहीं करता। जब कोई मनुष्य यह मानने लगता है कि उसके सभी प्रकार के आचरण के लिये उनका वातावरण ही जिम्मेदार है तो उसमें नैतिक जिम्मेदारी की भावना की कमी हो जाती है। नैतिक जिम्मेदारी उसी व्यक्ति पर डाली जा सकती है जो अपने भीतर में स्वतन्त्र इच्छा शक्ति की उपास्थिति का अनुभव करता है और जो वातावरण के प्रतिकूल आचरण करने की अपने आपमें सामर्थ्य पाता है। अपने किसी कार्य के लिये वातावरण को दोषी ठहराना नैतिक जिम्मेदारी से बचने की मनोवृत्ति का परिचायक है। ऐसे व्यक्ति को अपने कार्यों के लिये आत्म-भर्त्सना नहीं होती, पर उनका नैतिक विकास भी नहीं होता। ऐसे लोगों का सुधार बाहरी दण्ड द्वारा होता है। बाहरी दण्ड का ध्येय ही मनुष्य में नैतिक जिम्मेदारी की भावना का विकास करना है।

नैतिक जिम्मेदारी की परिस्थिति—हम किसी व्यक्ति को विशेष परिस्थिति में ही उसके काम के लिये नैतिक रूप से जिम्मेदार मान सकते हैं। जिस मनुष्य को जिस काम को करने अथवा न करने की स्वतन्त्रता नहीं है उसको उसके ऊपर नैतिक जिम्मेदारी भी नहीं होती। भाड़े के सिपाही के विशेष काम की नैतिक जिम्मेदारी उसके मालिक पर होती है। जिसने ही काम देखे हैं जो

मानवता के प्रतिकूल हैं, नौकर को भी चाहिये कि वह नौकरी को छोड़ दे पर ऐसे काम न करे। जब कोई नौकर अपने स्वामी से पुरस्कार पाने के हेतु अथवा अपनी नौकरी रखने के लिये जघन्य अपराध करता है तो वह सर्वथा दोष से मुक्त नहीं माना जा सकता।

अज्ञान की अवस्था में भी नैतिक जिम्मेदारी उतनी अधिक नहीं होती जितनी सम्पूर्ण ज्ञान की अवस्था में रहती है। परन्तु जैसा कि अपराध के स्वरूप निरूपण के समय बताया गया है सभी प्रकार का अज्ञान क्षम्य नहीं है और न वह हमें अपने बुरे कामों की नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त करता है। प्रत्येक विवेकशील मनुष्य का कर्तव्य है कि वह उस ज्ञान को प्राप्त करे जिसके द्वारा वह भले और बुरे की ठीक से पहचान कर सकता है और अपने लक्ष्य के प्राप्त करने के उचित उपाय को जानता है।

प्रलोभनों की उपस्थिति मनुष्य को नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त नहीं करती। प्रलोभनों के ऊपर विजय प्राप्त करने में ही मनुष्य का नैतिक विकास है। जिस व्यक्ति का चरित्र जितना ही दृढ़ होता है वह उतना ही कम प्रलोभनों के वश में आता है। प्रलोभनों से बचने के लिये ही मनुष्य को दण्ड दिया जाता है। जब प्रलोभन वश कोई काम हम से हो तो हमें अपने ऊपर उसकी पूरी नैतिक जिम्मेदारी लेना उचित है।

दूसरे लोगों की सलाह या तर्क भी मनुष्य को अपने काम की नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त नहीं करती। प्रत्येक मनुष्य के काम की नैतिक जिम्मेदारी उसके ऊपर ही है न कि उसे सलाह देने वाले के ऊपर। सलाह देने वाले की सलाह देने के काम की अलग नैतिक जिम्मेदारी है। हम किसी की भली अथवा बुरी सलाह तभी मानते हैं जब निर्दिष्ट पथ की ओर हमारी पहले से ही प्रवृत्ति होती है। मनुष्य की इच्छा के प्रतिकूल उसे सलाह ग्राह्य नहीं होती। अतएव अपने किसी पाप अथवा अपराध के लिये किसी सलाहकार के सिर दोष मढ़ना अपने

आपको धोखा देना है। इससे मनुष्य कुछ काल के लिये योग्य दण्ड से भले ही बच जाय पर उसे वह दण्ड पीछे ब्याज सहित मिलता है।

आवेग की उपस्थिति की युक्ति मनुष्य के अपने काम की नैतिक जिम्मेदारी को कम अवश्य कर देती है पर मनुष्य इसके कारण उससे सर्वथा मुक्त नहीं होता। जिस प्रकार मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करे, इसी प्रकार उसका कर्तव्य है कि वह अपने आवेगों के कारणों को जानकर उनके ऊपर विजय प्राप्त करने की चेष्टा करे। आवेगों के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी जड़ मनुष्य के अचेतन मन में रहती है, अतएव उन पर विजय प्राप्त करना उतना सरल नहीं है जितना कि अपने प्रलोभनों पर विजय प्राप्त करना सरल है। अतएव आवेगों के वश में जो काम मनुष्य कर डालता है उसके लिये हम उसे उतना दोषी नहीं मानते जितना कि प्रलोभनों के वश होकर काम करने वाले व्यक्ति को उसके अनुचित काम के लिये दोषी मानते हैं।

अपने काम की पूरी नैतिक जिम्मेदारी उसी व्यक्ति की होती है जो सुशिक्षित है, जिसका व्यक्तित्व सुगठित है और जिसका विवेक जाग्रत है। ऐसा व्यक्ति अपने कार्यों की नैतिक जिम्मेदारी का भार किसी दूसरे व्यक्ति के कंधों पर न डाल कर अथवा परिस्थितियों के सिर न मढ़कर स्वयं अपने ऊपर ही लेता है। इसमें ही वह अपना सच्चा कल्याण देखता है।

नैतिक जिम्मेदारी से बचने की मनोवृत्ति—नैतिक जिम्मेदारी से दोषी मनुष्य बचने की सदा चेष्टा करते रहता है। संसार का साधारण मनुष्य भले काम के लिये अपने आपको प्रशंसा का पात्र तो समझता है, पर अपने बुरे काम के लिये निन्दा का भागी नहीं समझता। वह किसी न किसी प्रकार निन्दा पाने की परिस्थिति से बचने की चेष्टा करता है। बुरे काम के लिये जब उसे आत्म-भर्त्सना होती है तो वह या तो इस दुःख की स्मृति को भुलाने की चेष्टा करता है अथवा अपने

में एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य को अपने स्वार्थ का साधन बनाना और उसके परिश्रम का फल चुराना स्वाभाविक है। जब तक समाज के विचारवान लोगों में यह भावजाग्रत नहीं होता कि सच्चा सुख दूसरे को सुखी बनाने में है नकि अपने [illegible] उसका उपभोग करने में तबतक गरीबों का शोषण और सामाजिक कलह का अन्त न होगा।

सामाजिक बुराइयों का अन्त दो प्रकार से होता है—एक सम[ाज] के अपने आप प्रयत्न के द्वारा और दूसरे प्राकृतिक रूप से। जो नैति[क] सुधार का नियम व्यक्ति के जीवन में कार्य करता है वही नियम सम[ाज] के जीवन में भी कार्य करता है। अपने आप सामाजिक बुराइयों [का] अन्त करने का प्रयत्न समाज के नेता लोगों द्वारा जनता के सु[धार] के यत्न में देखा जाता है। जब समाज किसी प्रकार की सामाजि[क] बुराई से ऊब जाता है तो उसमें आत्म-सुधार की भावना उत्पन्न [होती] है। ऐसी अवस्था में किसी समाज सुधार का उदय होता है। सम[ाज] इस प्रकार के समाज सुधारक का स्वागत करता है और उ[सके] बताये हुए पथपर चलने की चेष्टा करता है। इस तरह यह [समाज] बुराइयों से मुक्त हो जाता है।

पर जब कोई समाज उसके सुधारक की बात नहीं सुनता [और] पुरानी लकीर ही चला जाता है तो सामाजिक बुराई सामाजिक विप्[लव] का रूप धारण करके बाहर आ जाता है। ऐसी अवस्था में रा[ज्य] क्रान्तियाँ होती हैं। यदि इन क्रान्तियों के परिणाम स्वरूप समाज विवेकशील व्यक्तियों ने समाज की बुराइयों को हटा दिया तो सम[ाज] का कल्याण होता है। परन्तु साधारणतः राज्यक्रान्ति अथवा [सामा]जिक क्रान्ति अराजकता की ओर जाती है और नई बुराइयों को जन्म देती है। इससे कभी कभी समाज और भी निर्बल हो जाता है। [सामा]जिक संगठन दृढ़ हुए बिना समाज में बल नहीं आता।

सामाजिक संगठन की दृढ़ता समाज की साधारण जनताकी अपने नेताओं के ऊपर श्रद्धा रहनेपर निर्भर करती है। समाज के नेता ही समाज को भले मार्गपर चला सकते हैं और नष्ट होने से बचा सकते हैं। जब समाज के नेताओंपर सामान्य जनता की श्रद्धा नहीं रहती तो समाज में मानसिक विषमता अथवा अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसके परिणाम स्वरूप समाज निर्बल हो जाता है फिर उसका नैतिक सुधार होना कठिन हो जाता है।

किसी राष्ट्र की जब उपयुक्त अवस्था रहती है तो दूसरा प्रबल राष्ट्र उसे अपने काबू में कर लेता है। फिर वह राष्ट्र विजित राष्ट्र की जनता में उचित सुधार करने की चेष्टा करता है। यदि वह ऐसी चेष्टा न करे तो विजित राष्ट्र की बुराइयाँ ही संक्रामक रोग के समान विजेता में आ जाती हैं और वे फिर उसका भी पतनकर देती हैं।

———•———

ग्यारहवाँ प्रकरण

नैतिक प्रगति

नैतिक प्रगति की वास्तविकता—जो व्यक्ति नीतिशास्त्र पर विचार करता है उसे नैतिक प्रगति में विश्वास करना आवश्यक है। बिना इस प्रकार के विश्वास के नीतिशास्त्र में रुचि रखना संभव ही नहीं। मनुष्य की नैतिक प्रगति की संभावना नीतिशास्त्र की पूर्व-मान्यता है और नैतिक प्रगति को संसार में देखना यह नैतिक बातों में रुचि रखने के लिये आवश्यक है। जो व्यक्ति मनुष्य की नैतिक प्रगति का सभी ओर देखता है वह समाज की और अपने आप की नैतिक प्रगति करने की चेष्टा भी करता है। इसके विरुद्ध जो व्यक्ति नैतिक प्रगति के तथ्य में विश्वास ही नहीं करता वह निराशावादी होता है। वह न समाज की नैतिक उन्नति करने की चेष्टा करता है और न अपने आप की।

समाज की नैतिक उन्नति हो रही है अथवा नहीं, इस प्रश्न के विषय में दो प्रकार के प्रधान मत हैं। एक मत के अनुसार समाज की नैतिक उन्नति नहीं हो रही है और दूसरे मत के अनुसार उसकी नैतिक उन्नति हो रही है। फ्रांस के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी दार्शनिक रूसो महाशय का कथन था कि जैसे जैसे सभ्यता की वृद्धि होती है नैतिकता का ह्रास होता है। सभ्यता मनुष्य की बुद्धि और चतुराई को बढ़ाती है, यह उसके हृदय को पवित्र नहीं बनाती। सभ्यता की वृद्धि से मनुष्य चालाक, कपटी और स्वार्थी बनता है, वह इससे दूसरों पर दया करनेवाला, उनसे सहानुभूति रखनेवाला नहीं बनता। सभ्यता मनुष्य की भोग सामग्री को बढ़ाती है। मनुष्य अपनी स्वार्थमयी अनेक इच्छाओं को तृप्त करने के अनेक प्रकार के साधन पा लेता है, अतएव वह इन्हीं

के प्राप्त करने में लगा रहता है। फिर जैसा मनुष्य का अभ्यास होता है उसका स्वभाव भी वैसा ही बन जाता है। वह सदा स्वार्थी कामों में लगा रहता है, दूसरों को अपने स्वार्थ का साधन बनाने का उपाय वह सोचता रहता है, पर वह उनसे प्रेम दिखाने के अनेक ढोंग रचता है। रूसो महाशय का कथन है कि मनुष्य जब अपनी प्राकृतिक अवस्था में था तब वह अधिक नैतिकता प्रदर्शित करता था, अतएव यदि वह फिर से अपनी पुरानी अवस्था में चला जाय तो वह वैसा ही सीधा सादा और भला व्यक्ति बन जाय।

इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध कवि विलियमवर्ड्सवर्थ और साहित्यकार एडवर्ड कारपेन्टर महाशयों का भी मत इसी प्रकार का है। इनके कथनानुसार मनुष्य को अपना जीवन प्राकृतिक बनाना चाहिये। मनुष्य जैसे जैसे प्रकृति से दूर जाता है वह अपने जीवन को नैतिक दृष्टि से कलुषित और आध्यात्मिक दृष्टि से दुःखी बनाता है। वर्तमान सभ्यता मनुष्य की नैतिक प्रगति न कर उसको नीचे ले जाती है।

भारतवर्ष में वर्तमान काल को कलियुग का समय बताया जाता है। *जिस प्रकार ईसाई लोग अपना स्वर्णयुग भूतकाल में देखते हैं,* इसी प्रकार भारतीय संस्कृति के लोग अतीत काल में ही सतयुग की कल्पना करते हैं। वर्तमान काल अधर्म का काल है। इसमें जो कुछ अनर्थ हो जाय वह थोड़ा है। कलियुग के अन्त में प्रलय होगा, अब नई सृष्टि होगी। जिन बातों को आधुनिक काल के सुधारक नैतिकता की प्रगति का लक्षण मानते हैं, उन्हीं बातों को पुरानी विचारधारा के व्यक्ति उसका विनाशक मानते हैं। जिन बातों को वर्तमान काल में कर्तव्य माना जाता है उन्हें पुराने विचार के लोग अकर्तव्य मानते हैं। अकर्तव्यों की संख्या बढ़ते हुए देख ये पुराने विचारों के लोग सोचते हैं कि अब समाज का विनाश होनेवाला है।

उक्त प्रकार के विचारों का प्रभाव मनुष्य के आचरण और चरित्र पर पड़ता है। जो मनुष्य जैसा सोचता है वह वैसा करता भी है।

जिस व्यक्ति के विचार आशावादी होते हैं यह दूसरों के विचारों को भी आशावादी बनाता है और उन्हें अपने कामों में उत्साह देता है, इसके प्रतिकूल निराशावादी चिन्तक न केवल अपने आप दुःखी, अप्रगतिशील होता है वरन् दूसरों को भी वैसा ही बनाता है। समाज में प्रगति हो रही है अथवा नहीं, यह वास्तविक जगत की घटनाओं के ऊपर उतना निर्भर नहीं करता, जितना कि स्वयं चिन्तन करनेवाले व्यक्ति की मानसिक बनावट के ऊपर निर्भर करता है। अपने आपसे असन्तुष्ट व्यक्ति जगत में पर्याप्त असन्तोष के कारण देखता है और अपने आप से सन्तुष्ट व्यक्ति जगत् की घटनाओं से आशा और प्रोत्साहन पाता है। जो व्यक्ति अपने आप में बाह्य परिस्थितियों से लड़ने के सामर्थ्य की अनुभूति करता है वह संसार में कठिनाइयाँ देखता है पर वह विश्वास रखता है कि वह इन कठिनाइयों को पारकर सकेगा और इन कठिनाइयों को पार करने में उसे समाज से और प्रकृति से सहायता मिलेगी। पर जो व्यक्ति अपने आप में इस प्रकार का सामर्थ्य नहीं पाता वह इसके लिये अपने आप को दोषी न ठहराकर अपनी अप्रगतिशीलता का दोष समाज, काल अथवा प्रगति के ऊपर मढ़ता है।

स्वस्थ नीति-शास्त्र का लेखक मनुष्यों में यह विचार उत्पन्न करने की चेष्टा करता है कि आदर्श युग भूतकाल में नहीं था वरन् भविष्य में आनेवाला है और इसके लिये हम सबको मिलकर प्रयत्न करना है। हम जितनी ही अपने कर्तव्यों के पालन में ढिलाई दिखाते हैं इस आदर्शयुग अथवा स्वर्णकाल के आने में उतनी ही अड़चन डालते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का संसार की उन्नति करने में स्थान है, बिना उसके प्रयत्न के संसार तथा समाज उन्नत नहीं हो सकता। मनुष्य वर्तमान समय में जितना स्वार्थी और भूठा है उससे भविष्य में कम होगा, उसमें आज जितनी पवित्रता है भविष्य में इससे अधिक पवित्रता होगी। भविष्य को अन्धकारमय देखना और भूत को ही

प्रकाशमय देखना, यह मानसिक बुढ़ापे की निशानी है। जब समाज में मानसिक बुढ़ापा आ जाता है तो समाज के लोग सोचने लगते हैं कि पुराने समय के समान अब समय नहीं आ सकता। इसके प्रतिकूल जिन लोगों का मन स्वस्थ है जो अपने आप में युवावस्था की अनुभूति करते हैं वे सदा भविष्य को सुन्दर और रम्य देखते हैं। उन्हें अतीत के विषय में सोचने की फ़ुरसत ही नहीं मिलती। अतीत के विषय में उतना ही सोचना अच्छा है जितना वर्तमानकाल के कर्तव्यों को पालन करने के लिये और भविष्य को सुन्दर बनाने के लिये आवश्यक है।

वर्तमानकाल में समाज नैतिक प्रगति कर रहा है अथवा नहीं, यह तो निर्णय करना कठिन है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वर्तमान काल में नैतिक प्रगति के जितने साधन हैं उतने पहले नहीं थे। इन साधनों का सदुपयोग करना आवश्यक है। साधन स्वयं नैतिकता अथवा अनैतिकता नहीं ला सकते, उनका उपयोग ही नैतिकता अथवा अनैतिकता लाता है। जो शिक्षा आज समाज के साधारण व्यक्ति को उपलब्ध है वह पहले बहुत से लोगों को प्राप्त नहीं थी। परन्तु मनुष्य शिक्षा के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके गिर भी सकता है। अतएव किसी सम्पूर्ण समाज के विषय में यह कहना बड़ा कठिन है कि समाज नैतिक दृष्टि से आगे बढ़ रहा है अथवा नहीं।

नैतिक प्रगति के कारण—समाज के नैतिक जीवन के तीन अंग हैं- नैतिक आदर्श, सामाजिक संस्थायें और प्रतिदिन का अभ्यास। जब इन तीनों प्रकार के अंगों में कुछ समता रहती है, तो समाज में कोई नैतिक उथल-पुथल नहीं होती। पर जब तीनों में विषमता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो समाज में उथल-पुथल मच जाती है। नैतिक प्रगति प्रधानतः दो कारणों से होती है—एक नैतिक जीवन के अंगों में पारस्परिक विरोध से और दूसरे किसी अंग में अपूर्णता की अनुभूति से। जब कभी मनुष्य के नैतिक आदर्श और नैतिक संस्था में विरोध होता है तब या तो मनुष्य नये आदर्शों का निर्माण

करना है अथवा नई संस्था का। इसी प्रकार जब किसी संस्था का मनुष्य के दैनिक आचरण से विरोध होता है तो संस्था में परिवर्तन हो जाता है अथवा आचरणों में कमी। कभी मनुष्य का नैतिक आदर्श बहुत ऊँचा होता है, पर नैतिक संस्थाएं नीचे स्तर की होती हैं ऐसी स्थिति में प्रगतिशील व्यक्ति प्रायः अपनी संस्थाओं को अपने आदर्श के अनुसार बनाने की चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार जब संस्था के नियम विरुद्ध जब किसी व्यक्ति का आचरण होता है तो साधारणतः उस मनुष्य के आचरण के सुधारने की प्रेरणा उत्पन्न होती है। इस प्रकार उसका सुधार भी हो जाता है। इस तरह मानव समाज की नैतिक प्रगति होती है। पर कभी कभी मनुष्य का आचरण अच्छा होता है, पर सामाजिक संस्था निम्न कोटि की नैतिकता को प्रदर्शित करती है। ऐसी स्थिति में संस्था के बदलने की आवश्यकता उत्पन्न होती है और इस प्रकार के परिवर्तन से समाज की नैतिक प्रगति होती है। इसी प्रकार नैतिक संस्था भी नैतिक आदर्श को ऊँचा बनाने का कारण बन जाती है।

कभी कभी मनुष्य को समाज की नैतिक आदर्श की कमी का ज्ञान होता है। वह अपने आदर्श को ही नीचा देख सकता है, अथवा किसी भी नैतिक संस्था को अथवा व्यवहार को नीचा जान सकता है। ऐसी स्थिति में भी मनुष्य की नैतिक प्रगति होती है। समाज के नैतिक आदर्शों में प्रगति उत्पन्न करने का काम समाज के महान पुरुषों का होता है। वे पहले अपने आचरण में इन नैतिक आदर्शों को चरितार्थ करते हैं, पीछे समाज उनका अनुकरण करता है। हजरत मूसा ने कहा था कि तुम अपने मित्रों को प्यार करो और शत्रुओं से वैर भाव रखो; इसके बदले में हजरत ईसा ने कहा कि तुम न केवल अपने मित्रों को प्यार करो वरन् शत्रुओं को भी प्यार करो यदि प्रेम करना अच्छा है तो सभी के प्रति प्रेम करना अच्छा है। मनुष्य की नैतिक प्रगति अपने नैतिक सिद्धान्त को अधिक व्यापक बनाने से

होती है। जो उदारता हम अपने सम्बन्धियों के प्रति दिखाते हैं उसी को जब हम दूसरे लोगों को दिखाने लगते हैं तो हम अपनी नैतिक प्रगति करते हैं। मनुष्यों के व्यवहार, उनकी संस्थाओं और उनके आदर्शों में जब एक ही प्रकार का सिद्धान्त काम करता है तो मनुष्य अपने आप में पूर्णता की अनुभूति करता है। यह उसकी नैतिक प्रगति की स्थिति है। साधारणतः हम देखते हैं कि मनुष्य एक व्यक्ति से एक प्रकार का व्यवहार करता है और दूसरे से दूसरे प्रकार का। इसी प्रकार वह भिन्न भिन्न व्यक्तियों से भिन्न भिन्न तरह से व्यवहार करता है। यह नैतिक दृष्टि से अनुचित है। सभी लोगों से व्यवहार करते समय एक ही सिद्धान्त का पालन भला है।

नैतिक प्रगति के लक्षण—टामस हिल ग्रीन महाशय के कथनानुसार नैतिक प्रगति के लक्षण दो हैं—(१) नैतिक विचार का गंभीर होना (२) नैतिक कर्तव्यों का विस्तार होना। जब मनुष्य का नैतिक विचार गम्भीर होता है तो वह किसीभी कार्य को पवित्र हेतु से करता है। मान लीजिए, कोई व्यक्ति अपने आचरण में सचाई अथवा उदारता दिखाता है। ये उसके चरित्र के सद्गुण हैं। पर वह इन गुणों को समाज में प्रतिष्ठा का स्थान पाने के लिये दिखा सकता है, अथवा वे आत्म-सन्तोष प्राप्त करने के लिये उपार्जित किये जा सकते हैं। यदि वह प्रतिष्ठा प्राप्त करने के हेतु इन गुणों का अभ्यास करता है तो उसका हेतु निम्न कोटि का है और यदि वह अन्तरात्मा की प्रेरणा के कारण इन सद्गुणों को दिखाता है तो उसका हेतु उच्चकोटि का है। फिर नैतिक प्रगति सचाई अथवा उदारता के क्षेत्र के विचार से भी होती है। पहले सचाई का अर्थ इतना ही होता है कि मनुष्य वही करे जो वह कहता है, पर पीछे उसका अर्थ हो जाता है कि मनुष्य वही करे जो सोचता है। विचार, वाणी और कर्म की एकता का नाम सची सचाई है। इसी प्रकार उदारता न केवल अपने परिचित व्यक्तियों के प्रति दिखाना ठीक है, वरन् अपरिचितों के प्रति भी दिखाना

उचित है। फिर उदारता ग़रीबों के प्रति दान देने में, बच
प्रति प्रेम दिखाने में, और हठी लोगों के विचारों का विरोध नहीं क
में है। क्रिया की उदारता से विचारों की उदारता कहीं कठिन
है। हम अपना धन देकर दूसरे व्यक्ति से अपनी सहानुभूति प्रका
कर सकते हैं, पर जो व्यक्ति हम से विरुद्ध विचार रखता है उस
प्रति सहानुभूति दिखाना और उसके विचारों को धैर्य से सुन
बहुत कठिन होता है।

जब मनुष्य के नैतिक विचारों में पहले प्रकार का परिवर्तन हो
है, अर्थात् जब उसके नैतिक विचार गंभीर हो जाते हैं तो उस
जीवन में कई ऐसे कर्तव्य उपस्थित हो जाते हैं जो पहले नहीं थे
यदि कोई मनुष्य अपने प्रति उपकार करने वाले व्यक्ति की भला
करना मात्र अपना कर्तव्य समझता है तो वह रास्ते में चलते हुए
अंधे को ठीक मार्ग पर कर देना, अथवा उसे इक्का तांगे से बचा
लेना अपना कर्तव्य न समझेगा। कितने ही लोग हमारी व्यक्तिगत
कोई बुराई नहीं करते, परन्तु समाज की बुराई करते हैं। जो मनुष्य
अपने आपका समाज से आत्मसात नहीं करता, वह ऐसे व्यक्ति को
बुराई के कामों से रोकने की चेष्टा न करेगा। समाज के बच्चों के
लालन पालन और सुयोग्य शिक्षा के बारे में सोचना, स्त्रियों और
दलित वर्गों के प्रति अत्याचार को रोकने की चेष्टा करना, मज़दूरों
के शोषण के विरुद्ध प्रचार करना, आदि कर्तव्य समाज के साधा-
रण व्यक्ति के ध्यान में नहीं आते। इस प्रकार के कर्तव्य उसी व्यक्ति
को सूझते हैं जिसका नैतिक विचार गंभीर है।

नैतिक प्रगति में बाह्य और आन्तरिक उपकरणों की
महत्ता—जड़वादी नीतिशास्त्रज्ञों का मत है कि समाज की नैतिक
प्रगति उसके वातावरण में परिवर्तनों का परिणाम है। वर्तमान काल
का समाज पुराने समाज से भिन्न है। वर्तमान काल की समाज

व्यवस्था पुराने ढंग पर नहीं चल सकती अतएव विशेष प्रकार का परिवर्तन अपने आप हो गया है। जिसे हम नैतिक प्रगति कहते हैं वह मनुष्य की आर्थिक उन्नति का परिणाम है। जैसे जैसे मनुष्य के धनोपार्जन के साधनों और यंत्रों में उन्नति होती है, समाज व्यवस्था भी उसी के साथ बदलती है। समाज व्यवस्था के बदलने की आवश्यकता के साथ साथ नये नैतिक विचारों का भी जन्म होता है। वर्तमान काल में गुलामों की आवश्यकता नहीं है अतएव गुलामों की प्रथा के विरुद्ध विचार का प्रचार होना सरल हो गया और इसके परिणाम स्वरूप यह प्रथा भी नष्ट हो गई। भारतवर्ष की अछूत प्रथा के विषय में भी बहुत कुछ यही ठीक है। मशीन युग में सभी मनुष्य एक बराबर काम करने की योग्यता रखते हैं। अतएव उनका समान आदर होना भी स्वाभाविक है। पुराने समय में जो जन्म के अनुसार मनुष्य को समाज में स्थान मिलता था वह अब मिलना संभव नहीं। अतएव हमारा नैतिक विचार भी उदार हो गया है। यहाँ वातावरण ही परिवर्तन का कारण है और नये नैतिक विचार का आना उसका परिणाम है।

इस विचार के विरुद्ध विचार आदर्शवादी नीतिशास्त्रज्ञों का है। इनके कथनानुसार मनुष्य के विचार ही उसकी नैतिक प्रगति में प्रधान स्थान रखते हैं। एक ही प्रकार के वातावरण होते हुए भी समाज के सभी लोगों के नैतिक विचार एकसे नहीं होते। नैतिक विचारों की उत्पत्ति मनुष्य के स्वतंत्र चिन्तन से होती है। अपनी आध्यात्मिक उन्नति चाहने वाले व्यक्ति को ही नैतिक विचार आते हैं। ऐसा व्यक्ति समाज के कल्याण के लिए नया मार्ग खोजने की चेष्टा करता है। विशेष वातावरण उपस्थित रहने पर भी किसी किसी समाज में नैतिक उन्नति इसलिए नहीं होती कि मनुष्यों की मनोवृत्ति पुरानी ही बनी है अथवा उन्हें उचित नेता नहीं मिला। किसी प्रकार के वातावरण को मनुष्य के विकास में काम में लाना यह स्वतंत्र चिन्तन का फल है। वास्तव में मनुष्य का नैतिक विकास उसके हेतुओं के शुद्ध होने में है और इन

हेतुओं को यहीं तक भला अथवा बुरा कहा जा सकता है ज
स्वयं मनुष्य अपने स्वतंत्र विचार से उन हेतुओं को बनाता है।

नया वातावरण मनुष्य को नया ज्ञान प्राप्त करने और नये
करने का अवसर प्रदान करता है। परन्तु नया ज्ञान प्राप्त करन
नया कार्य करना यह मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर करत
अतएव मानव समाज के नैतिक विकास को वातावरण के परिवर्त
परिणाममात्र नहीं माना जा सकता। वह मनुष्य की स्वतन्त्र इच्छा
का कार्य है।

नैतिक विकास का अन्तिम लक्ष्य—मनुष्य का नै
विकास उसे वैयक्तिक जीवन के परे जाने के लिए प्रेरित करता है
जितना ही अपने स्वार्थ को भूल कर अपना दूसरों के साथ तादात्म्य
देता है उतना ही अधिक नैतिक व्यक्ति है। पर जब मनुष्य
स्वार्थ को बिलकुल भूल जाता है और अपने स्वार्थ त्याग का
अभिमान भी नहीं करता तो वह व्यक्तित्व की सीमा के बाहर
जाता है। जब उनमें यह परिवर्तन हो जाता है तो वह केवल नै
व्यक्ति न रहकर नैतिकता के परे चला जाता है। नैतिकता में म
को अपने सद्गुणों का अभिमान रहता है, जब मनुष्य नैतिकता के
जाता है तो उसे अपने सद्गुणों का अभिमान भी नहीं रहता।
अवस्था में जो कुछ मनुष्य करता है वह सहज भाव से करता
उसकी इच्छाशक्ति स्वतंत्र रहती है, पर यह इच्छाशक्ति की स्वतं
वैयक्तिक स्वतंत्रता नहीं रहती, वह अपने आपको संसार को प्रा
देनेवाली, उसे व्याप्त करनेवाली सत्ता में मिला देता है।

जब मनुष्य नैतिकता के परे जाता है तो उसे किसी के भले का
करने से विशेष आह्लाद होता नहीं और न किसी बुरे काम के करने
आत्मग्लानि होती है। प्रत्येक प्रकार की बुराई का भला पहलू भी होत
है और प्रत्येक प्रकार की भलाई का बुरा पहलू होता है। अतएव सब
ज्ञानी समदर्शी होता है। वह सोचता है कि सभी भले के लिए है

किसी प्रकार की घटना से वह उद्विग्नमन नहीं होता। जब संसार का चलानेवाला विवेकशील और सर्वशक्तिमान तत्त्व है तो इसके होते हुए संसार में किसी प्रकार की बुराई कैसे संभव है। जो घटना आज हमें बुरी दिखाई देती है वही आगे चलकर भली सिद्ध हो सकती है। यदि हम यह नहीं मानते तो हम संसार के चलानेवाले के विवेकशील और सर्व शक्तिमान होने में अविश्वास करते हैं; और इस अविश्वास के होते हुए सच्ची नैतिकता संभव नहीं। इस तरह जो विचार मनुष्य में नैतिकता का आधार है वही विचार उसे नैतिकता के परे भी ले जाता है। *नैतिकता की सार्थकता मनुष्य के परम शान्ति अथवा परमार्थ तत्व के प्राप्त कराने में है।*

नैतिकता चेतना की अपूर्णता की अवस्था में ही सम्भव है। अतएव जो व्यक्ति जितना ही नैतिकता में आगे बढ़ता है वह अपने आपसे असंतुष्ट होने का उतने ही अधिक कारण देखता है। अपूर्णता की अनुभूति, आत्म-असंतोष और सतत् प्रयत्न करने की इच्छा नैतिकता के आधार हैं। ये मनुष्य को तबतक रहते हैं जबतक वह अपने व्यक्तित्व को अभिमान रखता है। वह व्यक्तित्व का अभिमान रखते हुए पूर्णता प्राप्त करने की पर्याप्त चेष्टा करलेता है, पर जब वह सफलता प्राप्त करने का कोई लक्षण नहीं देखता तो वह व्यक्तित्व के अभिमान को छोड़ देता है। व्यक्तित्व के अभिमान को छोड़ने पर मनुष्य अपने आप में पूर्णता को देखने लगता है।

यह व्यक्तित्व का अभिमान दो प्रकार से छोड़ा जाता है—एक संसार की अनित्यता पर सदा चिन्तन करने से और दूसरे अपने आपको एक सम्पूर्ण सत्ता से अभिन्न मानने से। पहले प्रकार का मार्ग भगवान बुद्ध ने बताया है और दूसरे प्रकार का मार्ग संसार के अन्य धर्मप्रवर्तकों ने बताया है। नैतिक जीवन का असतोष मनुष्य को अपने आपको सर्वात्मा में लय कर देने के लिए प्रेरित करता है। जब हम जीवन का

हम अपने व्यक्तित्व का त्याग मान लेते हैं तो फिर नैतिकता, एक व्यावहारिक जीवन में उपयोगी वस्तु मात्र रह जाती है। पूर्णता नैतिक जीवन की वस्तु नहीं, यह आध्यात्मिक जीवन की वस्तु है। यहाँ बहिर्मुखता का अंत होता है और मनुष्य अन्तर्मुखी होता है। फिर सभी मुझे दृष्टि से देखे जाने लगते हैं।

अनुक्रमणिका

प्रश्न

पहला प्रकरण

१. नीतिशास्त्र का विषय क्या है ? इस शास्त्र में किन विषयों पर विचार किया जाता है ?

२. नीतिशास्त्र के पढ़े बिना ही यदि मनुष्य नैतिक आचरण का सामर्थ रखता हो तो नीतिशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता क्या है ? क्या नीतिशास्त्र के पढ़ने से मनुष्य का आचरण अधिक नैतिक हो जाता है ?

३. नीतिशास्त्र में "शास्त्र" शब्द का क्या अर्थ है ? क्या नीतिशास्त्र को विज्ञान कहा जा सकता है ?

४. "नीतिशास्त्र का अध्ययन केवल बौद्धिक मनोरञ्जन की वस्तु ही है"—इस कथन की विवेचना कीजिये और नितिशास्त्र के अध्ययन जीवन मौलिकता दर्शाइये ।

५. किसी भी नैतिक संकट (धर्म संकट) की स्थिति का विश्लेषण करके नैतिक विचार की आवश्यकता को दर्शाइये।

६. सिद्धान्तिक और व्यावहारिक विज्ञानों में भेद क्या है ? नीतिशास्त्र को क्या व्यावहारिक विज्ञान कहा जा सकता है ?

७. नीतिशास्त्र नियामक विज्ञान है—इस कथन का क्या अर्थ है। इस विज्ञान की तुलना मनोविज्ञान और प्राणीशास्त्र से कीजिये।

८. नीतिशास्त्र को कला क्यों नहीं कहा जा सकता ? कला और विज्ञान के भेद को पूरी तरह स्पष्ट कीजिये।

६. वैज्ञानिक और दार्शनिक विधि के भेद को दर्शाइये । नीतिशास्त्र को विज्ञान क्यों कहा गया है ?

१०. मानव समाज में नैतिक विचार की वृद्धि किस परिस्थिति में होती है ? उदाहरण देकर समझाइये ।

दूसरा प्रकरण

१. नीतिशास्त्र का मनोविज्ञान से क्या सम्बन्ध है ? मनोविज्ञान के अध्ययन की नीतिशास्त्र की समस्याओं को हल करने में उपयोगिता बताइये।

२. नीतिशास्त्र को प्राणीशास्त्र से क्या सहायता मिली है ? क्या हमारे जीवन के नैतिक सिद्धान्त संसार के अन्य प्राणियों के आचरण को देखकर हम बना सकते हैं ?

३. नीतिशास्त्र को आचरण का तर्क कहा गया है—इस प्रकार का कथन कहाँ तक युक्तिसंगत है। नीतिशास्त्र और तर्कशास्त्र का ठीक ठीक सम्बन्ध बताइये।

४. विचार के दोष ही आचरण के दोष होते हैं—इस सिद्धान्त की आलोचना करके उचित सिद्धान्त का निरोपण कीजिये।

५. सुन्दर आचरण नैतिक आचरण है—इस कथन की मान्यता स्पष्ट कीजिये।

६. सुन्दरता को नैतिक आचरण का मापदण्ड मानने में क्या दोष है ? सौन्दर्य-शास्त्र और नीतिशास्त्र के दृष्टिकोण के भेद को स्पष्ट कीजिये।

७. नीतिशास्त्र का तत्त्व विज्ञान से क्या सम्बन्ध है ? नीतिशास्त्र की समस्याओं को हल करने के लिये तत्त्व-विज्ञान की कहाँ तक आवश्यकता है ?

८. धर्म मनुष्य को अनैतिकता की ओर ले जा रहा है—इस कथन में कहाँ तक सत्य है। धर्म का मानव जीवन के विकास में क्या स्थान है ?

. धर्म और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध क्या है ? "जब कोई व्यक्ति नैतिकता छोड़ देता है तो वह अधार्मिक हो जाता है"—इस कथन की सत्यता को स्पष्ट कीजिये।

१०. "यदि हम धर्म के सच्चे रूप पर विचार करें तो हम उसे मानव-समाज का महान कल्याणकर्ता पावेंगे।"—इस कथन की विवेचना कीजिये। धर्म का सच्चा रूप कौन-सा है?
११. नीतिशास्त्र राजनीति की एक शाखा है—यह विचार कहाँ तक युक्तसंगत है? नीतिशास्त्र और राजनीति के आपस के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिये।
१२. नीतिशास्त्र और समाजशास्त्र का सम्बन्ध क्या है। समाजशास्त्र के अध्ययन से कहाँ तक मनुष्य के नैतिक आदर्शोंपर प्रकाश पड़ता है।
१३. समाज की नीतिकता कहाँ तक शिक्षा पर निर्भर करती है? नीतिशास्त्र शिक्षा के कार्य में कहाँ तक उपयोगी है?

तीसरा प्रकरण

१. भूख और इच्छा में भेद क्या है? इच्छा का मनुष्य के नैतिक आचरण में क्या स्थान है?
२. इच्छाओं के द्वन्द्व का क्या अर्थ है? इससे मनुष्य का नैतिक विकास कैसे होता है?
३. इच्छित क्रिया के स्वरूप को उसका विश्लेषण करके स्पष्ट कीजिये। निश्चय के पूर्व अवस्था की मनोवैज्ञानिक महत्ता क्या है?
४. स्वतन्त्र इच्छा शक्ति का क्या अर्थ है? इसकी उपस्थिति प्रमाणित करने के लिये क्या युक्तियाँ दी जाती हैं?
५. नियतवाद और स्वतन्त्रतावाद का नीतिशास्त्र के विचारों में क्या महत्त्व है? यदि हम स्वतन्त्रतावाद को नहीं मानते तो नीतिशास्त्र का क्या रूप होगा?
६. चरित्र कैसे बनता है? इसके बनने में स्वतंत्र इच्छाशक्ति का क्या स्थान है?

७. "स्वच्छन्दता स्वतन्त्रता नहीं है"—इस कथन की सत्यता को स्पष्ट कीजिये। नीतिशास्त्र के लिये किस प्रकार की स्वतन्त्रता की आवश्यकता है।

८. नैतिक आचरण के लिये किस प्रकार की नियतता आवश्यक है। इस नियतता का भेद नैतिक नियतता से बताइये।

९. इच्छा हेतु और संकल्प में भेद क्या है ? उदाहरण देकर समझाइये ? मनुष्य के आचरण की नैतिकता को कौन-सा तत्व अधिक स्पष्ट करता है

१०. मनुष्य का आचरण उसके चरित्र और वातावरण का परिणाम है—इस कथन की समालोचना करके उचित सिद्धान्त का निरूपण कीजिये।

चौथा प्रकरण

१. मनोवैज्ञानिक सुखवाद क्या है ? अपने विचार के समर्थन के लिये बेन्थम महाशय ने कौन से प्रमाण दिये हैं ? उनकी युक्तियों की समालोचना कीजिये।

२. मिल महाशय ने अपनी पुस्तक 'यूटीलिटेरियनिज्म' में मनोविज्ञानि सुखवाद के समर्थन के लिये क्या प्रमाण दिये हैं ? इनकी समुचित समालोचना कीजिये ?

३. सुख और आत्मसंतोष में भेद क्या है ? विचारजन्य सुख की विशेषता बताइये।

४. मनुष्य के कार्य के हेतुओं की विशेषता क्या है ? मनुष्य दूसरे के सुख की वृद्धि के लिये किस कारण से प्रेरित होता है ?

५. सोक्रिटीज महाशय के इस कथन की समालोचना कीजिये कि ज्ञान ही सद्गुण है। क्या यह कहना सत्य है कि मनुष्य अपनी क्रियाओं में सदा अपने विवेक से ही प्रेरित होता है ? विचार का मनुष्य के कार्य के हेतुओं में क्या स्थान है ?

६. मार्टिनो महाशय के कार्यश्रोत की कल्पना के सिद्धान्त को स्पष्टतः समझाइये। क्या यह कहना सत्य है कि नैतिक आचरण उच्च कोटि के कार्यश्रोत का परिणाम है ?

पांचवा प्रकरण

१. नैतिक उत्तरदायित्व का आधार क्या है ? यदि हम ईश्वर को सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान मानें तो मनुष्य के नैतिक उत्तरदायित्व पर इस विचार का क्या प्रभाव पड़ता है ?

२. यदि हम मनुष्य के व्यक्तित्व का सामाजिक वातावरण का परिणाम मानें तो उसके नैतिक उत्तरदायित्व को कहाँ तक युक्ति संगत माना जा सकता है ?

३. मनुष्य के ऊपर अपने कार्यों का नैतिक उत्तरदायित्व किस स्थिति में नहीं होता ? उदाहरण देकर स्पष्टतः समझाइये।

छठा प्रकरण

१. नैतिक आचरण के विकास को स्पष्टतः समझाइये। नैतिक आचरण के विकास में नियम-पथप्रदर्शन की अवस्था का क्या स्थान है।

२. आचरण और विचार का क्या सम्बन्ध है ? क्या यह कहना सच है कि मनुष्य के विचार के विकास के साथ साथ आचरण का भी विकास होता है ?

३. नैतिक विचार और नैतिकता के विचार में क्या भेद है ? मनुष्य में नैतिकता के विचार कब आते हैं ?

४ नैतिक विचार के विकास के लक्षण क्या हैं ? उसकी प्रगति किस प्रकार होती है।

सातवां प्रकरण

१. नैतिक विचार का विषय क्या है ? क्या नैतिक विचार में मनुष्य के संकल्प को प्रधान स्थान दिया जाना चाहिये ?

२. ब्रूटस ने जूलियस सीज़र की रोम को स्वतन्त्र बनाने के लिये हत्या की—सीज़र के उक्त आचरण की नैतिक मीमांसा कीजिये। क्या हम मनुष्य के किसी कार्य को उसके हेतु के भला होने के कारण भला कह सकते हैं?

३. नैतिक विचार के विषय में सुखवादी और आदर्शवादी सिद्धान्तों के भेद को स्पष्टतः समझाइये। मनुष्य के संकल्प का उसके कार्य की नैतिकता निश्चित करने में क्या स्थान है?

४. साधन की पवित्रता का कार्य की नैतिकता को निश्चित करने में क्या स्थान है? क्या यह कहना सत्य है कि यदि हमारा लक्ष्य ठीक है तो उसकी प्राप्ति के लिये जो भी साधन काम में लाये जाँय वे उचित ही समझे जायँगे।

आठवाँ प्रकरण

१. मनुष्य के कार्यों की नैतिकता के विभिन्न मापदण्डों का वर्गीकरण कीजिये। इनका विकास किस प्रकार हुआ?

२. बाह्य नियमवाद को कहाँ तक नैतिकता का उचित मापदण्ड माना जा सकता है? अन्तर्नियमवाद की इससे तुलना कीजिये।

३. अन्तः अनुभूतिवाद का सिद्धान्त क्या है? इस मत के मुख्य दोष क्या हैं?

४. अन्तः अनुभूतिवाद और लक्ष्यवाद की तुलनात्मक विवेचना कीजिये। लक्ष्यवाद का विकास किस मानसिक स्तर पर होता है?

नवाँ प्रकरण

१. अन्तः अनुभूतिवाद के स्वरूप को विस्तारपूर्वक समझाइये। आप के अनुसार अन्तर्ध्वनि क्या वस्तु है और मनुष्य को कहाँ तक अपनी अन्तर्ध्वनि के अनुसार चलना उचित है।

२. अन्तः अनुभूतिवाद के विभिन्न प्रकार क्या हैं? नैतिक प्रज्ञावाद के मत को स्पष्ट करके उसकी आलोचना कीजिये।

३. नैतिक आचरण सुन्दर आचरण है—इस सिद्धान्त की समालोचना कीजिये।
४. विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद क्या है? बाल्स्टेन महाशय के मत को स्पष्ट कीजिये।
५. धार्मिक अन्तःअनुभूतिवाद और विवेकात्मक अन्तःअनुभूतिवाद की तुलना कीजिये।
६. "स्वीकारशक्ति" का नैतिक निर्णय में क्या स्थान है? इसकी उपस्थिति के लिये क्या प्रमाण दिया जा सकता है?

दसवाँ प्रकरण

१. "अनिवार्य आज्ञा" देनेवाली शक्ति के स्वरूप को भली प्रकार से समझाइये। इसकी विवेकशीलता पर प्रकाश डालिये। कान्ट महाशय का इस विषय में क्या मत है?
२. "जब हम किसी व्यक्ति के आचरण की नैतिकता पर विचार करें तो हमें उसके किसी काम के फल को न देखकर उसके हेतु की ओर देखना चाहिये" इस मत को स्पष्टकर समालोचना कीजिये।
३. कान्ट महाशय के कथनानुसार नैतिकता का ध्येय क्या है? इस विषय में उसके विचारों की आलोचना कीजिये।
४. कान्ट महाशय का बतलाया हुआ नैतिक नियम क्या है? इस नियम को हम कैसे प्राप्त करते हैं? इसकी अनिवार्यता कहाँ तक ठीक है?
५. कान्ट महाशय के नैतिक नियम की विशेषता को स्पष्ट समझाइये।
६. "कान्ट महाशय का नैतिक नियम बड़ा कठोर है—" इस आलोचना को स्पष्ट कीजिये। नैतिक नियम का कठोर होना कहाँ तक मनुष्य के नैतिक विकास के लिये उचित है?
७. कान्ट के नैतिक सिद्धान्त में तपवाद की प्रधानता है—यह कहने का क्या अर्थ है? क्या तपस्या से मनुष्य की नैतिकता की वृद्धि होती है?

८. कान्ट महाशय ने अपने नैतिक विचारों के द्वारा मानव-जाति की क्या सेवा की है ? उसने मनोवैज्ञानिक सुखवाद की प्रवृत्तियों को कहाँ तक रोका है ।

ग्यारवाँ प्रकरण

१. नैतिक सुखवाद क्या है ? इसका मनोवैज्ञानिक सुखवाद के भेद समझाइये ।
२. स्वार्थ सुखवाद और परार्थ सुखवाद में क्या भेद है ? इस प्रसंग में ईपीक्यूरस महाशय के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए उसे स्पष्ट कीजिये ।
३. परार्थ सुखवाद का मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ? बेन्थम महाशय के विचारों को स्पष्ट कीजिये और उनके विचारों की मिल के विचारों से तुलना कीजिये ।
४. "सुखवाद मनुष्य को सुखी न बनाकर दुःखी ही बनायेगा"—यह कहना कहाँ तक सत्य है ? इस विषय में ग्रीन महाशय की युक्तियों को स्पष्ट कीजिये ।
५. मनोवैज्ञानिक सुखवाद कहाँ तक नैतिक सुखवाद का आधार बन सकता है ? क्या यह कहना ठीक है कि यदि मनोवैज्ञानिक सुखवाद सत्य है तो नैतिक सुखवाद अवश्य ही झूठ होना चाहिये ।
६. सिजविक महाशय के सुखवाद की विशेषता क्या है ? मनुष्य का व्यावहारिक विवेक कहाँ तक उसके कर्त्तव्य के निर्णय में काम करता है ?

बारहवाँ प्रकरण

१. प्रकृतिवाद के सिद्धान्त के मुख्य प्रवर्तक कौन हैं ? प्रकृतिवाद की विभिन्न प्रकार की विचारधाराओं के भेद को समझाइये ।
२. जड़वादी प्रकृतिवाद के आधार को स्पष्टता समझाइये । क्या मनुष्य की नैतिकता का आधार प्राणियों के प्राकृतिक व्यवहार

बन सकते हैं ? इस आदर्श प्राकृतिक आचरण को कहाँ तक नैतिक आचरण कह सकते हैं ?

३. स्पेन्सर महाशय के नैतिक विचारों में कहाँ तक सुखवाद और प्रकृतिवाद का समन्वय पाया जाता है ? स्पेन्सर महाशय ने प्रकृतिवाद का समर्थन किन युक्तियों से किया है ?

४. स्पेन्सर महाशय के विचारानुसार सम्पूर्ण जीवन का माप क्या है ? इसकी आलोचना कीजिये।

५. प्रकृतिवाद में मनुष्य के चरित्र के विकास के लिये कोई स्थान नहीं पाया जाता—यह कहना कहाँ तक सत्य है ! चरित्र के निर्माण के लिये किन तत्त्वों की आवश्यकता होती है ?

६. प्रकृतिवाद में अवसरवादिता को प्रधानता दी जाती है—यह कहना कहाँ तक सत्य है ? अवसरवादिता के मत के प्रचार का नैतिक परिणाम क्या हो सकता है ?

७. शक्ति ही नीति है—इस सिद्धान्त की समालोचना कीजिये।

८. निट्शे महाशय के प्रकृतिवाद की स्पेन्सर के प्रकृतिवाद से तुलना कीजिये समाज में निट्शे के विचारों के प्रचार से क्या परिणाम हो सकता है ?

तेरहवाँ प्रकरण

१. प्रकृतिवाद और आदर्शवाद के नैतिक सिद्धान्तों की तुलना कीजिये। आदर्शवाद के मुख्य तत्त्व क्या हैं ?

२. प्लेटो महाशय के आदर्शवाद को स्पष्टतः समझाइये। उनके अनुसार भलाई का स्वरूप क्या है ?

३. प्लेटो महाशय के अनुसार सद्गुण का आधार क्या है ? क्या मनुष्य में स्वभावतः ही सद्गुणों की ओर प्रवृत्ति होती है ?

४. प्लेटो महाशय ने मनुष्य के मुख्य सद्गुण कौन कौन बताये हैं इनकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

२. विभिन्न प्रकार की नैतिक सत्ताओं की मनुष्य को नैतिक बनाने में उपयोगिता को स्पष्ट कीजिये।
३. नैतिक आचरण के प्रेरक कौन कौन हैं? इस विषय में बैन्थम महाशय के विचारों की आलोचना करते हुए उन्हें स्पष्ट कीजिये।
४. अन्तरात्मा की सत्ता और विवेक की सत्ता की तुलनात्मक विवेचना कीजिये। नैतिक आदर्श की उपस्थिति ही नैतिकता की सर्वोच्च सत्ता है—इस सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिये।

उन्नीसवाँ प्रकरण

१. नीतिशास्त्र के अनुसार मनुष्य के सद्गुण क्या हैं? इस प्रसंग में यूनानी विचारधारा को स्पष्ट कीजिये।
२. सद्गुण में देश-काल का क्या स्थान है? क्या सद्गुणों में व्यक्तिगत भेद होना सम्भव है?
३. स्वार्थ सद्गुण और परार्थ सद्गुण के भेद को स्पष्ट कीजिये। मनुष्य के प्रधान सद्गुण यूनानी और ईसाई मत के अनुसार कौन से हैं? आधुनिक काल में उक्त विचार धाराओं में क्या विकास हुआ है?
४. जिस मनुष्य में एक सद्गुण है उसमें सभी सद्गुण हैं—इस विचार की मौलिकता को स्पष्ट कीजिये और यह बताइये कि सद्गुणों में कहाँ तक एकता है।
५. चरित्र निर्माण के साधन कौन-कौन से हैं? चरित्र-निर्माण में उदाहरण का क्या महत्त्व है?
६. चरित्र निर्माण में तप और त्याग का क्या स्थान है? क्या हम त्यागी मनुष्य को चरित्रवान व्यक्ति कह सकते हैं?
८. मनुष्य आत्म-संयम की प्राप्ति कैसे कर सकता है? इस सम्बन्ध में टालसटाय महाशय के विचारों को स्पष्ट करके उनकी मौलिकता दर्शाइये।

बीसवाँ प्रकरण

१. मनुष्य के नैतिक विकास का अर्थ क्या है ? यह नैतिक विका कैसे होता है ?
२. मनुष्य के नैतिक विकास में सामान्य और विशेष घटना का क स्थान है ? क्या मनुष्य के नैतिक विकास को वातावरण क परिणाम कहा जा सकता है ?

मनुष्य के नैतिक विकास में आत्म-परीक्षा और एकान्त सेवन की उपयोगिता को स्पष्ट कीजिये।

"लिपेपुते खाली घर में भूत का निवास होता है, सब प्रकार से भरे-पूरे घर में भूत (शैतान) नहीं आता" इस कथन का क्या अर्थ है ? यह कथन हमें कहाँ तक अपने नैतिक विकास के लिये उचित मार्ग दर्शाता है ?

आदर्शजीवन में चिन्तनशीलता और क्रियाशीलता का क्या स्थान ? क्या दार्शनिक जीवन को हम आदर्श जीवन मान सकते हैं ? "क्रिया और विचार नैतिक जीवन के व्यायाम और संगीत हैं—" स विचार की मौलिकता दर्शाइये। आदर्श जीवन में व्यक्ति का मा न से कैसा सम्बन्ध रहता है ?

इक्कीसवाँ प्रकरण

तिक रोग क्या है ? इनके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न समाज में क्या चार रहते हैं ?

नुष्य के चरित्र के दोष कौन से हैं ? उनके प्रधान कारण न-कौन-से हैं ?

नुष्य के चरित्र के दोषों का निवारण किस प्रकार होता है ? में समाज क्या कार्य करता है ?

ड की नैतिक उपयोगिता के विषय में कौन कौन से प्रधान हैं ? किसी व्यक्ति को दण्ड उसके नैतिक सुधार के लिये

दिया जाना चाहिये न कि समाज-व्यवस्था को कायम रखने के लिये—इस विचार की आलोचना कीजिये ।

५. दण्ड के विषय में हीगेल महाशय का मत क्या है ? इस मत का क्या दुरुपयोग हो सकता है ?

६. आधुनिक काल में अपराधी के सुधार के लिये कौनसा सर्वोत्तम उपाय बताया गया है ? यदि सभी लोगों को उनके अपराधों के लिये क्षमा कर दी जाय तो इसका परिणाम क्या होगा ?

७. समझदार के लिये क्षमा ही दण्ड है इस कथन का अर्थ क्या है ? समझदार के लिये क्षमा दण्ड क्यों हो जाता है ?

८. पश्चात्ताप और आत्मभर्त्सना की मनुष्य के नैतिक विकास में उपयोगिता को दर्शाइये । अपनी भूल के लिये सदा आत्मभर्त्सना करते रहना क्यों बुरा है ?

९. मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी किस स्थिति में होती है ? क्या अज्ञान के कारण किसी व्यक्ति को उसको नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त किया जा सकता है ?

१०. पागलों को अपने काम के लिए क्यों जिम्मेदार नहीं माना जाता ? और कौन सी परिस्थितियाँ हैं जिनमें मनुष्य को अपने कार्य की नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त किया जा सकता है ?

बाइसवाँ प्रकरण

१. "जैसे जैसे सभ्यता का विकास होता है नैतिकता का ह्रास होता है"—रूसो महाशय के इस कथन की समालोचना कीजिये ।

२. वर्तमान समय कलियुग का समय है इस विचार का नैतिक मूल्य आँकिये ।

३. नैतिक विकास का लक्ष्य क्या है ? मनुष्य को कब तक नैतिक प्रयत्न करते रहना आवश्यक होता है ?

४. संसार के आदर्शवादी दार्शनिकों ने मानव जीवन की पूर्णता की क्या कल्पना की है । इसमें नैतिक आचरण का क्या स्थान है ?